उपन्यासकार प्रेमचन्द

[मुंशी प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का विशद विवेचन]

सम्पादक

डॉ० सुरेशचन्द गुप्त एम० ए०

रमेशचन्द गुप्त एम० ए०

प्रकाशक

उपन्यासकार प्रेमचन्द

उपन्यासकार प्रेमचन्द

[मुंशी प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का विशद विवेचन]

सम्पादक
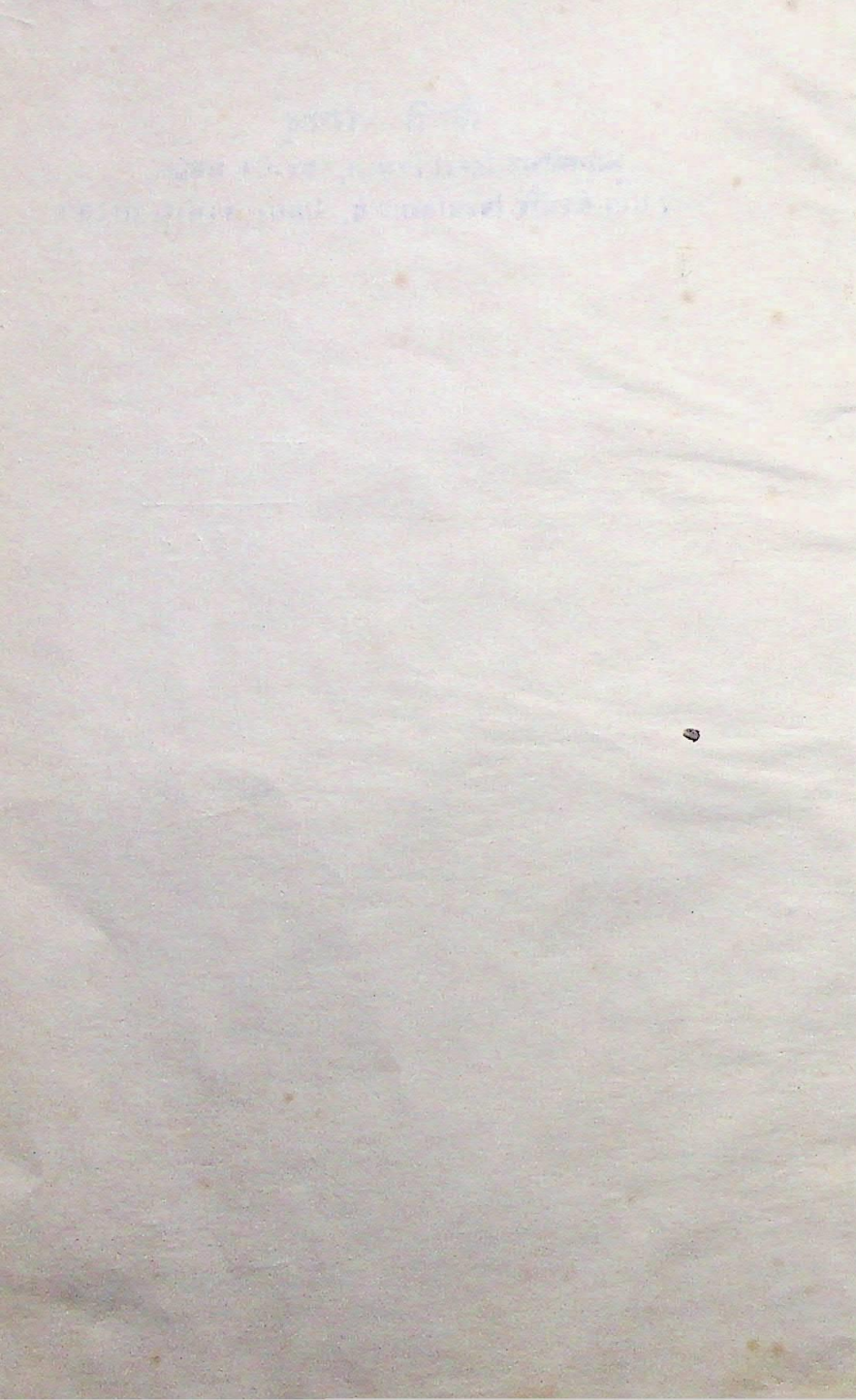
डा० सुरेशचन्द गुप्त, एम० ए० पी-एच० डी०

रमेशचन्द गुप्त, एम० ए० प्री० पी-एच० डी०

प्रकाशक

भूमिका

हिन्दी उपन्यासकारों में मुंशी प्रेमचन्द सबकी दृष्टि को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित कर लेने वाले प्रकाश-स्तम्भ के रूप में हमारे सामने आते हैं। अपने चारों ओर के समाज में से विभिन्न कथानकों का चयन करके उन्होंने जिन उपन्यासों की रचना की है वे युग-युग तक हिन्दी साहित्य की अमर निधि रहेंगे। उनका महत्त्व उपन्यासों के कथानक को तिलस्मी और ऐय्यारी के वातावरण से निकाल कर उसे सामाजिक मोड़ देने तक ही सीमित नहीं है, वरन् एक सशक्त गद्य-शैली के निर्माण में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वस्तुतः यह हिन्दी का सौभाग्य है कि इसे अपना साहित्यिक जीवन उर्दू से प्रारम्भ करने वाले मुंशी प्रेमचन्द जैसे लोकप्रिय लेखक की गतिशील एवं प्रभावपूर्ण लेखनी का बल मिला जिससे उर्दू वातावरण में भी पाठकों ने हिन्दी की कृतियाँ पढ़ने में रुचि ली।

प्रेमचन्द जी के प्रायः सभी उपन्यास विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित हैं। अतः जनसामान्य द्वारा पढ़े जाने के अतिरिक्त उच्च कक्षाओं के छात्रों द्वारा भी उनका अनुशीलन किया जाता है। इयन्ता की दृष्टि से आलोचकों ने उनके गुण-दोषों का विवेचन स्वतन्त्र पुस्तकों अथवा स्फुट निबन्धों के रूप में पर्याप्त मात्रामें किया है। फिर भी एक ऐसे ग्रन्थ का अभाव अवश्य था जिसमें प्रेमचन्द के उपन्यासों की विषय वस्तु के सभी पक्षों तथा उनके शिल्प-सौंदर्य का सन्तुलित एवं निष्पक्ष रूप में मूल्यांकन किया गया हो। 'उपन्यासकार प्रेमचन्द' इसी दिशा में किया गया प्रयास है। इसमें चौबीस निबन्धों के अन्तर्गत प्रेमचन्द जी की उपन्यास-कला की सभी प्रमुख विशेषताओं का विवेचन तथा उनके कुछ प्रमुख उपन्यासों की स्वतन्त्र समीक्षा की गई है। इसके सभी समीक्षक हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् और प्रेमचन्द-साहित्य के मर्मज्ञ हैं। उनके अमूल्य सहयोग से यह ग्रन्थ निश्चय ही उपादेय बन गया है।

—सम्पादक

गणतन्त्र दिवस, १९६६

प्रमुख साहित्यिक प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	मूल्य
१. मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी	डॉ० रामसागर त्रिपाठी	१५.००
२. हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास	डॉ० सुरेश सिनहा	२०.००
३. जायसी का पद्मावत : काव्य और दर्शन	डॉ० त्रिगुणायत	१५.००
४. आधुनिक हिन्दी काव्य में वात्सल्य रस	डॉ० श्रीनिवास शर्मा	१२.५०
५. हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना	डॉ० सुरेश सिनहा	१२.५०
६. बंगला पर हिन्दी का प्रभाव	डॉ० ब्रह्मानन्द	१५.००
७. जायसी की बिम्ब योजना	डॉ० सुधा सक्सेना	१५.००
८. प्रेमचन्द के साहित्य सिद्धान्त	प्रो० नरेन्द्र कोहली	१०.००
९. कामायनी की भाषा	रमेशचन्द्र गुप्त	७.५०
१०. कबीर ग्रंथावली सटीक	प्रो० पुष्पपालसिंह एम० ए०	१०.००
११. जायसी ग्रंथावली सटीक	डॉ० श्रीनिवास शर्मा	८.००
१२. रामचन्द्रिका सटीक	प्रो० देशराजसिंह भाटी	७.००
१३. विद्यापति पदावली सटीक	प्रो० कृष्ण देव शर्मा	५.००
१४. बिहारी सतसई सटीक	प्रो० विराज एम० ए०	४.००
१५. मीराबाई पदावली सटीक	प्रो० देशराजसिंह भाटी एम० ए०	५.००
१६. बृहत साहित्यिक निबन्ध :	डॉ० त्रिपाठी एवं गुप्त	१५.००
१७. अशोक निबन्धसागर :	प्रो० विजयकुमार एम० ए०	५.००
१८. साहित्यिक निबन्ध	डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त	८.००
१९. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ	प्रो० शिवकुमार एम० ए०	८.००
२०. हिन्दी साहित्य : समस्याएँ और समाधान	डॉ० गणपतिचन्द्र	५.००
२१. पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त	डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त	१०.००
२२. हिन्दी भाषा का इतिहास	प्रो० रमेश मिश्र 'अज्ञात'	३.५०
२३. साकेत की टीका	प्रो० ब्रजभूषण शर्मा	५.००
२४. प्रियप्रवास की टीका	प्रो० लक्ष्मणदत्त गौतम	५.००
२५. दिनकर और उनका क्षेत्र	देशराजसिंह भाटी एम० ए०	३.५०
२६. सूरदास और उनका भ्रमरगीत	डॉ० श्रीनिवास शर्मा	७.००

अनुक्रमणिका

(इ) प्रमुख कृतियाँ

: १ :

प्रेमचन्द : एक संस्मरण

डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन'

आधुनिक गद्य में 'सेवासदन' और पद्य में 'भारत-भारती' में कुछ ऐसी विशेषता थी कि प्रकाशित होते ही ये पुस्तकें प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के पास पहुँच गईं। 'सेवासदन' को पहली बार पढ़ने का अवसर मुझे तब मिला था, जब मैं अंग्रेजी की सातवीं कक्षा में पढ़ता था। पुस्तक मुझे अपने किसी पड़ौसी से मिली थी। रोचक इतनी थी कि जब तक वह समाप्त न हो गई, मैं और कोई काम न कर सका। शायद उसे समाप्त करने में मुझे तीन दिन लगे थे। अपने समय को तीन दिन तक नष्ट करने के लिए मुझे घर पर पढ़ाने वाले पंडित जी की डाँट-फटकार भी सहनी पड़ी थी। उसके कई स्थान मैंने बार-बार पढ़े थे। अपने कई मित्रों से मैंने उसकी बड़ाई की थी और उसे पढ़ने का अनुरोध किया था। 'प्रेमचन्द' नाम से वह मेरा प्रथम परिचय था और उस प्रथम परिचय से ही मैं प्रेमचन्द का प्रेमी बन गया। जब पुस्तकालयों में जाता तो उनकी लिखी हुई किताबों की खोज करता और निराश होता। उस समय भारती-भवन का पुस्तकालय ही प्रयाग में हिन्दी पुस्तकों के लिए सबसे बड़ा समझा जाता था और वहाँ प्रेमचन्द जी की रचनाएँ न थीं। 'अप-टू-डेट' तो हमारे पुस्तकालय आज भी नहीं हैं, पन्द्रह वर्ष पहले की तो बात ही और थी। पत्रिकाओं में मैं उनकी कहानियाँ पढ़ता और उसी से संतोष करता।

हमारी कुछ ऐसी प्रकृति होती है कि जब हम किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम सुनते हैं, उसकी रचनाएँ देखते हैं, या उसके कार्य के विषय में सुनते हैं तो उसके रूप की कल्पना करना आरम्भ कर देते हैं। शायद हमारी इसी आकांक्षा की पूर्ति करने के लिए आधुनिक समय के पत्रकार शीघ्रातिशीघ्र उस व्यक्ति का चित्र भी जनता के सामने उपस्थित कर देते हैं, जो अपने किसी कार्य के कारण प्रसिद्ध हो जाता है। प्रेमचन्द जी कैसे होंगे, इसकी कल्पना करनी मैंने आरम्भ कर दी थी। प्रेमचन्द—गोरे होंगे, दुबले-पतले होंगे और सुन्दर होंगे। नाम में आया प्रत्येक अक्षर जैसे मेरी कल्पना को कुछ-कुछ संकेत-सा दे रहा था। प्रेमचन्द जी का चित्र कुछ विलंब से ही जनता के सामने आया और उनका पहला चित्र जो मैंने देखा,

वह था 'रंगभूमि' के प्रथम भाग में। चित्र देखकर मुझे कुछ निराशा हुई। फिर आश्चर्य हुआ। अरे, ऐसे साधारण-से दिखाई देने वाले आदमी ने यह असाधारण पुस्तक लिखी है।

प्रेमचन्द जी को साक्षात् देखने का अवसर मुझे १९३० में मिला। उस समय मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० (प्रीवियस) में पढ़ रहा था। उसी वर्ष पहले-पहल विश्वविद्यालय की हिन्दी-परिषद् ने विद्यार्थियों में गल्प लिखने की रुचि उत्पन्न करने के लिए गल्प-सम्मेलन करना निश्चित किया था। प्रतियोगिता में केवल विश्वविद्यालय के विद्यार्थी ही भाग ले सकते थे। सूचना दी गई थी कि सम्मेलन के सभापति श्री प्रेमचन्द जी होंगे। इस प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए ही मैंने अपनी पहली कहानी लिखी।

निश्चित समय से पहले ही हॉल विद्यार्थियों से भर गया था। मेरे ही समान अनेक विद्यार्थियों में श्री प्रेमचन्द जी को देखने की उत्सुकता थी। उस समय तक वे उपन्यास-सम्राट् के नाम से विख्यात हो चुके थे। उनके साथ छत्र-चँवर की प्रत्याशा तो शायद ही किसी ने की हो, पर ऐसा तो प्रायः सभी ने सोच रक्खा था कि उनकी सूरत-शक्ल-पोशाक में कुछ ऐसी विशेषता होगी कि लोग उन्हें देखते ही पहचान लेंगे। विद्यार्थियों के अतिरिक्त नगर के अन्य साहित्य-प्रेमी भी निमंत्रित किये गए थे। आगंतुकों में हमारी दृष्टि किसी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व की खोज कर रही थी कि श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा ने ताली बजाई और उनके संकेत पर सारा हॉल तालियों से गड़गड़ा उठा। प्रेमचन्द जी आ गए थे। सभापति के लिए प्रस्ताव हो जाने पर वे मेज़ के सामने बीच की कुर्सी पर आकर बैठ गए। मेरे कानों में कई बार धीमे-धीमे स्वर में आवाज़ आई—'अरे, यही प्रेमचन्द जी हैं! अरे, यही प्रेमचन्द जी हैं!'

प्रेमचन्द जी धोती के ऊपर खुले कालर का गरम कोट पहने थे। जाड़े के दिन थे। नीचे बास्कट भी थी। सिर खुला था। उन्हें देखकर मुझे मालूम हुआ कि जो चित्र मैंने उनका देख रक्खा था, उसकी अपेक्षा वे मेरी प्रथम कल्पना के अधिक समीप थे। उस समय वे घनी-लम्बी मूँछे रक्खे हुए थे।

गल्पें पढ़ी गईं। मुझे प्रथम पुरस्कार मिला था; पर प्रेमचन्द जी को द्वितीय पुरस्कार-विजेता की कहानी अधिक पसंद आई थी। सम्मेलन के पश्चात् मेरा परिचय उनसे कराया गया। कहानी पढ़ने की मेरी रीति को उन्होंने बहुत पसंद किया था। साथ ही सुनाई जाने वाली कहानी को सफल बनाने के कई गुर भी उन्होंने मुझे बताए थे। जब मैंने उन्हें बतलाया कि यह मेरी पहली ही कहानी थी तो उन्हें आश्चर्य हुआ और उन्होंने मुझे बराबर लिखते रहने की सलाह दी। हम लोगों ने उन्हें बड़ी देर तक घेर रक्खा, तरह-तरह के प्रश्न किए और सभी का उन्होंने उत्तर दिया। उनकी बातचीत में उर्दू के शब्द बहुत आते थे और सुनकर हमें आश्चर्य होता था कि ये हिन्दी लिखते कैसे होंगे? प्रेमचन्द जी चले गए और

उनकी सादगी, उनकी सरलता, उनकी मिलनसारी सदा के लिए हमारे हृदय में स्थान बना गई। उनके चले जाने पर भी हमारे मन में यही प्रश्न उठता रहा, क्या हमने सचमुच प्रेमचन्द को देखा ?

कुछ अपनी सफलता, कुछ प्रेमचन्द जी का प्रोत्साहन, कुछ बेकारी—सबने मुझे साल-भर कहानी लिखने में सहायता दी। दूसरे वर्ष फिर गल्प-सम्मेलन हुआ। मुझसे भी कहानी माँगी गई थी, यद्यपि अब मैं विश्वविद्यालय का छात्र न था। मेरी कहानी उस बार भी सर्वोत्तम रही और परिषद् वालों ने उसे प्रेमचन्द जी के पत्र 'हंस' में भेज दिया। कहानी प्रेमचन्द जी को पसंद आई और उसे उन्होंने अपने विशेषांक में स्थान दिया। मेरे पास उन्होंने पत्र लिखा, तुमने वर्ष भर में काफी उन्नति की है, 'हंस' के लिए कुछ भेजते रहा करो। मैंने शीघ्र ही दूसरी कहानी भी भेजी। कहानी पहली-सी अच्छी न थी। प्रेमचन्द जी ने मुझे अंग्रेजी में पत्र लिखा। कहानी के विषय में लिखा था "I hope, you won't mind if I take the liberty of making certain changes in your story." अर्थात् मैं आशा करता हूँ, यदि मैं तुम्हारी कहानी में कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन करने की स्वतंत्रता ले लूँ तो तुम बुरा न मानोगे।

हिन्दी का अदना-से-अदना संपादक यह अधिकार लिये बैठा है कि जिस लेख को जैसा चाहे घटाए-बढ़ाए, तोड़े-मरोड़े, और वह अपने इस अधिकार का इच्छानुसार उचित-अनुचित उपयोग किया करता है। कहानी-प्रधान पत्र के लिए प्रेमचन्द जी से अधिक अधिकारी संपादक कौन हो सकता था ? मुझसे अधिक नगण्य लेखक भी कौन हो सकता था ? फिर भी कहानी में परिवर्तन करने की उन्होंने मेरी अनुमति चाही। प्रेमचन्द जी के स्वभाव में बड़ी विनम्रता थी। अपने बड़प्पन का उन्हें कभी भी ध्यान न होता था। वे कितने बड़े हैं, इसे वे न जानते थे और मेरी समझ में तो उनका यह न जानना कुछ दोष की सीमा तक पहुँच गया था। पिछले दिनों जब कुछ नासमझ लोगों ने उनके ऊपर आक्षेप करना आरंभ किया तो उन्हें चाहिए था कि हाथी के समान गंभीर गति से वे चले जाते और कुत्तों को भूँकने देते। प्रेमचन्द जी हाथी तो थे, पर यह न जानते थे कि मैं हाथी हूँ, और इसी कारण वे कभी-कभी अपने क्षुद्र विरोधियों से उलझ पड़ते थे। हाथी का अपने को हाथी जानना खतरनाक है; ज्यादा खतरनाक है गीदड़ का अपने को हाथी मानना।

मेरी कहानी जब 'हंस' में छपी तो मुझे मालूम हुआ कि प्रेमचन्द जी को कहीं-कहीं नहीं, सभी जगह अपनी लेखनी चलानी पड़ी थी। मैं बहुत लज्जित हुआ। आगे जब उनसे मिलने का अवसर मिला तो उसकी भी बात चली। कहने लगे, "हिन्दी के सम्पादक 'पकी' हुई चीजें कम ही पाते हैं। दस कहानियों में शायद एक कहानी ऐसी आती हो जिसे ठीक करने में मिहनत न करनी पड़ती हो।"

इस बीच में मेरी कविताओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' के नाम से निकल चुका था। 'हंस' में उसकी समालोचना भी निकल चुकी थी, पर प्रेमचन्द जी को इसका पता न था कि उसका लेखक मैं ही हूँ। 'तेरा हार' 'बच्चन' के नाम से निकला था और वे मुझे अब तक 'हरिवंश राय' के नाम से ही जानते थे। उन्हें जब यह मालूम हुआ तो बहुत प्रसन्न हुए, पर उन्होंने मुझे साहित्य के लिए एक ही नाम रखने की सलाह दी। कहने लगे, 'अगर आज मैं दूसरे नाम से लिखने लगूँ तो मुझे भी अपना स्थान बनाने में मुश्किल हो।' इस वार्तालाप के सिलसिले में प्रेमचन्द जी ने कुछ ऐसी बातें बतलाईं, जिनका प्रभाव मेरे जीवन पर बहुत पड़ा। बोले, "कहानी और कविता की मनोवृत्ति में भारी अंतर है। रविबाबू जैसे प्रतिभा वालों की बात और है। सफल कहानी-लेखक और सफल कवि दोनों होना कठिन है। कम-से-कम आरंभ में अपनी मनोवृत्ति जिस ओर अधिक हो, उसी ओर प्रयत्नशील होना चाहिए।" उन्होंने साफ़-साफ़ तो न कहा था, पर उनका तात्पर्य यह था कि मैं कहानी में संभवत: अधिक सफल हो सकता हूँ, पर मेरी रुचि कविता की ओर अधिक बढ़ी। जीवन की अनिवार्य प्रगति ही कुछ ऐसी थी।

मेरे छोटे भाई की बदली प्रयाग से काशी को हो गई थी। मैं भी उन दिनों अंग्रेजी दैनिक 'पायोनियर' के टूरिंग रिप्रज़ेंटेटिव के पद पर कार्य करता था। मेरा बनारस आना-जाना बराबर रहता था। जब-जब मैं बनारस जाता था, उनके दर्शनों के लिए अवश्य जाता था और जब उनके पास से लौटता था, तब कुछ सीखकर, कुछ सबक़ लेकर। उन दिनों प्रेमचन्द जी बेनिया पार्क के पास वाले मकान में रहते थे और प्रतिदिन प्रसाद जी के साथ पार्क में लगभग एक घण्टा टहला करते थे। जितने दिन मैं बनारस रहता, मैं भी टहलने के समय पार्क में पहुँच जाता और दोनों साहित्यिक महारथियों के पीछे-पीछे चलता। कभी-कभी श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब' भी आ जाते थे। प्रसाद जी कम बोलते, पर प्रेमचन्द जी अनेकानेक मनोरंजक बातें करते हँसते-हँसाते रहते थे। मैं जब पहले दिन गया तो मैंने यह सोचा कि जब प्रसाद जी और प्रेमचन्द जी चलते होंगे तो कैसा साहित्यिक वार्तालाप होता होगा। पर उनकी बातचीत में साहित्यिक चर्चा का अंश सबसे कम होता था। वे जीवन के साधारण-से-साधारण विषयों पर कैसी जानकारी से बातें करते थे, कैसी रुचि से! मैं तो कुछ देर के लिए उनके लेखक-स्वरूप को भूल ही जाता था। इसे मैंने उनकी महानता का चिह्न समझा। छोटे लेखक सदा अपनी रचित पुस्तकों के पन्नों से ढके हुए दिखाई पड़ते हैं, महान् लेखक अपनी रचनाओं से अधिक महान् होते हैं, वे उनसे ढके नहीं जा सकते, ढके रहना पसंद नहीं करते।

एक बार की बात है। मैं बनारस गया हुआ था। मेरे मन में इच्छा हुई कि जिस समय प्रेमचन्द जी और प्रसाद जी बेनिया पार्क में घूम रहे हों, उस समय उनका एक चित्र ले लिया जाय। मैंने अपना प्रस्ताव उनके सामने रक्खा और अनुमति मिल गई। दूसरे दिन फ़ोटोग्राफर नियत समय पर पार्क में पहुँच गया था।

फ़ोटोग्राफर को देखकर प्रेमचन्द जी कुछ नाराज़-से हुए। बोले—"भाई, यह क्या ? मैंने समझा था कि तुम्हारे पास कैमरा होगा और तुम 'स्नैप' ले लोगे। यहाँ कोई हाल पूछने वाला नहीं और तुम पाँच रुपये खर्च करके तस्वीर खिचाओगे। अभी नये-नये यूनिवर्सिटी से निकले हो। भावुकता भरी है। पैसों का मूल्य नहीं समझते। मैं ऐसा जानता तो कभी तस्वीर खिचाने को तैयार न होता।"

मैं कुछ लज्जित हुआ, पर उससे अधिक दुखी। यदि प्रेमचन्द जी ऐसे व्यक्ति किसी अन्य देश में होते तो अब तक क्या उन्हें यही कहना पड़ता कि कोई पुर्सा हाल नहीं ?

खैर, फ़ोटोग्राफ़र आ ही गया था। उनका चित्र लिया गया। इस समय भी वह चित्र मेरी आँखों में है। प्रेमचन्द जी नंगे सिर, खद्दर का कुर्ता पहने खड़े हैं। उनके चेहरे पर पड़ी हुई प्रत्येक पंक्ति संघर्षमय जीवन का इतिहास-सा बता रही है। उनकी आँखों की चमक में उनका उच्चादर्श झलक रहा है। उनके चेहरे की मुस्कराहट में उनका भोलापन फूटा पड़ता है। नम्रता, सरलता और निरभिमान उनके रूप में रसा-बसा-सा प्रतीत होता है। प्रेमचन्द जैसे रोज़ घूमने आते थे, आ गए थे—बाल बे-कढ़े, दाढ़ी बे-बनी, कुर्त्ते में जहाँ-तहाँ शिकन पड़ी। प्रसाद जी फ़ोटो खिचाने की तैयारी से आए थे—बाल जमे-कढ़े, दाढ़ी बनी, कुर्त्ता रेशमी।[1]

जब मेरी 'मधुशाला' प्रकाशित हुई तो मैंने उन्हें एक प्रति भेजी। इसके पूर्व भी वे 'मधुशाला' मुझसे सुन चुके थे। 'हंस' में उन्होंने स्वयं इसकी समालोचना लिखी। दक्षिण भारत में सभापति के पद से भाषण देते हुए भी वे इस लघु कृति को न भुला सके। चारों ओर के विरोध के बीच में उनके कुछ शब्दों से मुझे जो बल प्राप्त हुआ, उसे मैं ही जानता हूँ।

अंतिम बार उनके दर्शन मुझे आगरा में हुए थे। वे वहाँ की विद्यार्थी-सभा के वार्षिक अधिवेशन में सभापति होकर गए थे। मुझे भी बुलाया गया था। कवि-सम्मेलन में वे पधारे थे। मैं उनके बगल में ही बैठा था। मेरे लिए पानी आया। मैंने पूछा—"बाबू जी आप भी पानी पिएँगे ?"

"तुम्हारे हाथ से पानी पिएँगे ?" कहकर कहकहा लगाकर वे हँस पड़े। उनकी-सी उन्मुक्त हँसी, गांधी जी की हँसी छोड़कर, मैंने किसी और की नहीं देखी।

कवि-सम्मेलन हुआ। जिस समय मैं कविता पढ़कर मंच से नीचे उतरा, प्रेमचन्द जी ने कुर्सी से उठकर मुझे छाती से लगा लिया। उन्होंने मुझसे जो कहा, वह तो उनका मेरे लिए आशीर्वाद था। कहने की क्या आवश्यकता ? मैंने झुककर उनके पैर छुए। उस समय यह न जान सका कि फिर उन्हें न देख सकूँगा। उन दिनों मेरी तंदुरुस्ती ठीक नहीं थी। कितना ज़ोर दिया था उन्होंने मुझे तंदुरुस्ती पर

१. बाद को यह चित्र 'हंस' के प्रेमचन्द-स्मृति-अंक में छपा। शायद प्रेमचन्द-प्रसाद का साथ-साथ यह एकमात्र चित्र है।

सबसे अधिक ध्यान देने के लिए ! पर इस विषय में तो उन्हें मैं 'पर उपदेश कुशल' ही समझूँगा । यदि वे उसका एक-चौथाई भी ध्यान अपने स्वास्थ्य की ओर देते तो शायद अभी हमको उनकी असामयिक मृत्यु का दुखद समाचार सुनने को न मिलता ।

उनकी बीमारी का समाचार पत्रों में देखने को मिला था । मेरी बड़ी इच्छा थी कि जाकर उनको देख आऊँ, पर अपनी पत्नी की कठिन बीमारी के कारण जाना न हो सका और एक दिन सहसा पत्रों में पढ़कर दिल बैठ गया कि अब वह उपन्यास-देश का सम्राट् इस संसार में नहीं रहा ।

ज्ञानी कहेंगे कि प्रेमचन्द जी तो अपनी रचनाओं में सदा के लिए वर्तमान हैं, पर मैंने तो मनुष्य प्रेमचन्द को, लेखक प्रेमचन्द से कहीं ऊँचा पाया था । और अब उस मनुष्य प्रेमचन्द को हमने सदा के लिए खो दिया है ।

शोक करने के अतिरिक्त हम कर ही क्या सकते हैं ?

●

: २ :

प्रेमचन्द व्यक्तित्व की अमिट रेखाएँ

श्री रमेश चन्द्र गुप्त

हिन्दी-उपन्यासकारों में मुंशी प्रेमचन्द सबकी दृष्टि को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित कर लेने वाले प्रकाश-स्तम्भ के रूप में हमारे सामने आते हैं। अपने चारों ओर के समाज में से विभिन्न कथानकों का चयन करके उन्होंने जिन विविध कहानियों व उपन्यासों की रचना की है वे युग-युग तक हिन्दी-साहित्य की अमर निधि रहेंगे। वस्तुतः वे सच्चे अर्थों में 'कलम के सिपाही' थे। उनका पालन-पोषण किसी समृद्ध वातावरण में नहीं हुआ था। अभावों में पलते हुए उन्होंने जीवन के विविध संघर्षों पर विजय प्राप्त की और निःस्वार्थ भाव से साहित्य-साधना में लीन रहे। धन के आकर्षण अथवा सरकारी खिताबों की ओर वे कभी नहीं झुके। स्वस्थ जीवन, मूल्यों व आदर्शों से उन्हें विचलित कर सकना असम्भव था। उनका संपूर्ण जीवन एक कर्मठ एवं साहसी व्यक्ति का जीवन था। बाधाओं में भी उन्होंने स्वयं को कभी टूटता हुआ महसूस नहीं किया। उनके व्यक्तित्व की रेखाएँ इतनी भास्वर हैं कि उन्हें देखते ही प्रेमचन्द जी का चित्र सम्पूर्ण विशिष्टताओं के साथ हमारे सामने आ जाता है।

(अ) बाल्यावस्था व शिक्षा—उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द का जन्म ३१ जुलाई, सन् १८८१ को उत्तर प्रदेश में बनारस के समीप लमही नामक ग्राम में हुआ था। उनका बचपन का नाम धनपतराय था, किन्तु स्नेह के कारण नवाबराय कहकर पुकारे जाते थे। पिता श्री अजायबराय गाँव में खेती करते थे, परन्तु जब उससे परिवार का निर्वाह कर पाना कठिन हो गया तो वे डाकखाने में क्लर्क बन गए। इस प्रकार प्रेमचन्द जी का बचपन गरीबी में व्यतीत हुआ। जब वे आठ वर्ष के थे तब उनकी माता श्रीमती आनन्दीदेवी का स्वर्गवास हो गया और प्रेमचन्द बाल्यावस्था में ही माता के वात्सल्य से वंचित हो गए।

पाँच वर्ष की अवस्था में प्रेमचन्द जी ने एक मौलवी से उर्दू पढ़ना प्रारम्भ किया। गरीबी और पिता की स्थान-स्थान पर बदली होने के कारण उनकी शिक्षा व्यवस्थित रूप से नहीं हो सकी। अपनी निर्धन स्थिति का उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वीकार भी किया है—**"पैसों की दिक्कत तो मुझे हमेशा रहती थी। बारह आना महीना फीस लगती थी। उन बारह आनों में से मैं एक आध आना हर महीने खा**

जाता था। जिस स्कूल में मैं था, उसमें छोटी जाति के लोग थे। वे लोग मुझसे लेकर दो-चार पैसे खा लेते थे, इसलिए फीस देने में बड़ी दिक्कत होती थी।" बारह वर्ष की आयु होते-होते उन्हें उर्दू के उपन्यास पढ़ने का शौक हो गया और एक तम्बाकू के व्यापारी के लड़के के साथ बैठकर वे घण्टों तक 'तिलस्म होशरुबा' की मनोरंजक कथा को पढ़ने लगे।

निर्धनता की चिन्ता न करके उन्होंने सन् १८९५ में बनारस में हाईस्कूल की शिक्षा ग्रहण करनी प्रारम्भ की। स्कूल में फीस माफ कर दी गई थी। सवेरे लमही से बनारस तक पैदल आते और स्कूल में पढ़ते, शाम को एक लड़के को ट्यूशन पढ़ाते तथा रात को पुनः लमही लौट आते। इसी प्रकार संघर्ष करते हुए मैट्रिक की परीक्षा भी द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली। गणित में कमजोर होने के कारण वे उस समय आगे पढ़ाई न कर सके, किन्तु सन् १९१० में गणित को ऐच्छिक विषय बना दिये जाने पर इण्टरमीजिएट और बी० ए० की परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कर लीं।

पारिवारिक दृष्टि से भी प्रेमचन्द जी की स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी। उनकी तीन बहिनें थीं जिनमें से दो का देहान्त हो गया। माता प्रायः रोगग्रस्त रहती थीं, पिता भी संग्रहणी के रोगी थे। आठ वर्ष की बाल्यावस्था में ही माता का देहान्त हो गया। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया, किन्तु इस सौतेली माँ का व्यवहार प्रेमचन्द के प्रति स्नेहपूर्ण नहीं रहा। अपनी अनेक कहानियों में उन्होंने सौतेली माँ के जो चित्र प्रस्तुत किए हैं वे अप्रत्यक्ष रूप में उनके निजी जीवन की ओर संकेत करते हैं। प्रेमचन्द जी के निकटवर्ती मित्र श्री रघुपतिसहाय ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

"प्रेमचन्द जी ने अपनी एक कहानी में बहुत ही प्रभावशाली और जहर में बुझे हुए नश्तर की तरह शब्दों में अपने जीवन के उन दिनों की ओर संकेत किया है, जो उन्होंने अपने पिता और सौतेली माँ के साथ बिताए थे। उस कहानी का शीर्षक 'सौतेली माँ' है। उसे पढ़कर आप अपने आँसू नहीं रोक सकेंगे।"[१]

(आ) विवाह—प्रेमचन्द जी का विवाह पन्द्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। उनकी बाल्यावस्था तो निर्धनता और संघर्ष में बीती थी, वैवाहिक जीवन भी सुखद नहीं रहा। वस्तुतः उनके विवाह के लिए लड़की की पसन्द सौतेली माँ के पिता द्वारा की गई थी—प्रेमचन्द तथा उनके पिता ने लड़की को नहीं देखा था। विवाह होने पर जब उसे घर लाया गया तब प्रेमचन्द जी को वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ—

---

१. देखिए—"जब मैं फीस के पैसे चाची से माँगता तो वे बुरी तरह झल्लाती। पिता से कहने की हिम्मत न थी। इसलिए अपनी माता की याद मुझे बार-बार सताती थी।"

"जब हम ऊँटगाड़ी से उतरे तो मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़ कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार नहीं था। मुझे झि[illegible]म [illegible] थी। उम्र में वे मुझसे ज्यादा थीं। जब मैंने उनकी सूरत देखी तो मेरा खून सूख गया।"[1]

स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में प्रेमचन्द जी का वैवाहिक जीवन सुखद नहीं रह सकता था। [illegible]-किसी प्रकार निर्वाह करते रहने के बाद एक दिन उनकी पत्नी अपने मायके गईं तो स्वयं वहाँ से लौटकर नहीं आईं और न ही प्रेमचन्द उन्हें लेने गए—और इस प्रकार उनमें अनायास ही सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। फिर भी, प्रेमचन्द जी ने अपने दायित्व का निर्वाह किया और उनके पास आजन्म कुछ रुपये भेजते रहे।

सन् १९०५ में उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों की चिन्ता न करके अपनी चाची तथा अन्य सम्बन्धियों के विरोध को सहते हुए भी एक विज्ञापन के आधार पर बाल-विधवा युवती श्रीमती शिवरानी देवी से विवाह कर लिया। शिवरानी जी के साथ उनका दाम्पत्य जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ। वह स्वयं विदुषी थीं, आगे चलकर एक सफल कहानी-लेखिका भी बनीं।[2] संकटपूर्ण परिस्थितियों में उनकी सत्प्रेरणाओं से प्रेमचन्दजी को साहित्य-सृजन में पर्याप्त बल मिला।

(इ) **आजीविका**—सन् १८९६ में प्रेमचन्द जी के जीवन में पुनः परिवर्तन आया। इस वर्ष पिता की मृत्यु हो जाने के कारण उन्हें नौकरी की चिन्ता हुई। अतः मैट्रिक करते ही किसी काम की खोज करने लगे। सन् १८९९ में एक प्राइमरी स्कूल में अठारह रुपए मासिक वेतन पर उन्हें अध्यापक नियुक्त किया गया और कुछ वर्ष पश्चात् सन् १९०८ में वे जिला हमीरपुर के अन्तर्गत महोबा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सब इन्सपेक्टर बन गए। इन्सपेक्टर के रूप में उन्हें विभिन्न स्थानों के दौरे करने पड़ते थे, किन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उनके लिए अधिक घूमना-फिरना सम्भव न रहा और इसी कारण सन् १९१५ में उन्होंने बस्ती जिले के सरकारी विद्यालय में अध्यापक की वृत्ति पुनः स्वीकार की। अनेक वर्षों की नौकरी से यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि सरकारी सेवा में रहते हुए वे निर्भीकतापूर्वक अपने राष्ट्रीय विचारों को व्यक्त करने में असमर्थ थे। अतः सन् १९२१ में सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देकर काशी विद्यापीठ के विद्यालय में मुख्याध्यापक बनना स्वीकार किया, किन्तु एक वर्ष पश्चात् उसे भी छोड़कर पुनः अपने ग्राम लमही में लौट आए।

सन् १९२४ में अलवर नरेश ने अन्य सुविधाओं के साथ-साथ चार सौ रुपये मासिक पर उन्हें अपने राजमहल में आमन्त्रित किया, पर परिश्रमी एवं स्वतन्त्र विचारधारा के प्रेमी प्रेमचन्द जी ने इस राज्याश्रय को कृतज्ञतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द जी के यश को देखकर ब्रिटिश

---

१. हंस : प्रेमचन्द अंक, पृष्ठ ८८५।

२. उनके द्वारा लिखी गई पुस्तक 'प्रेमचन्द : घर में' प्रेमचन्द जी के व्यक्तित्व को समझने में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सरकार ने उन्हें 'रायसाहब' की पदवी देनी चाही थी, किन्तु आदर्शवादी एवं निर्भीक लेखक प्रेमचन्द ने उसे भी स्वीकार न किया।

ब्रिटिश सरकार प्रेमचन्द जी की निर्भीक विचारधारा का प्रचार रोकना चाहती थी और इसी कारण उनके कहानी-संग्रह 'सोजे-वतन' की सभी प्रतियाँ जला दी गईं। किन्तु प्रेमचन्द जी ने हार नहीं मानी और जब यह अनुभव किया कि सरकारी नौकरी और राष्ट्रीय विचारों की अभिव्यक्ति साथ-साथ नहीं चल सकती तब उन्होंने सरकारी नीति से असहयोग के कारण नौकरी छोड़ दी और छोटी-सी प्रेस की स्थापना करके 'जागरण' तथा 'हंस' नामक दो पत्रिकाओं का सम्पादन प्रारम्भ किया। किन्तु इन पत्रिकाओं से अत्यन्त कठिनाई से निर्वाह हो पाता था। इस बीच उन पर ऋण चढ़ता गया, अतः सन् १९३४ में बम्बई की एक फिलम-कम्पनी के आमन्त्रण पर आठ हजार रुपये वार्षिक का अनुबन्ध करके वहाँ चले गए। फिल्मों में लिखी जाने वाली कहानियों की विचारधारा से असहमत होने के कारण एक वर्ष पश्चात् वहाँ से भी लमही लौट आए,[1] और इसके पश्चात् कहीं नौकरी नहीं की।

(ई) साहित्य-सृजन—प्रेमचन्द जी मानवतावादी विचारधारा के समर्थक थे। उन्होंने उपन्यास, कहानी, नाटक, बाल-साहित्य, जीवनी तथा 'हंस' एवं 'जागरण' पत्रिकाओं के सम्पादकीय के रूप में लिखी गई असंख्य टिप्पणियों एवं लेखों के माध्यम से हिन्दी को अपने विविध विचार प्रदान किए हैं। इनमें से उनका उपन्यासकार, कहानीकार तथा समालोचक का रूप ही अधिक प्रबल रहा है। उपन्यास के क्षेत्र में उन्होंने ग्यारह अत्यन्त लोकप्रिय एवं प्रभावकारी उपन्यास लिखे जिन्हें कालक्रम की दृष्टि से इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

उपन्यास	लेखन वर्ष
प्रेमा (अथवा प्रतिज्ञा)	सन् १९०५
वरदान	सन् १९०६-१९०७ (लगभग)
सेवासदन	सन् १९१६
प्रेमाश्रम	सन् १९२२
निर्मला	सन् १९२३
रंगभूमि	सन् १९२५
कायाकल्प	सन् १९२८
ग़बन	सन् १९३१

१. इस सम्बन्ध में उनके द्वारा उपन्यासकार जैनेन्द्र जी को लिख गए एक पत्र का यह अंश दृष्टव्य है—

'मैं जिन इरादों से आया था उनमें से एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उस लीक से जौ-भर भी नहीं हट सकते। 'वलगेरिटी' को वे 'एन्टरटेनमेंट वेल्यु' समझते हैं।"

कर्मभूमि सन् १६३२
गोदान सन् १६३६
मंगलसूत्र अपूर्ण

कहानीकार के रूप में वे 'मानसरोवर' के आठ भागों में संकलित लगभग तीन सौ कहानियों द्वारा हिन्दी-कथा-साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। समालोचन तथा सामयिक विषयों के चिन्तन की दृष्टि से भी उन्होंने असंख्य लेख लिखे थे। पत्रिकाओं में फुटकर रूप में बिखरे होने के कारण हिन्दी के अधिकांश पाठक प्रेमचन्द जी के इस रूप से अपरिचित थे, किन्तु उनके सुपुत्र श्री अमृतराय द्वारा सम्पादित 'विविध प्रसंग' (तीन भाग) की लगभग १३०० पृष्ठों की सामग्री के माध्यम से वे इस रूप में भी हिन्दी-जगत् के सम्मुख आये हैं।

(उ) **मृत्यु**—सन् १६३६ के जून मास में प्रेमचन्द जी के पेट में अचानक पीड़ा होने लगी और खून की उल्टी आई। धीरे-धीरे वे दुर्बल होते गए, किन्तु साहित्य-साधना से विचलित नहीं हुए और इसी अवस्था में गोर्की की मृत्यु पर आयोजित शोक-सभा में भाषण दिया तथा अपने नये उपन्यास 'मंगलसूत्र' की रचना प्रारंभ की। अक्तूबर में तो वे इतने दुर्बल हो गए कि उन्हें कभी-कभी मूर्छा भी आने लगी। मृत्यु के एक दिन पूर्व रोगशैया पर लेटे-लेटे उन्होंने जैनेन्द्र जी से साहित्यिक गतिविधि के विषय में विचार-विमर्श किया। यह उनके जीवन की अन्तिम साहित्य-चर्चा थी—और इस प्रकार जीवन और जगत् से संघर्ष करते हुए मानवीय विचार-धारा के सम्पोषक, शोषित तथा उपेक्षित जन-समूह का प्रतिनिधित्व करने वाले हिन्दी के अनन्य साहित्य-सेवी उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द ८ अक्तूबर सन् १६३६ को इस नश्वर संसार से विदा लेकर साहित्याकाश में सदैव के लिए अमर हो गए।

: ३ :

प्रेमचन्द

डॉ० नगेन्द्र

आज वर्षों बाद प्रेमचन्द के सर्वतः स्वीकृत श्रेष्ठतम उपन्यास 'गोदान' का एक बार फिर अध्ययन करने के उपरान्त भी मेरी धारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव-पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन-दुःखी जनता, गाँव के अपढ़ और भोले किसान और शहर के शोषित मजदूर, भिन्न वर्ग के वे असंख्य श्रम-श्रांत वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी—उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, जमींदार और हुक्काम; उधर मध्य वर्ग के व्यवसायी, नौकरीपेशा लोग, समाज के पुराण-पंथी पण्डित-पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वंचित नहीं थे। इसका अर्थ यह नहीं कि उनको सत्-असत् की चेतना नहीं थी। नहीं, यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रांत थी और इस विषय में उनका दृष्टिकोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परन्तु उनके मन में घृणा नहीं थी। उनके मन में मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होंने निर्मम होकर तिरस्कार किया है, परंतु पाप को छोड़ उन्होंने कभी पापी से घृणा नहीं की। इसके लिए गांधी और गांधी से भी अधिक स्वयं गांधी को प्रभावित करने वाले विदेश के मानववादी लेखकों का प्रभाव काफ़ी हद तक उत्तरदायी था, किन्तु मूलतः तो यह उनके अपने स्वभाव-संस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही सन्त था—उसके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उस युग के आदर्शवाद ने, जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया, परन्तु उनका यह आदर्शवाद अथवा जनवाद स्वभाव-जात था, युग-प्रथा-मात्र नहीं था। इसका उनके संस्कारों के साथ पूर्ण सामंजस्य था। इसीलिए इस धरातल पर पहुँचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदों से मुक्त हो जाती थी। प्रगतिवादियों ने अपने मानव मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उनपर वर्ग-चेतना का आरोप कर दिया है। परन्तु वास्तव में वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। उन्होंने पूँजीवादियों

और ज़मीदारों के दोषों को क्षमा नहीं किया, किन्तु साथ ही उनकी तकलीफ के प्रति भी वे निर्मम नहीं थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पूँजीवादी भी तो मनुष्य हैं, जो उसी तरह दुःख-दर्द के शिकार हैं जिस तरह मजदूर। राजनीतिक दलबन्दी में आकर अपने मन में इस तरह के खाने बना लेना कि उसके दुःख-दर्द का वहाँ प्रवेश ही न हो, सर्वथा अप्राकृतिक एवं अमानवीय है, और जिनके हृदय में इस तरह का विभाजन सम्भव होता है उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है, या प्रदर्शन-मात्र। क्योंकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सम्भव नहीं है कि एक की विवशता हमें करुणार्द्र करे और दूसरे की न करे। जिनकी सहानुभूति पर राजनीतिक बुद्धिवाद का अंकुश रहता है वे सहानुभूति का दम्भ करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द की सहानुभूति ऐसी नहीं थी। पापी को उन्होंने क्षमा नहीं किया, शोषण के अपराधों की उन्होंने कहीं भी उपेक्षा नहीं की। उनके उपन्यासों में दण्ड का निषेध नहीं है—उनमें एक ओर बहिष्कार से लेकर कारावास और मृत्यु तक और दूसरी ओर उपवास आदि से लेकर आत्मघात तक का दण्ड है। परन्तु सहानुभूति का अभाव किसी भी अवस्था में नहीं है। प्रेमचन्द कहीं भी कठोर नहीं होते और कहीं भी दम्भ नहीं करते। यह उनके व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी।

इस व्यापक सहानुभूति के कारण उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। गांधी-युग के प्रथम तीन चरणों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का जितना सांगोपांग और सटीक चित्रण प्रेमचन्द में मिलता है वैसा हिन्दी के तो किसी साहित्यकार में मिलता ही नहीं है, भारत के अन्य किसी साहित्यकार में भी मिलता है, इसमें सन्देह है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमाएँ होती हैं—जीवन के कुछ रूपों में वह रम सकता है कुछ में नहीं, परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपों के प्रति उनमें राग था। उनकी प्रतिभा कई अंशों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिए उन्हें जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं, उतने औरों में नहीं। आप हिन्दी के नये उपन्यासकारों से—जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र से—उनकी तुलना कीजिये : एक ओर विशाल जनसमुद्र है, दूसरी ओर व्यक्तियों के सरोवर-मात्र। शरत्, यहाँ तक कि रवीन्द्र का भी क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यन्त सीमित है।

जीवन के इस समग्र-ग्रहण का परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द ने उपन्यासों में अपने युग अर्थात् गांधी-युग के तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अत्यन्त पूर्ण इतिहास दे दिया है। वास्तव में जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस काल-खंड का सामाजिक इतिहास लिखा जाएगा, उस समय प्रेमचन्द के

उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी। और, यदि इतिहासकार राजनीति से आतंकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हें पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्र बाबू की जीवनियों से कम महत्व नहीं देगा। इसके मूलतः दो कारण हैं : एक तो यह कि प्रेमचन्द ने अत्यन्त सचेत होकर अपने साहित्य को युग-जीवन का माध्यम बनाया है, दूसरे यह कि उन्होंने युग-धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वांग जीवन को ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द का दूसरा प्रमुख गुण है उनका अत्यन्त स्वस्थ और साधारण व्यक्तित्व। साधारण का प्रयोग मैं यहाँ 'नार्मल' के अर्थ में कर रहा हूँ। उनका दृष्टिकोण मनोग्रंथियों से रहित सर्वथा ऋजु-सरल था जिसमें प्रवृत्तियों का स्वस्थ संतुलन और अतिचार एवं अनाचार का अभाव था। मनोग्रंथि से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है जो उचित रीति से विचार करने, उचित रीति से अनुभव करने और उचित रीति से जीवन-यापन करने में बाधक होती है। ये मनोग्रंथियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं : अर्थमूलक और काममूलक। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है। गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में आर्थिक विषमताओं के जितने भी रूप सम्भव थे, प्रेमचन्द की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होंने अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया, परन्तु उन्होंने अर्थवैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रंथि नहीं बनने दिया। वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है। उनके पात्र आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हैं परन्तु वे बहिर्मुखी संघर्ष द्वारा उनपर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, मानसिक कुण्ठाओं के शिकार बनकर नहीं रह जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके स्रष्टा का दृष्टिकोण विवेक-प्रधान है। वे अनुपात-ज्ञान कभी नहीं खोते; समस्या का समाधान उसे समझ-सुलझाकर उसके मूल कारणों को दूर करने से होगा, उसके द्वारा अभिभूत हो जाने से नहीं। यह सुस्थिर विवेक और उनका आश्रयी अनुपात-ज्ञान प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विशेष गुण है, वह किसी भी परिस्थिति में उनका साथ नहीं छोड़ता, और इसी कारण प्रेमचन्द में अतिवाद नहीं मिलता। गांधी-दर्शन में आस्था रखते हुए भी उन्होंने कहीं भी उसके प्रति अनावश्यक विवेकहीन उत्साह नहीं दिखाया है। गांधी-दर्शन के अहिंसा सम्बन्धी अतिवादों को प्रेमचन्द ने सदैव अपनी यथार्थ दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धान्तों द्वारा। उधर किसानों और मजदूरों के प्रति उनके हृदय में अगाध सहानुभूति है, वास्तव में शोषित-वर्ग का इतना बड़ा हिमायती हिन्दी में दूसरा नहीं है। परन्तु जमींदारों और पूँजीपतियों के प्रति भी यह कलाकार अपना संतुलन नहीं खो बैठा—उनके दोषों पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह उनके गुणों को सर्वथा नहीं भुला बैठा। किसानों और मजदूरों में अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वों के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में किया है, परन्तु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया

है, अभावात्मक रूप को नहीं। कहीं भी उन्होंने ज़मीदारों और किसानों के प्रति घृणा एवं प्रतिशोध के भाव को उभारना न्याय्य नहीं समझा। दूसरे शब्दों में वर्ग-संघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होंने कहीं भी स्वतंत्र महत्व नहीं दिया। संघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है। असत् को परास्त कर सत् की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना जीवन का ध्येय है, परन्तु वर्ग-संघर्ष को—मानव के प्रति मानव के संघर्ष को—एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रंगों में चित्रित करना और फिर सम्पूर्ण जीवन को उसी रंग में रंगकर देखना एक घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचन्द ने सदा ही सतर्कता से बचाया है। उनके विवेक ने एकांगिता और प्रतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

जीवन की काममूलक ग्रंथियाँ कहीं अधिक विषम और सूक्ष्म-गहन होती हैं। फ्रायड के सिद्धान्त को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का विशेष निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रंथियों का आधार काम है। साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ कि विश्व-साहित्य का बृहदांश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संवर्धन प्राप्त करता है। आज के जीवन में और साहित्य में तो इसका योग और भी अधिक है। स्वदेश-विदेश का साहित्यकार कवि, नाटककार और सबसे अधिक उपन्यासकार इन काममूलक मनोग्रंथियों से ही मुख्यतः उलझा है। भारत के उपन्यास-सम्राट् शरत्चन्द्र तो एक प्रकार से इनसे अभिभूत थे। हिन्दी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल के उपन्यास भी काम-लिप्त हैं। प्रेमचन्द ने इस विषय में अद्भुत स्वास्थ्य का परिचय दिया है। इस क्षेत्र में उनके उपन्यासों में महाकाव्योचित दृष्टि-विस्तार मिलता है। महाकाव्यों में शृंगार, वीर आदि सभी प्रमुख वृत्तियों का यथोचित समावेश होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य सदैव जीवन-धर्म ही होता है। उनमें शृंगार की महत्व-स्वीकृति निःसन्देह होती है, परन्तु वह कहीं भी अपने में स्वतन्त्र होकर प्रतिपाद्य नहीं बन जाता। काम जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है, परन्तु वह समग्र जीवन नहीं है, और न जीवन का साध्य ही। अतएव जीवनार्थी के लिए उसमें आवश्यकता से अधिक अनुरक्ति रखना श्रेयस्कर नहीं है—ठीक इसी तरह जिस तरह कि उसके प्रति अनावश्यक विरक्ति और दमन का अभ्यास करना। जीवन-स्वास्थ्य का यही लक्षण है, और यह प्रेमचन्द में स्पष्ट रूप से मिलता है। प्रेमचन्द ने भी जीवन-धर्म को ही अपने उपन्यासों का प्रतिपाद्य बनाया है। काम का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया, परन्तु उसको प्रतिपाद्य का दर्जा कभी नहीं दिया। आरम्भ में उन्होंने अवैध काम-सम्बन्धों को प्रायः बचाया है, परन्तु बाद के उपन्यासों में इनको भी सहज़ रूप में अंकित कर दिया है। सामाजिक जीवन का एक रूप यह भी है—कुल मिलाकर यह कल्याणकर नहीं है; परन्तु फिर भी इसका अस्तित्व तो है ही। बस इसी रूप में प्रेमचन्द ने इसका अंकन किया है—इसमें कहीं भी रस नहीं लिया।

उनकी अपनी जीवन-घटना, जिसका उन्होंने श्रीमती शिवरानी जी से अन्तिम क्षणों में उल्लेख किया था, इसकी साक्षी है। स्वस्थ-साधारण जीवन के लिए कामोपभोग आवश्यक है, परन्तु वह जीवन का उद्देश्य किसी भी रूप में—और किसी भी दशा में नहीं हो सकता; व्यक्ति को उसमें खो नहीं जाना चाहिए। ऐसा करने पर जीवन का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण यही था।

उपयोगितावाद और नीतिवाद

साधारण 'नार्मल' व्यक्ति निसर्गत: उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है, और प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में ये दोनों विशेषताएँ अत्यन्त मुखर हैं। दृष्टिकोण का सन्तुलन विचार-स्वातन्त्र्य और मानसिक स्वातन्त्र्य के प्रतिकूल पड़ता है क्योंकि सन्तुलित दृष्टिकोण जीवन का एक विशेष स्तर निश्चित कर उससे अपने को बाँध लेता है। वह हानि-लाभ के मान स्थिर कर लेता है और उन्हीं के अनुसार जीवन-यापन करता है। यही हानि-लाभ-गणना जीवन की प्रत्येक वस्तु के विषय में उसकी स्वीकृति और अस्वीकृति का आधार बन जाती है। स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र में हानि-लाभ की यह भावना सर्वथा भौतिक और तुच्छ हो जाती है, परन्तु जीवन के व्यापक और उच्च स्तर पर यह नीतिवाद का रूप धारण कर लेती है। स्वार्थी व्यक्ति जहाँ अपने तुच्छ और तात्कालिक हानि-लाभ की गणना में उलझा रहता है. वहाँ मनीषी व्यक्ति जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर व्यापक और स्थायी हानि-लाभ की चिन्ता में रत रहता है। पहले दृष्टिकोण के लिए पारिभाषिक शब्द मूर्तवाद है और दूसरे के लिए नीतिवाद। उपयोगिता का प्राधार है हानि-लाभ विचार और नीतिवाद का आधार है उचित-अनुचित अथवा शिव-अशिव विचार। हानि-लाभ जब एक का अधिक हानि-लाभ न रहकर अनेक का हानि-लाभ हो जाता है तो उसे ही शिव-अशिव की संज्ञा दे दी जाती है और उपयोगितावाद नीतिवाद का रूप धारण कर लेता है। प्रेमचन्द का उपयोगितावाद इसी प्रकार का है। उसका मूल आधार था अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का अधिक-से-अधिक हित। प्रेमचन्द के साहित्य पर सर्वथा शिव का शासन है—सत्य और सुन्दर शिव के अनुचर होकर आते हैं। उनकी कला स्वीकृति रूप में जीवन के लिए थी और जीवन का अर्थ भी उनके लिए वर्तमान सामाजिक जीवन ही था। अतीत और आगत की रंगीन कल्पनाओं के लोभ में वे कभी नहीं पड़े। कला उनके लिए जीवन का एक प्रत्यक्ष साधन थी और उसका उपयोग उन्होंने व्यक्त रूप से निर्भ्रान्त होकर किया। कला की स्वतन्त्रता की कल्पना वे स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। केवल मनोरंजिनी कला को वे मदारियों और भाँडों का खेल समझते थे। आनन्द की उनके लिए कोई स्वतन्त्र सत्ता न थी; वह सामाजिक जीवन के मूल्यों के अनुशासित हित का ही एक अंग था। जो आनन्द सार्वजनिक हित में योग नहीं देता वह क्षणिक उत्तेजना-भाव-मात्र है, उसका कोई

मूल्य नहीं। यही बात वे सौन्दर्य और सत्य (ज्ञान-विज्ञान) के लिए भी कहते थे। सुनते हैं प्राचीन वास्तुकला की इमारतों को देखकर वे कहा करते थे कि ये सब कला के नाम पर यों ही व्यर्थ पड़ी हुई हैं, इनका सार्वजनिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

जीवन-दर्शन

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का मूल तत्व है मानववाद। इस मानववाद का धरातल सर्वथा भौतिक है। दूसरे शब्दों में यह मानववाद सर्वथा व्यावहारिक है। प्रेमचन्द की सहानुभूति व्यावहारिक उपयोगिता की सीमा से आगे नहीं बढ़ती या यों कहिए कि इस सीमा से आगे बढ़ना प्रेमचन्द उचित नहीं समझते। भौतिक धरातल के नीचे जाकर आत्मा की अखण्डता तक पहुँचने की उन्होंने जरूरत नहीं समझी—इसके अतिरिक्त यह उनके स्वभाव की सीमा भी थी। वहाँ तक उनकी गति भी नहीं थी। अतएव उनका मानववाद एकान्त नैतिक है—उनकी सहानुभूति पर हिताहित-विचार अथवा शिवाशिव-विचार का नियन्त्रण है। वे नैतिक मर्यादाओं की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का—जो सत्-असत् से परे है—शास्त्रीय शब्दावली में मानव की उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं। इसलिए प्रेमचन्दका मानववाद सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ पाया। वास्तव में अपने अन्तिम रूप में मानववाद एक आध्यात्मिक दर्शन है और आत्मा की अखण्डता का साक्षात्कार किए बिना मानववाद की प्रतिष्ठा संभव नहीं है। प्रेमचन्द स्वभाव से विचारक और कर्मठ थे, द्रष्टा नहीं थे। उनकी चेतना का धरातल व्यावहारिक ही रहा, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक नहीं हो सका। उन्होंने इसमें विश्वास भी कभी नहीं किया क्योंकि अपने ध्येय के लिए उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। उन्होंने तो अपने युग-जीवन का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अध्ययन किया और उसी दृष्टि से उसके समाधान को भी खोज निकाला। इसीलिए उनको मानववाद का व्यावहारिक रूप जनवाद ही स्वीकार्य हुआ। जनवाद के दो रूप हैं: एक दक्षिण पक्ष का जनवाद, जो जागरण-सुधार-मूलक है, दूसरा वाम पक्ष का जनवाद, जो क्रान्तिमूलक है। अपने युग-धर्म के अनुकूल, युग-पुरुष गांधी के प्रभाव में, प्रेमचन्द ने जागरण-सुधार-मूलक जनवाद को ही ग्रहण किया। गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को वे नहीं अपना सके।

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में आदर्श और यथार्थ विषयक भ्रान्ति प्रायः पाई जाती है। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जिन उपन्यासों का प्रचार था उनमें अद्भुत और काल्पनिक का साम्राज्य था। उस समय हिन्दी पाठकों के लिए उपन्यास का अर्थ था चित्र-विचित्र घटनाओं, दृश्यों एवं पात्रों का संकलन, जिनका इस लोक से नहीं, कल्पना-

लोक से सम्बन्ध था। प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें अपना नित्य-प्रति का जीवन, अपने पास-पड़ौस के लोग, अपनी व्यावहारिक समस्याएँ मिलीं। निदान उन्होंने इन उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास कहना आरम्भ कर दिया। परन्तु जब इनका गम्भीर अध्ययन होने लगा तो यह तुरन्त ही स्पष्ट हो गया कि ये सभी उपन्यास निर्भ्रान्त रूप से किसी न किसी आदर्श को लेकर चलते हैं। इनकी घटनाएँ नैतियक और यथार्थ हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है।

इसी प्रकार उनके पात्रों के व्यक्तित्व-विकास में भी प्रकृति की मनमानी नहीं चलती वरन् कलाकार का ही आदर्श काम करता है। वास्तव में प्रेमचन्द-जैसा सुधारवादी उपन्यासकार आदर्शवादी न होता तो क्या होता? उनका जीवन-दर्शन, उनका नीतिवाद और उपयोगितावाद एक उत्कट आदर्शवाद के उपकरण मात्र हैं। परन्तु अब यथार्थ का प्रश्न उठता है। इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द की कथाएँ नित्यप्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं। अर्थात् उनकी समस्याएँ इलाचन्द्र जोशी अथवा मार्क्सवादी उपन्यासकारों की भाँति सैद्धान्तिक अथवा प्रतिज्ञात्मक नहीं हैं। वे सर्वथा व्यावहारिक एवं यथार्थ हैं। इसी प्रकार उनके पात्र और घटनाओं तथा वातावरण सभी में यथार्थता है। ऐसी स्थिति में उन्हें क्या समझा जाय? यही उलझन पैदा हो जाती है। परन्तु वास्तव में यह उलझन भ्रांति मात्र है और इसका कारण यह है कि यथार्थ और आदर्श के विषय में ही लोगों को भ्रान्ति है।

यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है जिसमें कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासम्भव तटस्थ रखते हुए वस्तु को, जैसी वह है वैसी ही देखता है और चित्रित करता है—अर्थात् यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। इसके विपरीत दो दृष्टिकोण हैं: एक रोमानी दूसरा आदर्शवादी। कलाकार जब वस्तु पर अपने भाव और कल्पना का आरोप कर देता है और उसको अपने स्वप्नों के रंगीन आवरण में लपेट कर देखता है और चित्रित करता है, तो उसका दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है। इसी प्रकार जब वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है और उसे अपने आदर्श के अनुकूल गढ़ता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है। प्राय: ये दोनों दृष्टिकोण—रोमानी और आदर्शवादी—सम्मिलित ही रहते हैं। परन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है कि रोमानी धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा सम्भव है। इसके विपरीत रोमानी दृष्टिकोण के लिए भी आदर्शवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि भाव और कल्पना का प्राचुर्य होते हुए भी उसमें किसी नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा आवश्यक नहीं है। यह कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि उसे व्यवहार-जगत् प्रिय है या कल्पना-जगत्। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व, जैसा मैंने कहा, साधारण एवं व्यावहारिक था। साथ ही उनके जीवन-आदर्श भी सर्वथा प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित थे। अतएव उन्होंने व्यावहारिक

धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है।—सारांश यह है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है। वह कल्पना-विलासी और स्वप्न-द्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार-जगत् की समस्याओं के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है : वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है, व्यावहारिक आदर्शवाद है; परन्तु यथार्थ नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो। हाँ, यथार्थ उनकी शैली का अंग अवश्य है, उनके वर्णन अत्यन्त यथार्थ होते हैं, उनमें कल्पना के रूपरंग न होकर वस्तु का यथा-तथ्य चित्रण रहता है। परन्तु दृष्टिकोण का निर्णय तो वर्णन की शैली से न होकर उसके लक्ष्य से करना चाहिए। इसीलिए शैलीगत यथार्थ उनके आदर्शवाद के प्रतिकूल नहीं पड़ता, उसका अंग ही बन जाता है।

यहाँ तक मैंने तटस्थ रूप से, अपने वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य को पृथक् रखते हुए प्रेमचन्द का महत्वांकन करने का प्रयत्न किया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि जीवन के प्रति व्यक्तिगत कुण्ठाओं से मुक्त स्वस्थ दृष्टिकोण एक बहुत बड़ा गुण है—विशेषकर आज के कुण्ठाग्रस्त जीवन में। अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक जीवन का इतिहास प्रस्तुत कर सकना भी साधारण बात नहीं है। उधर अपनी कला का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करते हुए नैतिक सदादर्शों की प्रतिष्ठा करना भी कलाकार का कर्त्तव्य है। और अंत में, इतना व्यापक दृष्टिकोण भी एक असाधारण विशेषता है। परन्तु फिर भी मेरा मन प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं है। और इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द में कुछ ऐसे गुणों का अभाव है जो इनसे महत्तर हैं और जीवन और साहित्य में जिनका महत्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

प्रतिभा के अनेक अंग हैं : तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता, और व्यापकता। इनमें से प्रेमचन्द के पास केवल व्यापकता ही थी—शेष गुण अपर्याप्त मात्रा में थे। वास्तव में नार्मल व्यक्तित्व की यह सहज सीमा है कि व्यापकता की तो उसके साथ संगति बैठ जाती है परन्तु तेजस्विता, गहनता और तीव्रता अथवा बौद्धिक सघनता एवं दृढ़ता के लिए उसमें स्थान नहीं होता।

तेजस्विता प्रतिभा का स्पष्टतम रूप है। यह गुण गहन आन्तरिक संघर्ष की अपेक्षा करता है। अन्तर्द्वन्द्व की रगड़ खाकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व में तेज आता है—उसकी चेतना-शक्ति अत्यन्त प्रखर हो जाती है और उसकी अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। परन्तु प्रेमचन्द की साधारणता में इसके लिए अधिक स्थान नहीं है। व्यावहारिक व्यक्ति को सतर्क होकर इसको दबाना होता है क्योंकि व्यवहार-जगत् में तीव्र अनुभूतियाँ या प्रखर चेतना बाधक होती हैं। प्रेमचन्द के साहित्य में

इस प्रकार की घटनाएँ तथा पात्र अत्यन्त विरल हैं जो पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन में प्रखर चेतना उद्‌बुद्ध कर सकें। तीव्र अन्तर्द्वन्द्व के इसी अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों में नहीं उतरते—उतर भी नहीं सकते। आत्मा की पीड़ा, जो जीवन और साहित्य में गम्भीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल-प्रेरणा कभी नहीं बन पाई। वह उनके जीवन-दर्शन के लिए अप्रासंगिक थी। उन्होंने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को ही सम्पूर्ण महत्व दे डाला है। परन्तु जीवन में तो इनसे गहनतम समस्याएँ भी हैं: अन्तर्जगत की समस्याएँ—जिन्हें प्रेमचन्द की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्व नहीं दिया। उनमें किसान, जमीदार, मजदूर-पूँजीपति, छूत-अछूत, शिक्षा-अशिक्षा आदि 'बाह्य जगत् के द्वन्द्वों का जितना विस्तृत और सफल वर्णन है उतना श्रेय और प्रेय, विवेक और प्रवृत्ति, श्रद्धा और क्रान्ति, कर्त्तव्य और लालसा आदि अन्तर्जगत के द्वन्द्वों का नहीं। यह बात नहीं कि ये प्रसंग आते ही नहीं। प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों और कहानियों में ये प्रसंग आये हैं क्योंकि बाह्‌य जगत् और अन्तर्जगत् का पूर्णतः पृथक्करण सम्भव नहीं। वे एक-दूसरे से लिपटे हुए हैं। परन्तु प्रेमचन्द ने उनको वांछित महत्व नहीं दिया। पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं को उन्होंने जितना महत्व दिया था उतना महत्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं दिया। प्रेमचन्द उस युग की आध्यात्मिक क्लान्ति का सजीव चित्र नहीं दे पाये जिसने कि उसकी आत्मा को खोखला कर दिया था—जबकि पुराने विश्वास निर्जीव पड़ गए थे, नये विश्वासों में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी, और भारत की आत्मा निराधार-सी होकर कभी पीछे की ओर कभी आगे की ओर दौड़ती थी। उन्होंने इस संघर्ष के बाह्‌य रूप को ही ग्रहण किया, शायद वहीं तक उनकी पहुँच थी। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द की दृष्टि सामयिक समस्याओं तक सीमित रही है, जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े ही हलके हाथ से छुआ है या छुआ ही नहीं है। कोई भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान् नहीं हो सकता। परन्तु प्रेमचन्द का विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ा। चिन्तन और गम्भीर दर्शन उनकी परिधि में नहीं आते। इसीलिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है और उनके उपन्यासों के विवेचन आदि में एक प्रकार का पोलापन मिलता है। विचारों की सघनता, जो गहन दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से आती है, उनमें नहीं है। यों तो विभिन्न समस्याओं का विवेचन करते समय अपने मत के प्रचार में उन्होंने पृष्ठ के पृष्ठ लिख डाले हैं, परन्तु उनका बौद्धिक तत्व साधारण विवेक-सम्मत तर्कवाद पर आश्रित होने के कारण काफ़ी हलका होता है, और पाठक के विचार पर उसका कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए प्रसाद के 'कंकाल' को लीजिए। उपन्यास-कला की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास उससे कहीं उत्कृष्ट हैं परन्तु कंकाल का बुद्धिपक्ष निश्चित ही अधिक समृद्ध है। प्रसाद के विवेचन जहाँ

दार्शनिक चिन्तन पर आश्रित हैं, वहाँ प्रेमचन्द के विवेचन नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर। व्यावहारिक व्यक्ति जिस प्रकार बाल की खाल निकालना पसन्द नहीं करता, काम से काम रखता है, इसी प्रकार प्रेमचन्द भी किसी प्रश्न के तल तक जाने का प्रयत्न नहीं करते। निदान उनमें सूक्ष्म चिन्तन और विश्लेषण का भी प्रायः अभाव है।

वास्तव में ये साधारण व्यक्तित्व के सहज अभाव हैं। साधारण व्यक्तित्व कुल मिलाकर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है। महान् होने के लिए असाधारणता अपेक्षित है, क्योंकि प्रतिभा भी तो असाधारण लोकोत्तर शक्ति का नाम है। जीवन की असाधारणताओं का अनुभव कर साधारणत्व की प्राप्ति करना एक बात है, और असाधारणताओं को बचाकर लीक पर चलते रहना दूसरी। पहला लोकोत्तर प्रतिभावान् महान् व्यक्तित्व का काम है, दूसरा साधारण व्यावहारिक व्यक्ति का। प्रेमचन्द पहली श्रेणी में नहीं आते।

: ४ :

प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यास-साहित्य

डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

इससे पूर्व कि हिन्दी-कथा-साहित्य पर विचार किया जाय, यह कह देना आवश्यक है कि कथा-साहित्य में युग का प्रतिबिम्ब जितनी विशदता से व्यक्त किया जा सकता है, उतना अन्य किसी साहित्यिक विधा में नहीं। यही कारण है कि आज के वैज्ञानिक युग में, जबकि जीवन की जटिलता बरगद की जटाओं की तरह बढ़ गई है, उपन्यास ही महाकाव्य का स्थान लेकर साहित्य के सिंहासन पर सुशोभित हो गया है। जीवन की बहुमुखी गति-प्रगति के चित्रण का अवकाश उपन्यास में इसलिए अधिक रहता है कि उसमें अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में कथा, कल्पना, भाषा आदि का सन्तुलन बनाये रखना अनिवार्य-सा हो उठता है। इधर तो उसमें सूक्ष्मता और गहराई भी विशेष आ चली है। आरम्भ में जब उपन्यास लिखे गये तब हमारे देश में राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल हो रही थी। सन् १८५१ के बाद से अंग्रेजों की नीति में जो परिवर्तन हुआ उसके फलस्वरूप हमारे समाज में दो प्रकार की विचारधाराएँ घर कर गईं। एक के अनुसार अंग्रेजों की संस्कृति भारतीय संस्कृति से उच्च थी और उसका अनुकरण ही श्रेयस्कर था तो दूसरी की दृष्टि से समाज में अनैतिक और आर्थिक पतन का मूल कारण ही अंग्रेजों की भाषा और रीति-नीति थी। अंग्रेजों ने छापेखाने, रेल, तार, डाकखाने आदि की सुविधायें दी थीं पर हमारे उद्योग-धन्धों को नष्ट कर हमारी शक्ति को भी हर लिया था। यों उस समय राजभक्ति और देशभक्ति दोनों की प्रधानता थी। भारतेन्दु ने 'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी' में इसी द्वन्द्व की अवस्था को व्यक्त किया है; परन्तु यह सौभाग्य की बात है कि अंग्रेजों के गुप्त शोषण ने भारतीयों को चिरकालीन मोह निद्रा से जगाया ही अधिक था। अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति का जो तीव्र प्रभाव भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर पड़ा तो अपनी रक्षा के लिए भारतीय कटिबद्ध हो गये। समाज ही किसी राष्ट्र की आधार-शिला है। उसी की रक्षा राष्ट्र की रक्षा है। अतः भारत में चारों ओर समाज-सुधार के आन्दोलन चले। पूर्व में ब्रह्म-समाज, पश्चिम में

प्रार्थना-समाज और मध्य देश में आर्य समाज के आन्दोलन ऐसे ही आन्दोलन थे। इन सबकी टक्कर सनातन धर्म से थी। इनमें हिन्दी-क्षेत्र में आर्य-समाज के आन्दोलन का ही बोलबाला रहा। आर्य-समाज ने उन सब कामों की भूमिका तैयार की जो आगे चलकर राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने अपनाये। स्त्रियों के सम्मान का प्रश्न, गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली, स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, मातृभाषा का उत्थान, देश की दुर्दशा और आर्थिक हीनता पर ग्लानि, जातीय एकता की भावना आदि को लेकर आर्य समाज ने मृतप्राय हिन्दू जाति में प्राण फूँक दिये। एक प्रकार से आर्य-समाज ने सामाजिक उत्थान के द्वारा अंग्रेजों के राजनीतिक शोषण का ही विरोध किया था। वह इस समय हमको अपनी कट्टरता या संकीर्णता के कारण पुनरुत्थानवादी या प्रतिक्रियावादी लग सकता है पर उस समय उसकी मूल ध्वनि भारतीयता के सच्चे स्वरूप को सामने रखने की थी और गुलामी के शिकंजे में कसे देश के लिए उस समय इससे अधिक और कुछ हो भी नहीं सकता था।

सामाजिक उपन्यास

हिन्दी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२) जब निकला तब हमारे देश में पाश्चात्य प्रभाव के विरुद्ध भावना उभर रही थी। उपन्यास के लेखक श्री श्रीनिवासदास हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार भी थे। उन्होंने इस उपन्यास में अपने युग की सामाजिक दशा का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें एक मध्यवर्गीय व्यापारी का चित्र है जो अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त मध्यवर्ग की बुराइयों से जकड़ा हुआ है। अंग्रेजों की नकल करने वाले उस व्यापारी का बुरी संगत से पतन और अपने एक हितैषी मित्र की सहायता से उसका उद्धार इस उपन्यास की कथा का सार है। इसमें नवीन और प्राचीन विचारों का संघर्ष भली प्रकार दिखाया गया है। उपन्यास यद्यपि सामाजिक है पर देश की दशा के ऊपर उसमें अच्छा प्रकाश डाला गया है। हिंदुस्तान के पतन का कारण एकता की कमी है। युग की समस्याओं के प्रति जागरूक इस उपन्यास का एक प्रमुख पात्र ब्रजकिशोर कहता है--"जब तक हिन्दुस्तान में और देशों से बढ़कर मनुष्य के लिए वस्त्र और सब तरह के सुख की सामग्री तैयार होती थी, रक्षा के उपाय ठीक-ठीक बन रहे थे, हिन्दुस्तान का वैभव प्रतिदिन बढ़ता जाता था; परन्तु जब से हिन्दुस्तान का एका टूटा और देशों में उन्नति हुई, भाप और बिजली आदि कलों के द्वारा हिन्दुस्तान की अपेक्षा थोड़े खर्च, थोड़ी मेहनत, और थोड़े समय में सब काम होने लगा, हिन्दुस्तान की घटती के दिन आ गये।"

'परीक्षा गुरु' से पहले आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'पूर्ण प्रभा चन्द्रप्रकाश' नामक एक मराठी उपन्यास का अनुवाद प्रकाशित कराया था, जिसमें सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया था। स्वयं भारतेन्दु ने एक कहानी 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' के रूप में अपनी आत्म-कथा लिखने का प्रयत्न किया था जो अधूरा रह गया। कुछ लोग इसे हिन्दी-कथा-साहित्य की प्रारंभिक

कृति होने का गौरव देते हैं, पर अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' ही है।

'परीक्षा गुरु' से सामाजिक और नैतिक उत्थान के उद्देश्य से लिखे जाने वाले उपन्यासों की जो परम्परा चली उसमें कितने ही साहित्य महारथियों ने योग दिया। यद्यपि उनमें श्रीनिवासदास की सी कलाकुशलता और दृष्टि नहीं, फिर भी एक बार जो धारा आरम्भ हुई थी उसे बहुत दूर तक वे लोग ले गये। श्रीनिवासदास के बाद इस धारा को जिन लोगों ने अपनी कृतियों से गतिशील बनाया, उनमें पं० बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' दो उपन्यासों की रचना की। पहली रचना में एक युवक के सदाचरण द्वारा एक डाकू का सुधार होना दिखाया गया है और दूसरी रचना द्वारा दो धनी व्यापारियों का कुसंगति से पतन और एक मित्र द्वारा उनका उद्धार होना बताया गया है। पहले उपन्यास का उद्देश्य छात्रों के जीवन का उत्थान है तो दूसरे का सामाजिक बुराइयों के दुष्परिणाम का प्रदर्शन। दूसरे उपन्यास की कथावस्तु 'परीक्षा गुरु' से बहुत कुछ मिलती है। उसका कथानक सुगठित है और भाषा पात्रों के अनुकूल है। यथार्थ चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास प्रेमचन्द के मार्ग को प्रशस्त करने वाला है। राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिन्दू' नामक एक उपन्यास लिखा। यह उपन्यास बालकृष्ण भट्ट या श्रीनिवासदास के उपन्यासों से भिन्न कोटि का है। इसमें दो मित्र गौ-वध बन्द करने का आन्दोलन करते हैं और एक मुसलमान उनका साथ देता है। कट्टरपंथी मुसलमान नाराज होते हैं और अन्त में वे परस्पर लड़ पड़ते हैं, जिसमें दोनों ओर के लोग मारे जाते हैं। इसका अन्त दुःखद है। इसकी भाषा बड़ी प्रांजल और गठी हुई है। वर्णन-शैली में लेखक का सूक्ष्म निरीक्षण और अभिव्यक्ति-क्षमता प्रकट होती है। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास लिखे। उनके पहले उपन्यास का लक्ष्य ठेठ भाषा के प्रयोग में सफलता प्राप्त करने का था पर उसमें अनमेल विवाह का दुष्परिणाम भी दिखाया गया है, जिससे वह सामाजिक-नतिक उपन्यासों की एक कड़ी बन गया है। 'अधखिला फूल' भी एक सामाजिक उपन्यास है। इसका सम्बन्ध ग्राम्य जीवन के उस पहलू से है, जो भूतप्रेत और काली माई के प्रति विश्वास से ही जीवन के चक्र का संचालित होना मानता है। प्रकृति-चित्रण इनके उपन्यासों की जान है।

श्री लज्जाराम मेहता ने संख्या की दृष्टि से अपने पूर्व के इन लेखकों की अपेक्षा कहीं अधिक उपन्यास लिखे हैं। कथावस्तु में कोई नवीनता नहीं रही। उन्होंने 'धूर्त रसिक लाल', 'स्वतन्त्र रमा परतन्त्र लक्ष्मी', 'आदर्श दम्पति', 'बिगड़े

का सुधार', 'आदर्श हिन्दू' आदि उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों के नामों से ही यह प्रकट है कि ये समाजसुधार की भावना से लिखे गये हैं। इनमें कहीं व्यंग्य से और कहीं सीधे समाज की कुरीतियों पर दृष्टिपात किया गया है। इनके अतिरिक्त ठाकुर जगमोहनसिंह ने 'श्यामा स्वप्न' और पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'आश्चर्य वृत्तान्त' नामक उपन्यास संस्कृत कथा-आख्यायिकाओं के ढंग पर लिखे। यद्यपि इनमें सामाजिक-नैतिक लक्ष्य उपदेशात्मकता के रूप में प्रदर्शित नहीं हैं तथापि हैं ये भी सामाजिक। 'श्यामा स्वप्न' से प्रेम और विवाह-सम्बन्धी कठोर रूढ़ियों के प्रति तत्कालीन लोगों की विरोध-भावना का पता चलता है। इसकी भाषा अलंकृत है और स्थान-स्थान पर कवित्व की छटा है। प्राकृतिक सौंदर्य के चित्र बड़े आकर्षक हैं। 'आश्चर्य वृत्तान्त' में एक व्यक्ति स्वप्न में गया से काशी होते हुए चित्रकूट की यात्रा करता है, जिसे मार्ग में अनेक वन-पर्वत पार करने पड़ते हैं। अलौकिक और विस्मयपूर्ण दृश्यों की योजना और अलंकृत भाषा के साथ-साथ कहीं-कहीं समाज की यथार्थ दशा का भी चित्र अंकित किया गया है। इन सब उपन्यासकारों की रचनाओं में अनेक दोष हैं। अतिप्राकृत प्रयोगों का समावेश है, भाषा का अनावश्यक अलंकरण है, कथावस्तु की शिथिलता है तथा लम्बे-लम्बे वर्णन हैं, पर समाज-सुधार की जिस भावना से ये लिखे गये हैं, वह उनके द्वारा अच्छी तरह व्यक्त हो जाती है। बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास और राधाकृष्णदास में तो सामाजिक यथार्थ का वैज्ञानिक रूप भी प्रकट हुआ है।

तिलस्मी और अय्यारी उपन्यास

समाज-सुधार की भावना से लिखा गया 'परीक्षागुरु' उपन्यास सन् १८८२ में प्रकाशित हुआ था। उससे उपदेशप्रधान उपन्यासों की जिस परम्परा का जन्म हुआ वह काफी दूर तक आगे चली अवश्य, पर उसकी गति में बाधा डालने के लिए नये प्रकार के उपन्यासों का जन्म भी साथ ही हुआ। सन् १८८१ ई० से काशी के एक व्यवसायी श्री देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) ने केवल जन-रुचि को सन्तुष्ट करने के लिए तिलस्मी और अय्यारी के उपन्यास लिखे। इन्होंने 'चन्द्रकान्ता' ४ भाग, चन्द्रकान्ता सन्तति' २४ भाग, 'नरेन्द्रमोहिनी' ४ भाग और 'भूतनाथ' १८ भाग तिलस्मी और अय्यारी उपन्यास लिखे। इनमें से अन्तिम उपन्यास वे अधूरा छोड़ गये थे, जिसे उनके पुत्र श्री दुर्गाप्रसाद खत्री ने लिखा। इन उपन्यासों में कल्पना की दौड़ और अति-प्राकृत प्रसंगों की ऐसी अवतारणा है कि ये पाठक के मनोरंजन के लिए यथेष्ट सामग्री रखते हैं। इनकी रोचकता के कारण अनेक उर्दू जानने वालों ने हिन्दी सीखने का प्रयत्न किया। इन उपन्यासों की कथावस्तु प्रायः एक-सी होती है। कोई सुन्दर और वीर राजकुमार किसी सुन्दरी पर मोहित हो जाता है—प्रत्यक्ष देखकर, उसका चित्र देखकर, उसकी कीर्ति सुनकर या उसे स्वप्न में देखकर उसके प्रेम में विकल हो जाता है। राजकुमारी भी ऐसा ही करती है।

परन्तु वे सामाजिक बाधा या पारस्परिक वैमनस्य के कारण एक-दूसरे से नहीं मिल पाते तो दोनों के छोड़े हुए अय्यार एक-दूसरे को मिलाने की चेष्टा करते हैं। अय्यार क्या वस्तु है, इस सम्बन्ध में स्वयं श्री देवकीनन्दन खत्री ने लिखा—

"आज हिन्दी के बहुत से ऐसे उपन्यास हैं, जिनमें कई तरह की बातें व राजनीति भी लिखी गई है, राजदरबार के तरीके वा सम्मान भी जाहिर किए गये हैं, मगर राजदरबार में अय्यार भी नौकर हुआ करते थे, जो कि हरफनमौला याने सूरत बदलना, बहुत-सी दवाओं का जानना, गाना-बजाना, दौड़ना, शस्त्र चलाना, जासूसों का काम देखना वगैरह बहुत-सी बातें जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी, ये लोग अपनी चालाकी से बिना खून गिराये व पल्टनों की जान गँवाए लड़ाई खत्म कर देते थे। इन लोगों की बड़ी कद्र थी।"

इन अय्यारों के घात प्रतिघात से कुतूहल की सृष्टि की जाती थी, इससे उसमें भूल-भुलैयाँ के भीतर जाने का सा मज़ा आता था। यों तो उलझन के लिए अय्यारों का समावेश ही काफी था पर इन उपन्यासों में तिलस्म की भी सृष्टि की गई। डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने तिलस्म के सम्बन्ध में लिखा है—"तिलस्म का भाव हिन्दी में फ़ारसी कहानियों से आया। यह फ़ारसी से उर्दू में आया और अमीर हमजा ने अनेक तिलस्मी उपन्यास लिखे जिनमें अद्‌भुत तिलस्मों की सृष्टि की गई। देवकीनन्दन खत्री ने उर्दू से लेकर हिन्दी में तिलस्मों का प्रयोग किया परन्तु अपनी अद्‌भुत कल्पना-शक्ति और प्रतिभा के बल से उनमें इतना कौशल और कवित्व भर दिया कि वे उर्दू और फ़ारसी के तिलस्मों से कहीं अधिक अद्‌भुत और आकर्षक बन गये।"[1] वस्तुतः अय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों की मूल कथा मध्ययुग के राजपूत वीरों की कथा का ही रूपान्तर है। राजकुमार और राजकुमारी प्रेम के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर नाना प्रकार का कष्ट उठाने के बाद मिलते हैं। यहाँ राजनीतिक दाँव-पेंच के स्थान पर अय्यारों के करतब विशेष महत्त्व के हो गये हैं। ये उपन्यास सुखान्त होते हैं। इनका समस्त आकर्षण आश्चर्यजनक घटनाओं की योजना में है, जिनको ऐसा जमाया जाता है कि वे यथार्थ जान पड़ती हैं। साधारण पढ़ी-लिखी जनता के लिए ये घटनाएँ कितनी आकर्षक हो सकती हैं, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

अय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों की परम्परा के प्रवर्तक श्री देवकीनन्दन खत्री ने अपने विषय के उपन्यासों को चरम उत्कर्ष की सीमा पर पहुँचा दिया था, अतः ऐसे अन्य उपन्यासकारों ने विशेष प्रतिभा का परिचय नहीं दिया। हाँ, उनके पुत्र श्री दुर्गाप्रसाद खत्री ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने पहले तो अपने पिता के द्वारा अधूरे छोड़े हुए उपन्यास 'भूतनाथ' को पूरा किया और फिर साहित्यिक उपन्यासों की रचना की। इनकी मुख्य कृतियाँ हैं –'लाल पंजा', 'प्रतिशोध',

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, २९२-२९३

'रक्तमण्डल' और 'सफेद शैतान'। इनके पात्रों में अधिकांश डकैत हैं जो साहसपूर्ण डाके डालते हैं। इनका उद्देश्य शुभ है, क्योंकि इनके पात्र उन वीरों के पूर्वज हैं, जो आगे चलकर समस्त एशिया को विदेशी साम्राज्यवाद से मुक्त करना चाहते हैं। इन उपन्यासों में अंग्रेजों के प्रति घृणा व्यक्त की गई है और उनको उखाड़ फेंकने के लिए रियासतों के संगठन की सम्भावना पर जोर दिया गया है। इनमें जासूसों ने अय्यारों का स्थान ले लिया है जो या तो किसी डाकू-गिरोह के व्यक्ति को फफोड़कर या स्वयं डाकू बनकर उस गिरोह को बन्दी बनाते हैं। यहाँ लकलखा और अय्यारी का बटुआ नहीं है। उसके स्थान पर मृत्युकिरण, अलोपी वायुयान एटमी बन्दूक और विषैली गैसें हैं, जिनसे अंग्रेज और उनके पिट्ठू राजा-नवाबों के मन में आतंक पैदा किया जाता है। इनके नायक वीर और उच्चादर्श वाले होते हैं। दुर्गाप्रसाद खत्री को छोड़कर डकैती और हत्या के उपन्यासों में उच्चादर्शों की कमी है। शेष उपन्यासों में रेनाल्ड्स तथा अंग्रेजी के दूसरे रहस्यमय उपन्यासों का प्रभाव है। इनमें षड्यन्त्रकारी कांचन और कामिनी के लिए ही डाके डालते या हत्याएँ करते हैं।

जासूसी उपन्यास

साहित्यिक उपन्यासों से मिलते-जुलते ही जासूसी उपन्यास होते हैं, जिनको हिन्दी में लाने का श्रेय श्री गोपालराम गहमरी को है। 'जासूस' नामक एक पत्र भी इन्होंने निकाला था, जिसमें इनके उपन्यास छपते थे। जासूसी उपन्यास अय्यारी और तिलस्मी तथा साहित्यिक उपन्यासों से कुछ भिन्न होते हैं। अय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों में घटनाएँ आगे की ओर चलती हैं और एक के बाद एक घटना स्वाभाविकता से जुड़ी रहती है, पर जासूसी उपन्यासों में किसी हत्या, चोरी या अन्य अपराध का पता वैज्ञानिक सूक्ष्मता से लगाया जाता है, जिससे घटनाएँ पीछे की ओर गतिशील होती हैं। साहित्यिक उपन्यासों में कथावस्तु तो जासूसी उपन्यासों की सी होती है—वही डकैती या हत्या से सम्बन्धित। परन्तु, साहित्यिक उपन्यास अय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों की ही सन्तान हैं, अतः उनमें घटना की गति आगे को ही रहती है। वहाँ अय्यार और तिलस्म के स्थान पर जासूस आ गए हैं, बस इतना ही अन्तर है। जासूसी उपन्यासों में किसी हत्या या चोरी से सम्बन्धित स्थान, व्यक्ति या घटना की बड़ी सूक्ष्मता से जाँच-पड़ताल की जाती है और उसका पता लगाया जाता है। इसमें बड़ी वैज्ञानिक दृष्टि की आवश्यकता होती है। एक-एक सूत्र को सिलसिलेवार पकड़कर आगे बढ़ाया जाता है। इसमें कथा स्वाभाविक होती है और उलझनें बड़ी सरलता से सुलझाई जाती हैं। ऐसे उपन्यासों के लिखने की प्रेरणा गहमरी जी को क्यों हुई, यह उन्होंने 'साहित्य सन्देश' के उपन्यास अंक (अक्तूबर-नवम्बर १९४०) में अपने अनुभव लिखते हुए बताया है। वे लिखते हैं —"बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त का एक उपन्यास 'हीरार मूल्य शेखर धूली' मैंने हिन्दी में 'हीरे का मोल' लिखकर वेंकटेश्वर समाचार में छपवाया। उसको हिन्दी पाठकों ने

इतना पसन्द किया कि मैंने केवल वैसे ही डिटेक्टिव उपन्यासों का मासिकपत्र निकालना निश्चित किया। तभी से मैंने जासूसी उपन्यास लिखने की ठानी। उस समय 'हीरे का मोल' का पसन्द किया जाना और बम्बई में ही महालक्ष्मी के मंदिर में एक खूनी धोबी का, जो महन्त बना बैठा था, मेरी प्राइवेट मुखबरी से पकड़ा जाना, इन दोनों के प्रभाव से मेरी रुचि जासूसी उपन्यास लिखने में बढ़ी और तब से कोई १५० छोटे-बड़े उपन्यास (जासूसी) लिखे और अनुवाद किये।" गहमरी जी की रचनाओं में 'हत्या का रहस्य', 'गेरुआ बाबा', 'मेम की लाश' और 'जासूस की जवानी' विशेष प्रसिद्ध हैं। जासूसी उपन्यासों से पहले गहमरी जी ने दस-बारह गार्हस्थ्य उपन्यास भी लिखे थे, जिनमें 'सास-पतोहू', 'गृहलक्ष्मी', 'देवरानी जिठानी', 'तीन पतोहू' आदि उल्लेखनीय हैं।

आदर्शमूलक उपन्यास

गोपालराम गहमरी के बाद हिन्दी-उपन्यास के आकाश में एक ऐसे नक्षत्र का नाम आता है, जिसने अपने पूर्व की समस्त धाराओं को लेकर तो उपन्यास लिखे ही, उपन्यास की दिशा को अय्यारी और तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यासों से सामाजिकता की ओर मोड़ा। इनका नाम था श्री किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२)। इनका पहला उपन्यास 'प्रणयिनी-परिचय' सन् १८९० में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद इनकी बहुत-सी रचनाएँ निकलीं। गोस्वामी जी संस्कृत के मर्मज्ञ और हिन्दी के पुराने ढंग के कवि थे। सन् १८९८ में इन्होंने 'उपन्यास' नामक एक अखबार निकाला था, जिसमें इन्होंने छोटे-बड़े उपन्यास लिखकर प्रकाशित किये। गोस्वामी जी ने अय्यारी, तिलस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखे। लेकिन इनके सब उपन्यासों के मूल में प्रेम की चर्चा है। वह प्रेम भी रीतिकालीन नायक-नायिकाओं का प्रेम है। ये उपन्यास अश्लील भी हो गए हैं। रीतिकालीन प्रेम या शृंगार-भावना इनके ऊपर इतनी बुरी तरह हावी है कि अय्यारी और तिलस्मी, जासूसी और ऐतिहासिक उपन्यासों तक में वह विद्यमान है। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में अनेक दोष हैं, पर हिन्दी में पहले ऐतिहासिक उपन्यासकार होने के कारण इनका महत्त्व बहुत अधिक है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में इन्होंने लिखा है—"यहाँ कल्पना का राज्य है, यथेष्ट लिखित इतिहास का नहीं और इसमें आर्यों के यथार्थ गौरव का गुण-कीर्तन है। × × × इसलिए लोग इसे इतिहास न समझें और इसकी सम्पूर्ण घटना को इतिहासों में खोजने का उद्योग भी न करें"[1] सम्भवतः यही कारण है कि इनके उपन्यास 'लखनऊ की कब्र' में अय्यारों और तिलस्म का वर्णन है, 'शोणित तर्पण' में जासूसी का चमत्कार है और 'कोहेनूर' तथा 'शीशमहल' में नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंग का आश्रय लिया गया है।

---

१. 'तारा' उपन्यास की भूमिका।

इनके उपन्यासों की भाषा पात्रानुकूल होती है, पर उसका रूप कहीं संस्कृत-तत्सम शब्द बहुल है और कहीं अरबी-फ़ारसी मिश्रित। इससे भाषा की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है—"कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी-वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला। × × उर्दू जबान और शेरसखुन की बेढंगी नकल से, जो असल से भी कभी-कभी साफ़ अलग हो जाती है, इनके उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है।"[1] ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ। 'राजकुमारी', 'अंगूठी का नगीना' आदि उपन्यासों में इनकी भाषा का आदर्श वही है जो भारतेन्दु का है। उनमें तद्भव और देशज शब्दों के साथ मुहावरों और कहावतों का भी अच्छा प्रयोग किया गया है। रूप-सौंदर्य के वर्णन और दृश्य-चित्रण में जो कवित्व की छटा मिलती है वह इनकी भाषा की विशेषता है। 'तारा', 'चपला', 'तरुण तपस्विनी', 'रज़िया बेगम', 'लवंगलता', 'हृदयहारिणी', 'हीराबाई' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं।

भावात्मक उपन्यास

श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने उपन्यास को सामाजिकता देने की चेष्टा की थी पर वे रीतिकालीन श्रृंगार की छाया लिये हुए हैं, यह हम कह चुके हैं। उनके बाद हिन्दी में भावात्मक उपन्यासों का सृजन हुआ। इस दिशा में आरा के बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सन् १९१२ में उनका 'सौंदर्योपासक' और उसके बाद 'राधाकान्त' उपन्यास प्रकाशित हुआ। हिन्दी में 'कादम्बरी' की गद्यकाव्यात्मक शैली पर ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामा स्वप्न' और पं० अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' इन उपन्यासों से पहले निकल चुके थे, पर उनमें घटना-बाहुल्य बना हुआ था क्योंकि वे ऐसे ही युग में लिखे गए थे जब घटनाप्रधान उपन्यासों की तूती बोल रही थी। बाबू ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यास कादम्बरी-शैली से भिन्न बंगला के 'उद्भ्रांत प्रेम' नामक ग्रंथ के अनुकरण पर लिखे गए। 'उद्भ्रांत प्रेम' बंगला के श्री चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय की रचना है, जिसमें लेखक अपनी मृत पत्नी के शोक में अपने हृदयोद्गार व्यक्त करता है। 'सौंदर्योपासक' में नायक अपने विवाह के समय अपनी साली पर मुग्ध होता है। होते-होते दोनों ही एक दूसरे के विरह में विकल रहते हैं। सामाजिक बंधन नायक की पत्नी और साली दोनों को मृत्यु का ग्रास बनाते हैं और अन्त में नायक रोने को रह जाता है। इन उपन्यासों में कथावस्तु या चरित्र-चित्रण की महत्ता नहीं रहती। घटनाएँ भी बहुत ही कम होती हैं। करुणा और भावपूर्ण उद्गारों में ही इन उपन्यासों का सौंदर्य निहित रहता है। यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से ये अनमेल विवाह की समस्या पर भी प्रकाश डालते हैं और सामाजिक रूढ़ियों की विभीषिका की ओर भी हमारा ध्यान खींचते हैं, तथापि इनका मूल ध्येय कवित्वपूर्ण भाव-व्यंजना ही है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, पृष्ठ ५००

आगे चलकर इस शैली को श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मनोरमा' में या श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने 'भ्रमित पथिक' में अपनाया, पर इन उपन्यासों का अधिक प्रचार नहीं हुआ। इसके दो कारण थे। एक तो महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि के अंग्रेजी अनुवाद के हिंदी रूपांतर ने गद्य गीतों को, जिनमें ऐसे उद्गार बड़ी सरलता से व्यक्त हो सकते थे, जन्म दिया और यों जो बात इन उपन्यासों में कही जा सकती थी वह गद्य गीतों में कही जाने लगी। दूसरी बात यह हुई कि हिन्दी उपन्यास में यथार्थ चित्रण ने अपना सिक्का इसी समय जमाया। विशेषकर प्रेमचन्द के उदय ने ऐसे उपन्यासों का भविष्य सदैव को अन्धकारमय कर दिया। इतना होने पर भी हिन्दी की गद्यकाव्य धारा को इस शैली के उपन्यासों से बड़ा बल मिला।

अनूदित उपन्यास

अब तक हमने मौलिक उपन्यासों की चर्चा की है। लेकिन मौलिक से अधिक नहीं तो कम से कम बराबर की संख्या में जो अनूदित उपन्यास हिंदी में आये उनका उल्लेख होना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना हम उपन्यास-साहित्य की सामग्री और उसकी दिशा का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते। यों तो भारतेन्दु बाबू ने 'पूर्ण. प्रभा चन्द्रप्रकाश' नाम से सबसे पहले मराठी उपन्यास का एक अनुवाद प्रकाशित कराया था, पर आगे चलकर हिन्दी में बंगला-उपन्यासों का अनुवाद विशेष रूप से हुआ। जिन बंगला-लेखकों के उपन्यासों के अनुवाद हुए उनमें बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, शरचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त और चण्डीचरण के नाम प्रमुख हैं। इनके उपन्यासों के अनुवाद राधाकृष्णदास, चक्रधर सिंह, गदाधर सिंह, कार्तिकप्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, ईश्वरीप्रसाद शर्मा और रूपनारायण पाण्डेय ने किये। अन्य भाषाओं में मराठी और उर्दू से अनुवाद हुए। मराठी से श्री रामचन्द्र वर्मा ने अनुवाद किए और उर्दू से श्री गंगाप्रसाद गुप्त ने। अंग्रेजी से रेनाल्ड्स के अनुवाद हुए। वस्तुतः उर्दू और अंग्रेजी से कोई अच्छा अनुवाद नहीं हुआ। सन् १९०५ के रूस-जापान युद्ध की झलक देने वाले 'टाम काका की कुटिया' को छोड़कर अंग्रेजी से तो अश्लील और जासूसी उपन्यास ही अधिक आये। उर्दू का भी यही हाल रहा। परिणाम यह हुआ कि अनुवादों का शुभ प्रभाव नहीं पड़ा। एक प्रकार से इनका प्रभाव घातक ही रहा।

अनुवादों में बँगला का ही हिन्दी पर विशेष ऋण है। इसका कारण यह है कि बंगाली लेखकों में बंकिम, रवीन्द्र, शरत् आदि में राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना बड़े ऊँचे दर्जे की थी। अंग्रेजी शिक्षा के सुमधुर फल भी पहले बंगालियों को ही चखने को मिले थे, इसलिए उनके उपन्यासों में यथार्थ जीवन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की गूँज थी। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में, "पहले हम 'अलिफ़ लैला' के देश में थे। बँगला के सम्पर्क से हम अपनी माँ-बहनों, भाई-बंधुओं के समाज

में आए ।"[1] उनसे हिन्दी-उपन्यास-लेखकों और जनता दोनों को लाभ हुआ । उपन्यास-लेखकों को यह लाभ हुआ कि वे युग के अनुकूल बँगला-उपन्यासों के अनुकरण पर श्रेष्ठ उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए और जनता, जो अब तक 'तिलस्मी होशरुबा' या 'लन्दन रहस्य' जैसे तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की दुनिया में यथार्थ जीवन की समस्याओं से हटकर जी रही थी, सुरुचिपूर्ण उपन्यासों को पढ़ने के लिए लालायित हो उठी । लेखकों को बँगला से कितना लाभ हुआ होगा, इसका अनुमान प्रेमचन्द की इस बात से लगता है कि उन्होंने रवीन्द्रनाथ की कुछ गल्पों का अनुवाद भी छपवाया था । लेकिन बँगला के अत्यधिक अनुकरण से एक बड़ी भारी हानि भी हुई । लेखकों में अनुकरण-शक्ति का रोग बढ़ गया और वे बहुत दिन बाद जाकर स्वतंत्र मार्ग खोज पाये ।

निष्कर्ष

यदि उपर्युक्त उपन्यास-साहित्य के सम्बन्ध में सारांशत: कुछ कहा जाये तो हम देखेंगे कि हमारा उपन्यास-साहित्य आरम्भ में सामाजिक और नैतिक ध्येय को लेकर चला है । उस समय पाश्चात्य और पौर्वात्य विचारधाराओं में टक्कर हुई थी । अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति के प्रति ऐसा भयंकर मोह देश में था कि अपनी संस्कृति तुच्छ जान पड़ती थी । आर्थिक शोषण भी था पर उसका प्रतिकार न कर समाजोत्थान द्वारा ही अपनी रक्षा का यत्न हुआ । आर्यसमाज ने उसका बीड़ा उठाया और समाज में व्याप्त कुरीतियों और रूढ़ियों का उन्मूलन करने की चेष्टा की । आरम्भिक उपन्यासों में ये ही बातें प्रकारान्तर से रखी गई हैं । दबे-दबे राजनीतिक असन्तोष भी व्यक्त किया गया है । पर उस समय मध्यवर्गीय समाज में जो अनैतिकता व्याप्त थी उसके फलस्वरूप अय्यारी और तिलस्मी या जासूसी और रोमानी प्रेम के उपन्यासों का दौर चला । यथार्थ से दूर एक काल्पनिक जगत् में पलायन के लिए इन उपन्यासों ने अच्छा मसाला जुटाया । व्यावसायिक मनोवृत्ति ने भी लेखकों को ऐसी रचनाएँ लिखने को विवश किया जो बिक सकें । दूसरे उर्दू और अंग्रेजी का भी इसी प्रकार का सस्ता साहित्य लोगों के सामने था । इन सबके कारण इस अफीम के नशे जैसे साहित्य ने सामाजिक-नैतिक उपन्यासों की यथार्थवादी परम्परा रोक दी । कभी-कभी 'रक्तमंडल' जैसे उपन्यासों में हमें विद्रोह की ध्वनि सुनाई पड़ती है, पर यह इतनी मन्द है कि उससे दिमागी अय्याशी को कोई धक्का नहीं लगता । इस षड्यन्त्र और विलास के वातावरण में लेखक ऐसे खो गए हैं कि किशोरीलाल गोस्वामी तो सन् १६१८ में प्रथम महायुद्ध के समय लिखे 'अँगूठी का नगीना' में भी वही हलके शृंगार की झाँकी देते हैं । लेकिन सौभाग्य से जब इन छिछले उपन्यासों की बाढ़ आई हुई थी तभी प्रेमचन्द का उदय हो गया और उनके आते ही हिन्दी और उर्दू दोनों के उपन्यास-जगत् में क्रान्ति मच गई । उपन्यास यथार्थ

---

१. साहित्य-सन्देश, उपन्यास अंक, अक्तूबर-नवम्बर १६४० पृष्ठ ५७

जीवन का चित्र हो गया। प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासों में कथानक अनियन्त्रित होते थे, प्रासंगिक घटनाओं के लम्बे-चौड़े ब्यौरे दिये जाते थे, चरित्रों के विकास या उत्थान-पतन की चिंता नहीं की जाती थी; भाषा के साथ अनेक प्रकार से खिलवाड़ होते थे, और लम्बे-चौड़े वर्णनों की भरमार रहती थी। ऐसी अनिश्चितता की अवस्था थी प्रेमचन्द से आने के पूर्व। फिर भी इन सबसे प्रेमचन्द का मार्ग प्रशस्त हुआ। एक कुशल कलाकार की भाँति उन्होंने समस्त झाड़-झंखाड़ों को काट-छाँटकर उपन्यास के लिए सुन्दर राजमार्ग तैयार कर दिया।

: ५ :

प्रेमचन्द के उपन्यासों का लेखन एवं प्रकाशन-काल

—डॉ० गोपालराय

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय उपन्यासकार प्रेमचन्द को दिवंगत हुए अभी तीस वर्ष भी नहीं हुए ; पर उपन्यासों के रचना-काल तथा प्रकाशन-तिथियों के सम्बन्ध में भ्रान्तिपूर्ण और अप्रामाणिक सूचनाओं का इतना अम्बार हिन्दी-आलोचना और अनुसन्धान-ग्रन्थों में जमा हो चुका है कि यदि उनका उल्लेख मात्र किया जाए, तो वह उबाने और क्षोभ पैदा करनेवाला होगा। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें हिन्दी में लिखी गई हैं, पर किसी ने भी, श्रीमती डॉ० गीता लाल के जनवरी १९६० में 'साहित्य' में प्रकाशित 'प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ' शीर्षक निबन्ध के पूर्व,[1] प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रकाशन-तिथियों के सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार नहीं किया है। इन तिथियों के सम्बन्ध में हिन्दी-आलोचकों और शोधकर्त्ताओं का मनमानापन देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। बिना कोई प्रमाण दिए, इन आलोचक-प्रवरों ने अशुद्ध तिथियों की सूचना इतने धड़ल्ले और साहस के साथ दी है कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है। डॉ० गीता लाल ने अपने निबन्ध में इन भ्रान्तियों का उल्लेख किया है। साथ ही उन्होंने प्रेमचन्द से सम्बद्ध तिथियों की प्रामाणिक सूचना देने का भी प्रयत्न किया है।

टिप्पणी—इस निबन्ध की अधिकतर सूचनाएँ आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी; पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना; पटना कालेज पुस्तकालय पटना; चैतन्य पुस्तकालय पटना सिटी; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पुस्तकालय पटना; जनता पुस्तकालय चुन्नी तथा पटना की पुस्तकों की दुकानों से प्राप्त की गई हैं। स्थान की मितव्ययीता के लिए निम्नलिखित संक्षेपों का प्रयोग किया गया है।

१. डा० गीता लाल : प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी तिथियों में भ्रांतियाँ, साहित्य, जनवरी १९६०।

डॉ० गीता लाल ने प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रकाशन-तिथियों से सम्बद्ध जो सूचनाएँ दी हैं, वे अधूरी हैं और उनमें से कुछ दोषपूर्ण और कुछ शुद्ध होते हुए भी पुष्ट प्रमाण-युक्त नहीं हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इस अभाव की पूर्ति करने का यत्किंचित् प्रयत्न किया जा रहा है।

उर्दू की रचनाएँ

प्रेमचन्द हिन्दी में लिखना आरम्भ करने के पूर्व उर्दू में रचना करते थे, यह एक सुज्ञात तथ्य है, किन्तु उनकी उर्दू-रचनाओं के सम्बन्ध में प्रामाणिक और भ्रान्तिरहित सूचनाओं का प्रायः अब तक अभाव ही था। हिन्दी के आलोचक इन रचनाओं के सम्बन्ध में अर्धप्रामाणिक, अधूरी, अस्पष्ट और परस्पर विरोधी सूचनाएँ देकर ही सन्तुष्ट हो जाया करते थे। हंसराज रहबर[1], डॉ० राजेश्वर गुरु[2], रामदीन गुप्त[3], ब्रजरत्नदास[4], डॉ० गीता लाल[5] आदि आलोचकों और शोधकर्त्ताओं में से किसी ने भी प्रेमचन्द के उर्दू उपन्यासों के सम्बन्ध में सन्तोषजनक सूचनाएँ

प० वि० पु० : पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना।
आ० भा० पु० : आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी।
प० का० पु० : पटना कालेज पुस्तकालय, पटना।
चै० पु० : चैतन्य पुस्तकालय, पटना सिटी।
ब० रा० भा० प० पु० : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पुस्तकालय, पटना।
ज० पु० : जनता पुस्तकालय, चुन्नी।
बि० बु० से० : बिहार बुक सेन्टर, पटना।
हि० पु० ए० : हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, पटना।
हि० पु० स० : हिन्दी पुस्तक संसार, पटना।
रा० प्र० मं० : राष्ट्रीय प्रकाशन मण्डल, पटना।
दि० पु० स० : दिल्ली पुस्तक सदन, पटना।

---

१. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५२), पृ० २१०-२१६
२. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन (मध्यप्रदेशीय प्रकाशक समिति, भोपाल, १९५८)।
३. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गांधीवाद (हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, मार्च, १९६१)।
४. ब्रजरत्नदास : हिन्दी उपन्यास साहित्य, (हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी; सं० २०१३ वि०)।
५. डॉ० गीता लाल : प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ, साहित्य, जनवरी १९६०।

नहीं दी हैं। इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न श्री अमृतराय ने अभी हाल में प्रकाशित अपने 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' नामक ग्रन्थ में किया है।[1]

प्रेमचन्द का प्रथम उर्दू उपन्यास सम्भवत:, 'हमखुर्मा व हमसबाव' है, जिसका एक संस्करण बाबू महादेवप्रसाद वर्मा द्वारा और दूसरा नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुआ था।[2] दोनों संस्करणों में से किसी में भी प्रकाशन-तिथि नहीं दी हुई है। जनाब इम्तयाज अली ताज के नाम २९ जनवरी १९२१ के अपने पत्र में प्रेमचन्द ने इसका रचना-काल लगभग १९०० ई० बताया था।[3] सम्भव है यह उपन्यास १९०० ई० में लिखा गया हो। पर इसका प्रकाशन किस वर्ष हुआ यह बताना कठिन है, क्योंकि इसके प्रथम संस्करण की प्राप्त प्रतियों में प्रकाशन-काल नहीं मिलता। सितम्बर १९०६ के 'जमाना' नामक उर्दू-पत्र में इस उपन्यास का प्रथम विज्ञापन छपा था[4] इससे इसका प्रकाशन काल १९०६ ई० या उससे ईषत्पूर्व सिद्ध होता है। यही उपन्यास १९०७ ई० में 'प्रेमा' शीर्षक से इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। 'हमखुर्मा व हमसवाब', 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' के मंगलाचरण खण्ड में सम्मिलित किया गया है।

प्रेमचन्द का दूसरा उर्दू-उपन्यास सम्भवत: 'किशना' है। अपने २९ जनवरी १९२१ के पत्र में प्रेमचन्द ने जनाब इम्तयाज अली 'ताज' को लिखा था, "हमखुर्मा व हमसवाब व किशना वगैरह मेरी इब्तदाई तसानीफ़ हैं। पहली किताब तो लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस ने शाया की थी और दूसरी किताब बनारस के मेडिकल हाल प्रेस ने। यह ग़ालिबन उन्नीस सौ की तसानीफ़ है।"[5] यह उपन्यास १९०७ ई० अथवा उसके निकट-पूर्व में मेडिकल हाल प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ था।[6] इसका विज्ञापन सर्वप्रथम 'ज़माना' के अगस्त १९०७ के अंक में प्रकाशित हुआ था।[7] अक्टूबर-नवम्बर १९०७ के 'ज़माना' के अंक में विवेच्य उपन्यास की श्री नौबतराय 'नज़र' लिखित एक समालोचना छपी थी, जिसकी कुछ महत्वपूर्ण पंक्तियाँ निम्नोद्धृत हैं :—

"यह एक उपन्यास है और हमारे सोशल रिफ़ार्म से ताल्लुक रखता है··· उन्होंने औरतों में जेवर के फ़िज़ूल शौक की अच्छी चिथाड़ की है, गोया यह एक

---

१. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही (हंस प्रकाशन, इलाहाबाद; प्रथम संस्करण, प्रेमचन्द-स्मृति दिवस, १९६२)।
२. वही, जीवनी खण्ड, पृ० ५२ तथा ६५३
३. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२९
४. वही, जीवनी खण्ड, पृ० ६१
५. वही चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२९
६. वही, जीवनी खण्ड, प० १०५
७. वही, पृ० १०४

ऐसी औरत की लाइफ है जिसे जेवरों का शौक नहीं, बल्कि सनक थी। ··साथ ही शादी-ब्याह की कुछ रस्मों का भी खाका उड़ाया गया है, खासकर क़रार-दाद और उसका सख्ती से वसूल करना। ··· किताब में जो भाषा इस्तेमाल की गई है वह मुंशी साहब की प्रांजल लेखन-शैली से बहुत कम मिलती है। शायद यह भाषा इसलिए इस्तेमाल की गई है कि जिन लोगों का सुधार अभीष्ट है, उनके लिए रोचक हो। ···यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें कोई हीरो या हीरोइन नहीं है और इसे उपन्यास कहना कठिन है। दरअसल यह उपन्यास है भी नहीं बल्कि स्त्रियों की एक कुत्सित प्रवृत्ति का खाका उड़ाया गया है जिसे अंग्रेजी में कैरिकेचर कहते हैं।[1]

'किश्ना' सम्प्रति अनुपलब्ध है।

प्रेमचन्द का सम्भवत: तीसरा उर्दू-उपन्यास 'असरारे-मआविद उर्फ़ देवस्थान-रहस्य' है जो वाराणसी के एक उर्दू साप्ताहिक पत्र 'आवाज़-ए-ख़ल्क' में ८ अक्तूबर १९०३ से फरवरी १९०५ ई० तक धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था।[2] यह उपन्यास पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुआ था या नहीं, इसकी सूचना नहीं मिलती। अमृतराय ने 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' के मंगलाचरण खण्ड में इस उपन्यास को सम्मिलित कर हिन्दी-साहित्य का महान् कल्याण किया है। इस उपन्यास में एक महन्त और उसके शिष्यों की पोल खोली गई है।

'हमखुर्मा व हमसबाब', 'किश्ना' और 'असरारे-मआविद' में कौन पहला है, कौन दूसरा और कौन तीसरा, इसका निर्णय करना असम्भवप्राय है। इनकी ठीक रचना-तिथि अज्ञात है।

प्रेमचन्द ने उर्दू में 'रूठी रानी' नाम का भी एक उपन्यास लिखा था, जो 'ज़माना' मासिक पत्र में १९०७ ई० में, अप्रैल से अगस्त तक के अंकों में, धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था।[3] इसे ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। पुस्तक-रूप में इस उपन्यास के प्रकाशित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' के मंगलाचरण-खण्ड में यह उपन्यास सम्मिलित किया गया है।

प्रेमचन्द ने उर्दू में 'जलवए-ईसार' नाम का एक उपन्यास भी लिखा था, जो १९१२ ई० में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। यही उपन्यास बाद में हिन्दी में 'वरदान' नाम से प्रकाशित हुआ।[4]

इन आरम्भिक उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचन्द के उर्दू में रचित कुछ और उपन्यास हैं, जैसे 'बाजारे-हुस्न', 'गोश-ए-आफियत', 'चौगाने-हस्ती', 'पर्दए-मजाज़'

---

१. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी खण्ड, पृ० १०५
२. वही, पृ० ५२ तथा ६५३
३. वही, जीवनी खण्ड, पृ० १०५
४. वही, जीवनी खण्ड, पृ० ६५४ तथा ११९

'बेवा', 'गऊदान' आदि। इनका उल्लेख प्रेमचन्द के हिन्दी-उपन्यासों के विवेचन के प्रसंग में किया जाएगा।

प्रथम हिन्दी उपन्यास : प्रेमा

जहाँ तक प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को ज्ञात हो सका है, प्रेमचन्द का हिन्दी में प्रकाशित पहला उपन्यास 'प्रेमा' है। इस उपन्यास की एक प्रति आर्य भाषा पुस्तकालय, काशी में उपलब्ध है[१], जिसके मुखपृष्ठ पर लेखक का नाम 'बाबू नवाब राय बनारसी' और प्रकाशन-काल सन् १९०७ ई० मुद्रित है। जुलाई १९०७ ई० के 'हिन्दी प्रदीप' में इस उपन्यास की एक संक्षिप्त बड़ी रोचक समीक्षा प्रकाशित हुई थी जो निम्नलिखित है—

"प्रेमा एक उपन्यास...दो विधवाओं के विवाह का प्रस्ताव इसमें है।... लिखने वाले ने तो अपने समय में विधवा-विवाह के अनुमोदन में इसे लिखा है पर सो नहीं विधवा-विवाह की जीट इससे भले ही उड़ती है। इण्डियन प्रेस के मालिक को चाहिए कि ऐसी पुस्तक न छापा करें।[२]

हिन्दी के आलोचकों ने 'प्रेमा' की प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में जो उत्तर-दायित्वहीन सूचनाएँ दी हैं, उनके कुछ नमूने दर्शनीय हैं। श्री हंसराज रहबर के अनुसार 'यह उपन्यास भी १९०६ में लिखा गया है।'[३] श्री ब्रजरत्नदास ने एक स्थान पर इसकी प्रकाशन-तिथि सं० १९६४ वि०[४] और दूसरे स्थान पर १९०५ ई० दी है।[५] सम्भव है दूसरी तिथि मुद्रण की भूल हो, फिर भी यह चिन्त्य तो है ही। श्री रामदीन गुप्त ने इसकी प्रकाशन-तिथि सं० १९०४ या १९०५ बताई है।[६] डॉ० रामरतन भटनागर इसका रचना-काल १९०५ के लगभग मानते हैं।[७]। प्रेमचन्द पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले और डाक्टर की उपाधि प्राप्त करने वाले, डा० राजेश्वर गुरु इस उपन्यास का रचना-काल ९१०२ ई० तथा इसे 'अप्राप्य' अप्रका-

---

१. 'प्रेमा' के मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि "...प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह, रोचक शिक्षाप्रद और नूतन उपन्यास। लेखक : बाबू नवाबराय बनारसी। प्रकाशक : इण्डिन प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम बार, १००० कापी। सन् १९०७ ई०। मूल्य ।।=) (गुटका आकार पृ० सं० २३६)"
२. हिन्दी प्रदीप, जिल्द २७, सं० ७, जुलाई १९०७, प्रेमा
३. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २१६
४. ब्रजरत्नदास : हिन्दी उपन्यास साहित्य, पृ० १८५
५. वही, पृ० १८६
६. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गांधीवाद, पृ० १४५
७. डा० रामरतन भटनागर : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० ३५

शित घोषित करते हैं ।[1] स्पष्ट है कि उपर्युक्त आलोचक-श्रोत्रियों में से किसी ने भी मूल पुस्तक को देखने का कष्ट नहीं उठाया है ।

'प्रेमा' हिन्दी में रचित मौलिक उपन्यास न होकर १६०६ ई० अथवा उसके ईषत्पूर्व प्रकाशित 'हमखुर्मा व हमसबाब' का हिन्दी रूपान्तर है । दयानारायन निगम के नाम १७ जुलाई १६२६ को लिखित अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने खुद 'प्रेमा' का प्रकाशन-काल १६०४ ई० बताया था ।[2] अपने एक दूसरे पत्र में, जो ८ जुलाई, १६२७ को विनोदशंकर व्यास को लिखा गया था, प्रेमचन्द ने 'प्रमा' का रचना-काल १६०० ई० लिखा था ।[3] इनमें पहली, यानी प्रकाशन-तिथि तो अवश्य ही गलत है, क्योंकि इण्डियन प्रेस से प्रकाशित 'प्रेमा' के प्रथम संस्करण में १६०७ तिथि मुद्रित है । दूसरी, यानी रचना-तिथि, के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता । प्रेमचन्द ने ये तिथियाँ अपने स्मरण के आधार पर दी होंगी और उनकी 'मैमोरी' कमजोर थी, इसे उन्होंने खुद एक स्थान पर स्वीकार किया है ।[4]

'प्रेमा' का अपने मूल रूप में दूसरा संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ । यह पाठकों में उसके प्रिय न होने का स्पष्ट प्रमाण है ।

सेवा-सदन

प्रेमचन्द का हिन्दी में प्रकाशित दूसरा और हिन्दी-साहित्य में युग-प्रवर्तन कर देने वाला उपन्यास 'सेवा-सदन' है जो हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, से १६१८ ई० में प्रकाशित हुआ था । इस उपन्यास का प्रथम संस्करण चैतन्य पुस्तकालय, गयाघाट, पटना सिटी, में उपलब्ध है,[5] जिसमें मुखपृष्ठ पर इसका प्रकाशन-काल 'प्रथम बार, संवत १६७५' मुद्रित है ।

'सेवा-सदन' की प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में भी हिन्दी-आलोचकों और शोधकर्ताओं ने अपने दयनीय अज्ञान का परिचय दिया है । हंसराज रहबर के अनुसार 'सेवा-सदन (बाजारे-हुस्न) शायद १६१४ में' छपा था ।[6] श्री. ब्रजरत्नदास के अनुसार 'सं० १६७१ के लगभग बाजारे-हुस्न का हिन्दी रूपान्तर सेवा-सदन······

१. डा० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, परिशिष्ट १
२. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १६१
३. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १८२
४. वही, विविध प्रसंग ३, पृ० ७१
५. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—सेवा-सदन, लेखक—"सप्त सरोज, नवनिधि शेख सादी आदि के रचयिता श्रीयुत प्रेमचन्द, प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक एजेंसी, १२६, हरिसन रोड, कलकत्ता, प्रथम बार सं० १६७५; २॥), पृ० संख्या ५१० के लगभग ।"
६. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० ८०

निकला ।'[1] डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने 'सेवा-सदन' का प्रकाशन-काल १९१४ ई० बताया है ।[2] डॉ० राजेश्वर गुरु के अनुसार सेवा-सदन प्रेमचन्द की और सम्भवतः हिन्दी की वह अद्भुत कृति है जिसने १९१६-१७ में हिन्दी पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था ।[3] अन्य आलोचकों की बात हम छोड़ भी दें पर एक शोधकर्ता से जिसके अध्ययन का विषय प्रेमचन्द और उनके उपन्यास हैं, इस प्रकार के उत्तर-दायित्व-शून्य कथन की अपेक्षा हम नहीं रखते ।

डॉ० श्रीकृष्ण लाल[4], डॉ० प्रतापनारायण टण्डन[5], डॉ० गीता लाल[6] तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त[7] ने, सेवा-सदन का प्रकाशन-काल १९१८ ई० बताया है, जो शुद्ध है । इनमें से प्रथम दो लेखकों ने अपने कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया है । डॉ० गीतालाल के प्रमाण भी अत्यन्त दुर्बल हैं । डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ' शीर्षक निबन्ध में १९१९ ई० के बंगाल के गजट में प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक-पुस्तक सूची के आधार पर 'सेवा-सदन' के प्रथम संस्करण की प्रकाशन-तिथि १५-१२-१८ दी है जो एक पुष्ट प्रमाण है ।

इधर हाल में श्री अमृतराय द्वारा लिखित एवं सम्पादित 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' नामक ग्रन्थ कई खण्डों में प्रकाशित हुआ है । यह देखकर आश्चर्य होता है कि प्रेमचन्द के सम्बन्ध में प्रामाणिक सूचनाएँ प्रस्तुत करने का दावा करने वाले इस नवीनतम ग्रन्थ में भी प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रकाशन-तिथियों के सम्बन्ध में अनेक दयनीय भ्रान्तियाँ हैं । 'सेवा-सदन' के प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में उक्त ग्रन्थ में कहा गया है, "छपाई में लगभग सालभर का समय लेकर सेवा-सदन १९१९ के मध्य में प्रकाशित हुआ ।"[8] इस सूचना का आधार लेखक की कल्पना के अलावा और कुछ नहीं हो सकता । पूरे ग्रन्थ में कहीं भी इस कथन के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया गया है । चैतन्य पुस्तकालय, पटना, में उपलब्ध 'सेवा-सदन' की प्रति में प्रदत्त सूचना के प्रकाश में यह सूचना मनमानेपन का उदाहरण

---

१. ब्रजरत्नदास : हिन्दी उपन्यास साहित्य, पृ० १८५
२. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : एक विवेचना (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।) (प्रकाशन-काल नहीं दिया हुआ है) पृ० ४४
३. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १४०-४७
४. डॉ० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ३१२
५. डॉ० प्रतापनारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास में शिल्पविधि का विकास, पृ० २८१
६. डॉ० गीता लाल : प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य संबंधी तिथियों में भ्रांतियाँ, साहित्य, जनवरी १९६० ।
७. साहित्यः वर्ष ११, अंक १, अप्रैल १९६० ई० ।
८. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० १९३ तथा ६५४

मात्र सिद्ध होती है। उक्त प्रति में 'सेवा-सदन' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन-काल सं० १९७५ विक्रमी मुद्रित है। सं० १९७५ वि० का अर्थ है मार्च (लगभग) १९१८ से मार्च (लगभग) १९१९ ई० के बीच की अवधि। पर किसी भी हालत में हम सं० १९७५ को खींचकर १९१९ के मध्य में नहीं ला सकते। इसके अतिरिक्त खुद प्रेमचन्द ने २४ अप्रैल १९१९ को लिखित अपने एक पत्र में श्री दयानारायन निगम को सूचित किया था, "आप यह सुनकर खुश होंगे कि मेरे हिन्दी-नाविल ने खूब शोहरत हासिल की और अकसर नक़ादों ने उसे हिन्दी जबान का बेहतरीन नाविल कहा है। यह बाजारे-हुस्न का तर्जुमा है।"[१] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'सेवा-सदन अप्रैल' १९१९ से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका था। फिर फरवरी १९१९ ई० की सरस्वती में 'सेवा-सदन' का निम्नलिखित परिचय प्रकाशित हुआ था : "सेवा-सदन; श्रीयुत प्रेमचन्द; प्रकाशक : महावीरप्रसाद पोद्दार, व्यवस्थापक, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता; पृ० ५१२। भाषा सरल और लिखने की शैली रोचक है। यह उपन्यास की पुस्तक वेश्या-वृत्यादि बहुतेरी सामाजिक कुरीतियों को दिखलाती है।"[२] जब फरवरी १९१९ में 'सेवा-सदन का विज्ञापन निकला तो उपन्यास कम से कम उससे एक-दो महीने पूर्व तो अवश्य ही प्रकाशित हो गया होगा। फिर डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी बंगाल के गजट में १९१९ ई० में, प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक पुस्तक-सूची के आधार पर 'सेवा-सदन' की प्रकाशन-तिथि '१५-१२-१८' दी है।[३]

२ जून १९१८ को श्री दयानारायन निगम के नाम लिखे अपने पत्र में प्रेमचन्द ने लिखा था, "···अपने हिन्दी नाविल को प्रेस में देना है।"[४] फिर अपने २३ दिसम्बर १९१८ के पत्र में प्रेमचन्द ने निगम साहब को सूचित किया, "बाज़ारे-हुस्न के मुताल्लिक़ भी गुफ़्तगू हो रही है। इसका हिन्दी एडीशन दस फ़ार्म छप चुका है।"[५] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने निबन्ध में 'सेवा-सदन' की प्रकाशन-तिथि १५ दिसम्बर १९१८ ई० दी है। इससे सिद्ध होता है कि 'सेवा-सदन' २ जून १९१८ और १५ दिसम्बर १९१८ के बीच की अवधि में प्रकाशित हुआ।

तात्पर्य यह कि सं० १९७५ वि० को हम १९१९ ई० में नहीं ला सकते—१९१९ के मध्य तक तो किसी प्रकार नहीं। अतः 'प्रेमचन्द' : कलम का सिपाही' में प्रदत सूचना भ्रामक है।

---

१. अमृतराय : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ८३
२. सरस्वती, भाग २०, सं० २, फरवरी १९१९ ई०
३. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ, साहित्य, अप्रैल १९६०।
४. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ७०
५. वही चिट्ठी-पत्री १, पृ० ७४

'सेवा-सदन' के सम्बन्ध में 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' में संकलित प्रेमचन्द के पत्रों से नवीन और महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। दयानारायन निगम के नाम लिखे गए प्रेमचन्द के पत्रों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि यह उपन्यास सर्वप्रथम उर्दू में 'बाजारे-हुस्न' के नाम से १९१७ ई० में, प्रायः जनवरी और अगस्त के महीनों के बीच, लिखा गया था।"[१] अमृतराय का यह निष्कर्ष, कि दयानारायन निगम के नाम पत्रों के आधार पर मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल जनवरी १९१७ से जनवरी १९१८ तक ठहरता है, पुष्ट नहीं मालूम पड़ता।"[२]

'बाजारे-हुस्न' का लेखन अगस्त १९१७ या उसके तनिक बाद समाप्त हो गया, पर उर्दू में प्रकाशकों के अभाव के कारण यह तुरन्त प्रकाशित न हो सका। इधर हिन्दी में उपन्यास-पाठकों और प्रकाशकों की धूम थी। प्रेमचन्द ने उर्दू से निराश होकर अपने उपन्यास को हिन्दी में प्रकाशित करने का निश्चय किया। दयानारायन निगम के नाम ८ अगस्त १९१७ को लिखे गये अपने पत्र में उन्होने अपना यह निश्चय व्यक्त किया था।[३]

हिन्दी में 'सेवा-सदन' का लेखन-काल लगभग जनवरी १९१८ से मई १९१८ तक है। दयानारायन निगम के नाम लिखे गये प्रेमचन्द के पत्रों से यह बात

---

१. २४ जनवरी १९१७ को प्रेमचन्द ने निगम साहब को लिखा था—"मैं आजकल एक किस्सा लिखते-लिखते नाविल लिख चला। कोई सौ सफे तक पहुँच चुका है। इसी वजह से छोटा किस्सा न लिख सका। अब इस नाविल में ऐसा जी लग गया है कि दूसरा काम करने को जी ही नहीं चाहता। ..किस्सा दिलचस्प है और मुझे ऐसा ख्याल होता है कि अबकी बार नाविल-नबीसी में भी कामयाब हो सकूँगा।"—'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' चिट्ठी-पत्री १, पृ० ५७

४ मार्च को प्रेमचन्द ने इलाहाबाद से निगम साहब को सूचित किया—"आजकल अपना नाविल लिखने में मह्व हूँ।" फिर १२ मार्च को उन्होंने लिखा—"नाविल गालिबन एक माह में पूरा होगा और उम्मीद करता हूँ कि मई में उसे आपके मुआइने के लिए हाजिर कर सकूँगा।" २३ मार्च को उन्होंने फिर लिखा—"...मेरा नाविल चल रहा है। अब जरा इतमीनान हो जाए तो खत्म करूँ। तूल हो रहा है। चाहता हूँ कि जल्द अन्जाम की तरफ चलूँ।" अन्ततः ८ अगस्त को उन्होंने निगम साहब को लिखा—"...अपना नाविल खत्म कर रहा हूँ। उसे पहले हिंदी में तबा कराने का कस्द है। उर्दू में तो पब्लिशर अनका हैं।" (पत्रों के उद्धरण 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही', चिट्ठी-पत्री १ में दिए गए हैं।)

२. अमृतराय : प्रेमचंद : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५४

३. द्रष्टव्य, टिप्पणी संख्या १

प्रमाणित होती है। २६ जनवरी को उन्होंने लिखा था, "अपना नाविल हिन्दी में लिख रहा हूँ। फुर्सत नहीं मिलती। न कोई तातील ही पड़ती है। मगर आज इरादा करता हूँ कि साफ़ करने में हाथ लगा दूँ।"[१] फिर २ जून १९१८ को निगम साहब के पास लिखे अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने सूचित किया "...अपने हिन्दी नाविल को प्रेस में देना है।"[२] स्पष्ट है कि इसके पूर्व 'बाज़ारे-हुस्न' का हिन्दीकरण सेवा-सदन के नाम से समाप्त हो चुका था। दिसम्बर १९१८ के पूर्व 'सेवा-सदन' हिन्दी-पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता, से प्रकाशित भी हो गया।

अमृत राय के अनुसार 'बाज़ारे-हुस्न' अपने मूल (उर्दू) रूप में १९२० ई० में 'कहकशां' नामक उर्दू-पत्र के सम्पादक जनाब इम्तयाज अली 'ताज' द्वारा प्रकाशित हुआ।[३] पर यह सूचना अशुद्ध है। १६ फरवरी १९२२ ई० तक 'बाज़ारे-हुस्न' नहीं छपा था। १६ फरवरी १९२२ के अपने पत्र में प्रेमचन्द ने 'ताज' साहब को लिखा था, "जब तक 'बाज़ारे-हुस्न' प्रेस से निकलेगा, शायद नया नाविल का हिस्साये-अव्वल आपकी खिदमत में हाजिर हो जाये।"[४] बाज़ारे-हुस्न किस सन् ईसवी में प्रकाशित हुआ, इसकी सूचना प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को नहीं मिल सकी है। जो हो, उर्दू-पाठकों और आलोचकों ने इस उपन्यास का कोई खास स्वागत नहीं किया। अमृतराय ने इसका कारण बताया है कि "उर्दू वालों के लिए कोठे की जिन्दगी और उसके मसलों में कोई नयापन नहीं था। नज़ीर अहमद, सरशार और मिर्ज़ा रुसवा जैसे लोग उसके बारे में बहुत लिख चुके थे और बहुत अच्छा लिख चुके थे।"[५]

'सेवा-सदन' के अब तक अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। 'अनेक' शब्द का प्रयोग मैं प्रकाशकों की कृपा से करने को बाध्य हूँ। वर्तमान समय में 'सेवा-सदन' के तीन प्रकाशन-संस्थाओं—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता एवं काशी; सरस्वती प्रेस, वाराणसी एवं इलाहाबाद; और हंस प्रकाशन, इलाहाबाद—से प्रकाशित संस्करण उपलब्ध होते हैं। हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, ज्ञानवापी, काशी से 'सेवा-सदन' का दूसरा संस्करण १९२१ ई० (सं० १९७८ वि०) में[६] आठवाँ संस्करण १९३६ ई० (१९९३ वि०) में, बारहवाँ संस्करण १९४५ ई० (सं० २००२ वि०)

---

१. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० १८०
२. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ७०
३. वही, जीवनी खण्ड, पृ० १९४
४. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १३५
५. वही, जीवनी-खण्ड, पृ० १९४
६. आ० भा० पु० की पुस्तक सूची

में[1] और सत्रहवाँ संस्करण १९५३ ई० में[2] (सं० २०१० वि०) में प्रकाशित हुआ। पटना कालेज पुस्तकालय में हिन्दी पुस्तक एजन्सी, वाराणसी, से प्रकाशित 'सेवा-सदन' की एक प्रति है, जिसमें संस्करण-संख्या तथा प्रकाशन-काल नहीं दिया हुआ है अत: हिन्दी पुस्तक ऐजेंसी से सत्रहवें संस्करण के बाद 'सेवा-सदन' के और कितने संस्करण प्रकाशित हुए, यह बताना कठिन है। 'सेवा-सदन' के सरस्वती प्रेस वाराणसी, से प्रकाशित दो और संस्करण मेरे देखने में आये हैं,[3] जिनमें से प्रथम में प्रकाशन-तिथि और संस्करण-संख्या नहीं दी हुई है। दूसरे में प्रकाशन-तिथि दिसम्बर १९६० दी हुई है, पर संस्करण-संख्या का पता नहीं चलता। इधर हाल में, जुलाई १९६२ में, भी सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से 'सेवा-सदन' का एक वर्तमान संस्करण प्रकाशित हुआ है।[4] 'सेवा-सदन' के हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से प्रकाशित दो और संस्करण मिलते हैं। पर दोनों में से किसी में भी प्रकाशन-काल अथवा संस्करण-संख्या नहीं दी हुई है। एक संस्करण अजिल्द है और प्रेम प्रेस, कटरा, प्रयाग, से मुद्रित है।[5] दूसरा संस्करण भार्गव प्रेस, १ बाई का बाग, इलाहाबाद से मुद्रित है और सजिल्द है।[6] इस प्रकार सरस्वती प्रेस, वाराणसी, और हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से 'सेवा-सदन' के कुल कितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, यह बता पाना नितान्त कठिन है। फिर भी इससे यह तो सिद्ध ही है कि १९१८ ई० से लेकर आज तक 'सेवा-सदन' के २३ से अधिक संस्करण अवश्य प्रकाशित हो चुके हैं; और यह इस उपन्यास की लोकप्रियता का असंन्दिग्ध प्रमाण है।

वरदान

प्रेमचन्द का 'वरदान' नामक उपन्यास, जो वस्तुतः उनके १९१२ ई० में प्रकाशित उर्दू-उपन्यास 'जलवए-ईसार' का हिन्दी रूपान्तर है, सर्वप्रथम अप्रैल १९२१ ई० के निकट-पूर्व में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस उपन्यास के प्रथम संस्करण को प्राप्त करने में असमर्थ रहा है. पर अप्रैल १९२१ ई० की 'सरस्वती' के 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ में इस उपन्यास का एक संक्षिप्त 'परिचय प्रकाशित हुआ था, जिसकी कुछ महत्वपूर्ण पंक्तिश्राँ निम्नलिखित है—

'वरदान, लेखक : श्रीयुत प्रेमचन्द; प्रकाशक : मैनेजर, ग्रंथ-भण्डार, लेडी हार्डिन्ज रोड माटूंगा, बम्बई। हिन्दी में अभी तक उच्च कोटि के मौलिक उपन्यासों का अभाव है। प्रेमचन्द जी ने 'सेवा-सदन' लिखकर हिन्दी के उपन्यास-लेखकों में

---

१. प्राप्ति-स्थान—प० का० पु०, पटना।
२. चैं० पु०, पटना की पुस्तक-सूची।
३. प्रा०-स्था०—अ० भा० पु०, काशी।
४. प्रा०-स्था०—दिल्ली पुस्तक सदन, पटना।
५. प्रा०-स्था०—प० का० पु०, पटना।
६. प्रा०-स्था०—मेरा निजी पुस्तकालय।

सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। यह आपका दूसरा उपन्यास है। इसमें वह विशेषता नहीं है जो आपके 'सेवा-सदन' में है।... छोटे आकार में २३९ पृष्ठों की सुन्दर जिल्द बँधी हुई पुस्तक का मूल्य २।) है।[1]"

उक्त परिचय से यह स्पष्ट है कि 'वरदान' 'सेवा-सदन' के बाद और अप्रैल १९२१ ई० के निकट-पूर्व में, सम्भवतः १९२१ में ही, ग्रंथ भण्डार, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। अमृतराय के अनुसार 'इसका प्रकाशन उर्दू-संस्करण के लगभग नौ बरस बाद १९२१ में ग्रंथ भण्डार, बम्बई से हुआ। लेखक की ओर से प्रकाशक को दिए गए अधिकार-पत्र पर १८ अक्तूबर १९२० की तिथि अंकित है। मई १९२१ में प्रकाशित एक पुस्तक के पीछे उसका विज्ञापन भी मिलता है।"[2]

इस उपन्यास के रचना-काल और प्रकाशन-तिथि के संबंध में अनेक अनिश्चित और प्रामाणिकता-शून्य मत हिन्दी में प्रचलित हैं। हंसराज रहबर के अनुसार 'प्रेमचन्द ने यह उपन्यास सन् १९०५-०६ में लिखा।"[3] रामदीन गुप्त के अनुसार 'वरदान, हिन्दी में प्रेमचन्द की सम्भवतः प्रथम रचना है।...'वरदान' के रचना-काल के आस-पास ही सन् १९०६ में गोर्की का विश्वविश्रुत उपन्यास 'माँ' प्रकाशित हुआ था।"[4] डॉ० राजेश्वर गुरु इसे प्राक् 'सेवा-सदन' कृति मानते हैं, पर इसका रचना-काल या प्रकाशन-तिथि बताने का प्रयास नहीं करते।[5] । ब्रजरत्न के अनुसार 'इनका (प्रेमचन्द का)[6] एक परिहास-प्रधान उपन्यास 'वरदान' उर्दू में लिखा गया था। पर जब इस भाषा में न छप सका तब उसका सार हिन्दी में इस नाम से सं० १९६४ (सन् १९०७ ई०) के लगभग छपा था।[7] डा० प्रतापनारायण टंडन के अनुसार इसका प्रकाशन १९२० ई० में हुआ।

उपर्युक्त आलोचकों में से किसी ने भी अपने मत के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है, न उन्होंने प्रकाशन-संस्था या प्रकाशक का नाम बताया है। ऐसी स्थिति में इन मतों का मूल्य कितना है, यह बताना अनावश्यक है।[8]

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की तरह तो नहीं, पर 'वरदान' को भी हिंदी पाठकों में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। जनवरी १९४५ ई० में इस उपन्यास का

---

१. सरस्वती, वर्ष २२, अंक, ४, अप्रैल १९२१, पुस्तक-परिचय।
२. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खंड, पृ ६५४।
३. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवनी और कृतित्व, पृ० २१२
४. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गांधीवाद, पृ० १४२
५. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १३५
६. कोष्ठक के शब्द प्रस्तुत लेखक के हैं।
७. ब्रजरत्नदास : हिंदी उपन्यास, पृ० १८६
८. डा० प्रतापनारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास।

प्रथम संस्करण और दिसम्बर १९४५ में द्वितीय संस्करण सरस्वती प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित हुआ।[1]

हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी, से 'वरदान' का तृतीय संस्करण १९५० ई० में[2] और हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से इसका पाँचवाँ संस्करण मार्च १९५६ ई० में प्रकाशित हुआ।[3] इधर हाल में सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद से 'वरदान' का एक संस्करण प्रकाशित हुआ है, जिसमें प्रकाशन-काल अथवा संस्करण-संख्या कुछ भी नहीं दिया हुआ है। यह भार्गव प्रेस, १ बाई का बाग, इलाहाबाद, से मुद्रित है तथा इसकी पृष्ठ संख्या १३४ है।[4] इन सूचनाओं से यह सिद्ध होता है कि प्रेमचन्द के जीवन-काल में 'वरदान' हिंदी पाठकों में बिलकुल ही लोकप्रिय न हो पाया था। बाद में इसकी लोकप्रियता कुछ बढ़ी जिसका कारण प्रेमचंद का उपन्यासकार के रूप में लोकप्रिय होना है।

प्रेमाश्रम

'वरदान' के बाद प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' नामक उपन्यास १९२२ ई० में हिंदी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस उपन्यास के प्रथम संस्करण को प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। हिंदी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता से १९४५ ई० में प्रकाशित 'प्रेमाश्रम' के आठवें संस्करण में रामदास गौड़ लिखित 'अनुवचन' संलग्न है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को 'प्रेमाश्रम' का इससे पूर्व का कोई संस्करण प्राप्त नहीं हो सका है। इसके अंत में 'कल्पवास, होली १९०९' मुद्रित है। सामान्यत: विक्रम संवत् में सतावन से घटाने पर ईस्वी-सन् प्राप्त होता है, पर १ जनवरी से लेकर चैत्र की अमावस्या के बीच में ईस्वी सन् जानने के लिए विक्रम-संवत् से छप्पन वर्ष घटाना होता है। १ जनवरी को नया ईस्वी-सन् आरम्भ हो जाता है, जबकि नया विक्रम संवत् १ शुक्ल चैत्र को आरम्भ होता है। इस हिसाब से 'होली १९७९' का अर्थ है मार्च १९२३। इसी आधार पर डॉ० गीता लाल ने 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन-काल १९२३ ई० सिद्ध करते हुए उसे १९२२ ई० मानने वालों को भ्रांतिग्रस्त सिद्ध किया है। डॉ० गीता लाल का तर्क निर्दोष है, पर प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे 'प्रमाश्रम' का प्रकाशन-काल १९२२ ई० ही सिद्ध होता है। जून १९२२ ई० की 'सरस्वती' के पुस्तक-परीक्षा स्तम्भ में

---

१. प्रा०-स्था० —ज० पु०, चुन्नी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—वरदान : (मौलिक उपन्यास), लेखक—प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस, बनारस, प्रथम संस्करण, १०००, जनवरी १९४५, द्वितीय संस्करण १०००, दिसम्बर १९४५।

२. प्रा०-स्थान—प० का० पु०, पटना।

३. प्रा०-स्थान—प० वि० पु०, पटना।

४. प्रा०-स्थान—राजकमल प्रकाशन, पटना।

'प्रेमाश्रम' का निम्नलिखित संक्षिप्त परिचय प्रकाशित हुआ था—'प्रेमाश्रम' प्रेमचन्द जी का यह नया उपन्यास है, अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। ६५५ पृष्ठों में यह पूरा हुआ है। अच्छे टाइप में अच्छे कागज पर छपा है। खद्दर की सुन्दर जिल्द बँधी है। कलकत्ता (१२६, हरिसन रोड) की हिन्दी पुस्तक एजेंसी ने इसे प्रकाशित किया है। मूल्य ३॥) है।"[१]

प्रेमचन्द ने अपने ३१ मई १९२२ के पत्र में श्री दयानारायन निगम को लिखा था—'बाज़ारे-हुस्न' पढ़िएगा। मैं ज़माना में रिव्यू का मुन्तज़िर हूँ। मेरा नया नाविल भी शाया हो गया। बड़े अच्छे रिव्यू हो रहे हैं।"[२] यद्यपि इसमें उपन्यास का नाम नहीं आया है पर प्रेमचन्द के अन्य पत्रों के साथ पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह 'प्रेमाश्रम' ही है।

इन तथ्यों से 'प्रेमाश्रम' का मई १९२२ ई० से पूर्व प्रकाशित होना निर्विवाद सिद्ध होता है। फिर 'होली १९७९ वि०' का क्या अर्थ है ? उसकी एक ही व्याख्या मेरी समझ में आती है। बहुत से लोग, अज्ञान के कारण ही सही, यह धारणा रखते हैं कि वसन्तोत्सव के दिन नया सम्वत् आरम्भ हो जाता है। सम्भव है, 'प्रेमाश्रम' के 'अनुवचन' के लेखक ने भ्रान्त धारणावश होली १९७८ को होली १९७९ (नया संवत्) लिख दिया हो। अन्यथा इस तिथि का कोई अर्थ नहीं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी बंगाल के १९२२ ई० के गजट में प्रकाशित द्वितीय त्रैमासिक पुस्तक-सूची के साक्ष्य पर 'प्रेमाश्रम' की प्रकाशन-तिथि १३ अप्रैल १९२२, बतलाई है,[३] जिससे होली १९७९ की उपर्युक्त व्यवस्था ही ठीक जान पड़ती है।

'प्रेमाश्रम' की रचना सर्वप्रथम उर्दू में 'नाकाम' और 'नेकनाम' शीर्षकों से २ मई १९१८ से लेकर २५ फरवरी १९२० तक की अवधि में हुई थी। अमृतराय के अनुसार उपर्युक्त रचना-काल 'प्रेमाश्रम' की पाण्डुलिपि पर अंकित है।[४] गोरखपुर से ५ सितम्बर १९१९ को दयानारायन निगम के नाम लिखित अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने सूचित किया था—"बाज़ारे-हुस्न निस्फ़ से ज्यादा साफ़ कर रहा हूँ। नया नाविल खूब तावील हो रहा है। इसका नाम अभी 'नेकनाम' रखा है। ग़ालिबन दिसम्बर तक खत्म हो जाएगा। 'नेकनाम' तैयार हो जाए तो उसे उर्दू में खुद शाया करने का क़स्द है।"[५] १८ फरवरी १९२० को गोरखपुर से ही प्रेमचन्द ने निगम साहब को लिखा—"मेरा दूसरा नाविल 'नाकाम अनकरीम

१. सरस्वती, वर्ष २३, अंक ६, जून १९२२, पुस्तक परीक्षा।
२. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १२१
३. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ, साहित्य, अप्रैल ६०।
४. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५४
५. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ८६

इस्तताम है।—यह नाविल भी हिन्दी में छपेगा। उर्दू में इसका हश्र क्या होगा, मालूम नहीं।"[१] ३ जनवरी १९२१ को प्रेमचन्द ने निगम साहब को सूचित किया—"नाविल की हिन्दी कर रहा हूँ।"[२] १६ फरवरी १९२२ को कानपुर से प्रेमचन्द ने इम्तयाज अली 'ताज' को लिखा—"मेरा हिन्दी-नाविल खतम हो गया। अब उर्दू काम जल्द होगा।"[३] फिर ३१ मई १९२२ को उन्होंने निगम साहब को लिखा—"मेरा नया नाविल भी शाया हो गया। बड़े अच्छे रिव्यू हो रहे हैं।" इससे स्पष्ट है कि 'प्रेमाश्रम' पहले उर्दू में लिखा गया था और प्रेमचन्द ने इसके दो नाम सोचे थे—पहले 'नेकनाम' और फिर 'नाकाम'। उर्दू में प्रकाशकों के अभाव के कारण यह पहले हिन्दी में ही 'प्रेमाश्रम नाम से ३१ मई १९२२ के कुछ पहले प्रकाशित हुआ। इसके हिन्दीकरण का समय जनवरी १९२१—फरवरी १९२२ (लगभग) माना जा सकता है।

'प्रेमाश्रम' के रचना-काल और प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में भी लोगों ने मानमानी सूचनाएँ दी हैं। हंसराज रहबर के अनुसार "यह उपन्यास सन् १९१९ में लिखा गया।"[४] डॉ० राजेश्वर गुरु के अनुसार "१९२१-२२ के सत्याग्रह में लगान-बन्दी की बात करने का विचार बहुत बाद में जारूर सोचा गया था। प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' इसके पहले लिखा जा चुका था।"[६] डॉ० श्री कृष्णलाल तथा डॉ० प्रतापनारायण टाण्डन 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन-काल १९२१ ई० मानते हैं।[५] 'प्रेमाश्रम' के सरस्वती प्रेस वाराणसी, से प्रकाशित हाल के एक संस्करण में (प्रकाशन-काल पुस्तक में नहीं दिया है) इसका रचना-काल १९१८-१९ बताया गया है। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त आलोचकों में से किसी ने भी अपने कथन के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है।

अपनी नवप्रकाशित पुस्तक 'प्रेमचन्द : कलम का सिपाही' के जीवनी-खण्ड में अमृतराय ने 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन-काल '१९२१ का पूर्वार्द्ध' बताया है।[७] पर हम देख चुके हैं कि यह सूचना भ्रान्त है। अमृतराय की सूचना सम्भवतः अनुमानित है, जो प्रेमचन्द के ३ जनवरी १९२१ के पत्र पर आधारित है, जिसमें प्रेमचन्द ने लिखा था "नाविल की हिन्दी कर रहा हूँ।"

---

१. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० ९५
२. वही, पृ० १०९
३. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १३५
४. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २२५
५. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १५५
६. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० ३१२। डॉ० प्रताप नारायण टण्डन : हिन्दी-उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, पृ० २८२
७. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५४

अमृतराय ने एक स्थान पर लिखा है, "२५ फरवरी १९२० को मुंशीजी ने उर्दू 'प्रेमाश्रम' का लिखना समाप्त किया।"[1] यह कथन नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। २० अक्टूबर १९२० को प्रेमचन्द ने श्री इम्तयाज़ अली 'ताज' को लिखा था, "ईश्वर ने चाहा तो चन्द माह में मेरा अपना नाविल तैयार हो जायगा।[2] 'फिर २९ जनवरी १९२१ को उन्होंने 'ताज' साहब को सूचित किया,—"इन क़िस्सों के अलावा एक नाविल 'नाकाम' साफ़ कर रहा हूँ, जो तसनीफ़ से कमजाँसोज काम नहीं है।"[3] इससे सिद्ध होता है कि 'नाकाम' ('प्रेमाश्रम' का उर्दू-रूप) २९ जनवरी १९२१ के कुछ पूर्व समाप्त हुआ, न कि २५ फरवरी १९२० को।

'प्रेमाश्रम' के हिन्दी में प्रकाशित हो जाने के बाद प्रेमचन्द ने उसका उर्दू संस्करण 'गोशए-आफ़ियत' शीर्षक से प्रकाशनार्थ तैयार किया, पर उर्दू में प्रकाशकों के अभाव के कारण यह बहुत दिनों तक अप्रकाशित ही पड़ा रहा।

'प्रेमाश्रम' हिन्दी-पाठकों में काफ़ी लोकप्रिय हुआ। मेरा अनुमान है कि अब तक 'प्रेमाश्रम' के २० से अधिक संस्करण अवश्य प्रकाशित हो चुके होंगे, और यह इस उपन्यास की लोकप्रियता का असन्दिग्ध प्रमाण है।

रंगभूमि

प्रेमचन्द का आकार की दृष्टि से सबसे बृहत् उपन्यास 'रंगभूमि' १९२५ ई० में दो भागों में, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित हुआ। 'रंगभूमि' के प्रथम संस्करण की प्रतियाँ पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना; राष्ट्रभाषा-परिषद् पुस्तकालय, पटना, और आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में उपलब्ध हैं, जिनके मुखपृष्ठ परे 'प्रथमावृत्ति सं० १९८१ वि० 'मुद्रित है।'[4] रंगभूमि' के प्रथम भाग के जो भी प्रथम संस्करण मुझे प्राप्त हुए हैं, उनके आरम्भिक पृष्ठों के नष्ट हो जाने के कारण प्रथम संस्करण के साथ संलग्न प्रकाशकीय वक्तव्य को पाने में असमर्थ रहा हूँ, पर 'रंगभूमि' के ग्यारहवें संस्करण में प्रथम संस्करण का 'सम्पादक का वक्तव्य' दिया हुआ है, जिसके अन्त में 'वसन्त-पन्चमी सं० १९८१' मुद्रित है।[5] इससे 'रंगभूमि' का प्रकाशन-काल १९२५ ई० ही सिद्ध होता है।

'रंगभूमि' की रचना के सम्बन्ध में 'चौग़ाने-हस्ती' के द्वितीय खण्ड की भूमिका में प्रेमचन्द ने लिखा है, "अगर्चे रंगभूमि पहले उर्दू ही में लिखी गयी थी

१. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही जीवनी-खण्ड, पृ० २२८
२. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२४
३. अमृतराय : वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १२८
४. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—'रंगभूमि (द्वितीय भाग); लेखक—प्रेमचन्द, प्रकाशक—गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, २९-३० अमीनाबाद पार्क, लखनऊ; प्रथमावृत्ति, सं० १९८१ वि०।
५. रंगभूमि, ग्यारहवीं बार, १९४६, प्रा०-स्थान—रा० भा० पु०, पटना।

मगर उसका उर्दू-एडीशन हिन्दी-एडीशन हो जाने के तीसरे साल शाया हो रहा है। हिन्दी एडीशन तैयार होते वक्त उर्दू-मसविदे में इतनी तरतीम हो गयी कि वह इस हालत में प्रेस के क़ाबिल न था। इसके अलावा कई अबवाब हिन्दी में और बढ़ा दिये गये। उन्हें दुबारा मसविदे में शामिल करना जरूरी था। इसलिए सारा उर्दू-मसविदा हिन्दी-मसविदे के मुताबिक कर के दुबारा लिखना पड़ा।[1] प्रेमचन्द के एक पत्र से तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि उर्दू उपन्यास ('चौग़ाने-हस्ती') हिन्दी 'रंगभूमि' का हज़रत मेहर द्वारा प्रस्तुत अनुवाद-मात्र है। (अनुमानत:) सन् १९२५ ई० के अगस्त महीने के प्रथम सप्ताह में प्रेमचन्द ने दयानारायन निगम को लिखा था—"हज़रत मेहर ने 'रंगभूमि' का उर्दू तर्जुमा कर दिया, मगर मुआवज़ा हिन्दी सफहात पर ।।) फ़ी सैफ़ा माँगते हैं, यानी कुल ४६५)। मुझे कुल किताब के ६००) मिल जाएँगे तो मैं समझूँगा मैंने तीर मारा। आप ४६५) खुद माँग रहे हैं।"[2] इससे स्पष्ट है कि उर्दू 'चौग़ाने-हस्ती' हिन्दी 'रंगभूमि' का अनुवाद है, न कि हिन्दी 'रंगभूमि' किसी उर्दू उपन्यास का। 'चौग़ाने हस्ती' की भूमिका से भी यही सिद्ध होता है कि 'रंगभूमि' का मसविदा पहले उर्दू में तैयार किया गया था, पर पूरा उपन्यास अपने अन्तिम रूप में हिन्दी में ही लिख गया। इसका कारण कदाचित् यह है कि अब तक उर्दू में प्रेमचन्द की शैली मँज गई थी और उस भाषा में वे धारा-प्रवाह लिख सकते थे, जब कि हिन्दी लिखने में अभी वे उतने अभ्यस्त नहीं हुए थे।

अमृतराय ने लिखा है; "मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल १ अक्टूबर १९२२ से १ अप्रैल १९२४ तक है जो कि पाण्डुलिपि पर ही अंकित है। इसी पाण्डु-लिपि पर मुंशी जी के अपने अक्षरों में ही यह भी टँका हुआ है: "Hindi finished dated August 12, 1924",[3] यह सूचना थोड़ी उलझन में डालने वाली है। १७ फरवरी १९३३ को प्रेमचन्द ने निगम साहब को लिखा था: "मैं अजहद-नादिम हूँ कि 'ज़माना' के लिए अरसे से कुछ न लिख सका।.........हिन्दी रिसालों में लिखने के बाइस वक्त ही नहीं निकलता। फिर अपना नया नाविल भी लिखना चाहता हूँ।"[4] इससे पूरी तरह स्पष्ट तो नहीं होता पर ध्वनित होता है कि नये उपन्यास का लिखना (और वह 'रंगभूमि ही होगा) अभी आरम्भ हुआ था। सम्भव है, प्रेमचन्द ने १ अक्टूबर १९२२ से ही उपन्यास का प्रारूप तैयार करना आरम्भ कर दिया और उसका लेखन आरम्भ हुआ हो फरवरी १९२३ ई० में। प्रेमचन्द के २२ अप्रैल १९२३, ३ जुलाई १९२३ और २६ सितम्बर १९२३ के निगम साहब के

---

१. अमृत राय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ३७९
२. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १५५-५६
३. वही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५५
४. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १२९

नाम लिखित पत्रों से ज्ञात होता कि इस अवधि में वे 'रंगभूमि' लिखने में व्यस्त थे।[१] १७ फरवरी १९२४ को प्रेमचन्द ने निगम साहब को सूचित किया : "मैंने इधर पाँच महीने में अपने नाविल 'रंगभूमि' के साथ एक ड्रामा लिखा है जिसका नाम है 'कर्बला'।"[२] इससे 'रंगभूमि' का इससे पूर्व समाप्त होना ध्वनित होता है; पर खुद प्रेमचन्द ने इसकी समाप्ति १२ अगस्त १९२४ को बतायी है। सम्भव है, १७ फरवरी १९२४ को 'रंगभूमि' समाप्तप्राय हो और १२ अगस्त १९२४ को उसकी प्रेस-कापी तक तैयार हो गयी हो।

अमृतराय ने 'रंगभूमि' के प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में लिखा है : "पुस्तक के प्रथम संस्करण पर बसन्त पंचमी १९८१ छपा है, लेकिन शिवपूजन सहाय के नाम चिठ्ठी से प्रकट है कि पुस्तक शुरू जनवरी १९२५ में ही निकल गयी थी।"[३] पर यह निष्कर्ष सही नहीं प्रतीत होता। २ जनवरी १९२५ को प्रेमचन्द ने लखनऊ से शिवपूजन सहाय को सूचित किया था कि "रंगभूमि" के फार्म छप चुके हैं।"[४] इसका इतना ही अर्थ है कि २ जनवरी १९२५ तक रंगभूमि का आधा से थोड़ा अधिक छप चुका था, पूरा नहीं। फिर २२ फरवरी १९२५ को प्रेमचन्द ने शिवपूजन सहाय को लिखा, "लीजिए जिस पुस्तक पर आपने कई महीने दिमागरेजी की थी वह आपका अहसान अदा करती हुई आपकी खिदमत में आती है और आपसे विनती करती है कि मुझे दो-चार घण्टों के लिए एकान्त का समय दीजिए और तब आप मेरी निस्बत जो राय कायम करें वह अपनी मनोहर भाषा में कह दीजिए।........ मैं 'रंगभूमि' पर आपकी आलोचना का बड़ी बेसब्री से इन्तज़ार करूँगा।"[५] इस पत्र में 'रंगभूमि' का फरवरी १९२५ ई० में ही प्रकाशित होना ध्वनित होता है, जनवरी १९२५ के शुरू में नहीं। वसन्त पंचमी १९८१ तिथि एक दम शुद्ध है। अमृतराय का निष्कर्ष शीघ्रता का परिणाम जान पड़ता है।

'रंगभूमि' के रचना-काल और प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में भी हिन्दी के आलोचकों ने अविवेकपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। डॉ० श्रीकृष्ण लाल 'रंगभूमि' का प्रकाशन-काल १९२२ ई० बताते हैं।[६] रामदीन गुप्त के अनुसार "यह सन् २० तथा सन् ३० के बीच की कृति है।"[७] डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने 'रंगभूमि' का प्रकाशन-काल १९२४ ई०

---

१. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिठ्ठी-पत्री १, पृ० १२६-३९
२. वही, चिठ्ठी-पत्री १, पृ० १४१
३. वही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५५
४. वही, चिठ्ठी-पत्री २, पृ० २२१
५. वही।
६. डॉ० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, पृ० ३१२
७. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गांधीवाद, पृ० १८७

बताया है।[1] हंसराज रहबर के मत से "प्रेमचन्द ने यह उपन्यास सन् २७-२८ में लिखा था।"[2] भारतीय प्रकाशनालय, इलाहाबाद से प्रकाशित 'रंगभूमि' के एक संस्करण में इसका रचना-काल १९२६-२७ ई० मुद्रित है।[3] १९६१ ई० में सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित 'रंगभूमि' के वर्तमान (?) संस्करण में इसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन-काल १९२७ ई० और इसका रचना-काल १९२५-२७ ई० बताया गया है।[4] डॉ० प्रतापनारायण टण्डन ने 'रंगभूमि' का प्रकाशन-काल १९२२ ई० बताया है।[5]

'रंगभूमि' के प्रकाशित होते ही 'प्रभा', 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में इसकी प्रशंसात्मक और विरोधात्मक आलोचनाओं की धूम मच गयी थी। यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी-पाठकों के रुचि-निर्देशकों और आलोचकों का ध्यान आकृष्ट करने में यह उपन्यास सफल हुआ था।

गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, से 'रंगभूमि' का छठा संस्करण १९४३ ई० (सं २००० वि०) में[6], ग्यारहवाँ संस्करण १९५६ ई० में[7], तेरहवाँ संस्करण १९५८ ई० में[8], तथा चौदहवाँ संस्करण १९६१ ई० (सं० २०१८ वि०) में[9], प्रकाशित हुआ। 'रंगभूमि' के कुछ संस्करण अन्य प्रकाशन-संस्थाओं से भी प्रकाशित हुए हैं। भारतीय प्रकाशनालय, इलाहाबाद, से इसका एक संस्करण प्रकाशित है, जिसमें प्रकाशन-काल अथवा संस्करण संख्या नहीं दी हुई है।[10] 'रंगभूमि' का सरस्वती प्रेस से १९६१ ई० में प्रकाशित एक 'वर्तमान संस्करण' भी देखने में आया है।[11] बाद वाले संस्करण प्रेमचन्द के पुत्रों द्वारा संचालित प्रकाशन-संस्थाओं से प्रकाशित हुए हैं। यह नहीं ज्ञात कि उनके कुल कितने संस्करण इन लोगों ने प्रकाशित किये हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि १९६१ तक 'रंगभूमि' के कम से कम १६ संस्क-

---

१. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : एक विवेचना, परिशिष्ट ३
२. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २३७
३. इस संस्करण में न तो प्रकाशन-काल दिया हुआ है न संकस्रण-संख्या। पुस्तक राष्ट्रभाषा परिषद पुस्तकालय, पटना, में उपलब्ध है।
४. रंगभूमि, सरस्वती प्रेस, वर्तमान संस्करण १९६१ ई०, प्रा०-स्थान—वि० बु० से० ३ पटना।
५. डॉ० प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, पृ० २८४
६. प्रा० स्थान—आ० भा० पु० काशी।
७. प्रा०-स्थान—रा० भा० प० पु० पटना।
८. प्रा० स्थान—आ० भा० पु०, काशी।
९. प्रा०-स्थान—वि० बु० से०, पटना।
१०. प्रा०-स्थान—प० का० पु०, पटना।
११. प्रा०-स्थान—वि० बु० से०, पटना।

रण अवश्य प्रकाशित हो चुके थे, जो साढ़े पाँच सौ पृष्ठों के डिमाई आकार के मोटे ग्रंथ के लिए हिन्दी में कम सौभाग्य की बात नहीं है।

कायाकल्प

'रंगभूमि' के बाद प्रेमचन्द का 'कायाकल्प' नामक उपन्यास १९२६ ई० में भार्गव बुक डिपो, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक 'कायाकल्प' के प्रथम संस्करण को प्राप्त करने में असमर्थ रहा है, पर जनवरी १९२७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कायाकल्प' के परिचय से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।[1] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उत्तर-प्रदेश के १९२७ ई० के गजट में प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक पुस्तक-सूची के साक्ष्य पर 'कायाकल्प' की प्रकाशन-तिथि '१-११-२६' तथा प्रकाशन का नाम भार्गव बुक डिपो, काशी, बताया है।[2] डॉ० गीता लाल ने 'माधुरी' के १९२६ ई० के कई अंकों में प्रकाशित 'कायाकल्प' के निम्नलिखित विज्ञापन का उद्धरण अपने पूर्वोक्त निबन्ध में दिया है :—

"निकल गयी ! निकल गयी !! प्रेमचन्द जी की दो नवीन रचनाएँ : 'कायाकल्प' और 'प्रेमप्रतिमा'।"[3]

अमृतराय के अनुसार 'कायाकल्प' की मूल पाण्डुलिपि हिन्दी में है। उसको देखने से पता चलता है कि आरम्भ में पुस्तक के तीन नाम रखे गये थे—'असाध्य साधना', 'माया स्वप्न', 'आर्तनाद।' इसका लेखन १० अप्रैल १९२४ को शुरू हुआ। यह तिथि पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ पर ही अंकित है। प्रकाशन १९२६ में हुआ।"[4] प्रेमचन्द के एक पत्र में, जो १७ जुलाई १९२६ को दयानारायन निगम को लिखा गया था, 'कायाकल्प' के प्रकाशित होने का उल्लेख है।[5] इन प्रमाणों से 'कायाकल्प' की प्रकाशन-तिथि १९२६ ई० निर्विवाद है।

'कायाकल्प' के रचना-काल और प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में भी बहुत भ्रम फैला हुआ है। डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने इसका प्रकाशन-काल १९२४ ई० बताया है।[6] डॉ० प्रतापनारायण टण्डन भी इसका प्रकाशन-काल १९२४ ही मानते हैं।[7] डॉ०

---

१. सरस्वती, भाग २८, संख्या १, जनवरी १९२७ पुस्तक-परिचय।
२. डॉ० मातापसाद गुप्त : प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ, साहित्य, अप्रैल १९६० ई०।
३. डा० गीता लाल : प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ, साहित्य, जनवरी १९६० ई०, पृ० ४३
४. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५५
५. वही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १९२
६. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ३१२
७. डॉ० प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, पृ० २८४

इन्द्रनाथ मदान के अनुसार 'कायाकल्प' का प्रकाशन-काल १९२८ ई० है।[1] डॉ राजेश्वर गुरु इसका प्रकाशन-काल १९२८ ई० मानते हैं।[2] सरस्वती प्रेस से प्रकाशित 'कायाकल्प' के संस्करणों में इसका रचना-काल १९२६ ई० दिया हुआ है। इन परस्पर-विरोधी सूचनाओं के मूल में अनध्याय और लापरवाही का कितना हाथ है, यह बतलाने की जरूरत नहीं।

सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से 'कायाकल्प' का सातवाँ संस्करण दिसम्बर १९४५ ई० में[3] और नवाँ संस्करण १९५३ में[4] प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का नवाँ संस्करण अमृतराय द्वारा हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, से प्रकाशित हुआ।[5] १९६१ ई० में 'कायाकल्प' का एक वर्तमान संस्करण सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, से प्रकाशित हुआ है। इससे स्पष्ट है कि 'कायाकल्प' प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की तरह लोकप्रिय न हो सका।

निर्मला

प्रेमचन्द का 'निर्मला' नामक उपन्यास सर्वप्रथम चाँद के नवम्बर १९२५ से नवम्बर १९२६ तक के अंकों में प्रकाशित हुआ था।[6] जनवरी १९२७ के 'चाँद' की निम्नलिखित सम्पादकीय टिप्पणी से इस सूचना की पुष्टि होती है: गत वर्ष श्रीयुक्त प्रेमचन्द जी ने 'चाँद' के प्रेमी पाठकों के समक्ष 'निर्मला नामक उपन्यास उपस्थित करके, बृद्ध-विवाहों के दुष्परिणामों का भयंकर दिग्दर्शन कराया था।[7] नवम्बर १९२६ के 'चाँद' के अंक में 'निर्मला' के चौबीसवें, पच्चीसवें, छब्बीसवें और सत्ताइसवें परिच्छेद प्रकाशित हुए थे।[8] 'चाँद' के १९२६ के अन्य अंक प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को प्राप्त नहीं हो सके हैं।

'निर्मला' पुस्तक रूप में जनवरी १९२७ ई० में 'चाँद' कार्यालय, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इसका प्रथम संस्करण आ० भा० पु०, काशी में उपलब्ध है।[9]

---

१. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द एक विवेचना, परिशिष्ट ३
२. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १९४
३. प्रा०-स्थान—ज० पु० चुन्नी।
४. प्रा०-स्थान—आ० भा० पु०, काशी।
५. प्रा०—स्थान—प० का० पु०, पटना।
६. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ६५५
७. चाँद, वर्ष ५, खण्ड १, सं० ३ जनवरी १९२७
८. प्रा०-स्थान-बि० रा० मा० प० पु०, पटना।
९. मुखपृष्ट की प्रतिलिपि—"निर्मला, क्रान्तिकारी सामाजिक उपन्यास, सेवा-सदन, प्रेम पूर्णिमा, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, प्रेम-पसीसी, प्रेम-प्रतिमा, कायाकल्प आदि-आदि अनेक सुप्रसिद्ध पुस्तकों के रचयिता, माधुरी के सम्पादक, श्री प्रेमचन्द जी, प्र—चाँद कार्यालय, इलाहावाद, प्रथम संस्करण २०००, जनवरी २९२७।"

१९२६ ई० में 'निर्मला' का 'चाँद' में धारावाहिक रूप में और जनवरी १९२७ ई० में पुस्तक रूप में प्रकाशित होना इस बात का प्रमाण है कि प्रेमचन्द इस समय तक हिन्दी-पाठकों में काफी लोकप्रिय हो चुके थे। 'चाँद' कार्यालय, इलाहाबाद की 'निर्मला' सम्बन्धी एक विज्ञप्ति की निम्नलिखित पंक्ति से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है: 'चाँद' के अनेक मर्मज्ञ पाठकों के निरन्तर अनुरोध से यह पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाता है।[1]

'निर्मला' के रचना-काल और प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय दिया है। हंसराज रहबर के अनुसार "यहउपन्यास सन् २२-२३ में लिखा गया था।[2] डॉ० राजेश्वर गुरु इसका काल (प्रकाशन-काल अथवा रचना काल, स्पष्टीकरण शोधकर्त्ता ने नहीं किया है) १९२३ ई० मानते हैं।[3] डॉ० प्रतापनारायण टण्डन के अनुसार, "सन् १९२८ में 'निर्मला' तथा सन १९२९ में 'प्रतिज्ञा' का प्रकाशन हुआ।[4] डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार इसका प्रकाशन-काल १९२३ ई० है।[5] यह कहना अनावश्यक है कि ये सभी सूचनाएँ भ्रान्त हैं।

अमृतराय के अनुसार 'निर्मला' को 'चाँद' के द्वारा महिलाओं में इतनी जबर्दस्त लोकप्रियता मिल चुकी थी कि छपने के सालभर के अन्दर उसका संस्करण समाप्त हो गया।[6] सरस्वती प्रेस, वाराणसी 'निर्मला' का छठा संस्करण १९४४ ई० में,[7] आठवाँ संस्करण नवम्बर १९५० ई० में,[8] तथा ग्यारहवाँ संस्करण १९५५ ई० में[9] प्रकाशित हुआ। हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद से 'निर्मला का नवाँ संस्करण १९५१ में[10] तथा हंस प्रकाशन, इलाहाबाद से इसका दसवाँ संस्करण जनवरी १९६१ में[11] और ११वाँ संस्करण सितम्बर

---

१. मेहरुन्निसा, हरिसाधन मुखोपाध्याय, (प्रा०—का० १९२७), के अन्तिम आवरण पृष्ठ पर प्रकाशित 'निर्मला' का विज्ञापन।
२. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २३३
३. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० १६७
४. डॉ० प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, पृ० २८५
५. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : एक विवेचना, परिशिष्ट ३
६. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, जीवनी-खण्ड, पृ० ३९०
७. आ० भा० पु०, काशी, की पुस्तक-सूची।
८. प्रा-स्थान—प० का० पु०, पटना।
९. प्रा०-स्थान—आ० भा० पु०, काशी।
१०. आ० भा पु०, काशी, की पुस्तक-सूची।
११. प्रा०-स्थान-मेरा निजी पुस्तकालय।

१९६१ में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण की पांच हजार प्रतियाँ छपी हैं।[1] 'निर्मला' का सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद में प्रकाशित एक और संस्करण भी प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को प्राप्त हुआ है, जिसमें न तो प्रकाशन-काल दिया हुआ है न संस्करण-संख्या। इस संस्करण के भूमिका तथा परिचय लेखक विद्यानिवास मिश्र, मुद्रक बालकृष्ण शास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, वाराणसी, है तथा पृ० सं० २०७ है। पुस्तक अखबारी कागज पर छपी है।[2] इससे 'निर्मला' के अब तक कितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, इसका पता तो नहीं चलता, पर १९६१ के पूर्व इसके कम से कम १३ संस्करण अवश्य प्रकाशित हुए थे, यह स्पष्ट है।' 'निर्मला' की लोकप्रियता का असन्दिग्ध प्रमाण है।

प्रतिज्ञा

प्रेमचन्द का 'प्रतिज्ञा' नामक उपन्यास सर्वप्रथम 'चाँद' मासिक पत्र के जनवरी १९२७ से नवम्बर १९२७ तक के अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ।[3] पुस्तक-रूप में यह उपन्यास सर्वप्रथम १९२९ ई० में सरस्वती, प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस उपन्यास के प्रथम संस्करण को पाने में असमर्थ रहा है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने उत्तर-प्रदेश के १९२९ ई० के गजट में प्रकाशित तृतीय त्रैमासिक पुस्तक-सूची के आधार पर इसकी प्रकाशन-तिथि '४-६-२९' और प्रकाशक का नाम सरस्वती प्रेस, वाराणसी, बताया है।[4] डॉ० गुप्त द्वारा प्रदत सूचना की प्रामाणिकता इस तथ्य से सिद्ध होती है कि २२ जून १९२९ के 'मतवाला' में 'चाक्लेट विधाता'-लिखित 'प्रतिज्ञा की परख' शीर्षक एक लम्बा लेख, जिसमें 'प्रतिज्ञा' की कटु आलोचना प्रस्तुत की गयी थी, प्रकाशित हुआ था।[5]

---

१. प्रा०-स्थान—दिल्ली पुस्तक सदन, पटना।
२. प्रा०-स्थान—रा० प्र० म०, पटना।
३. चाँद, जनवरी १९२७ (परिच्छेद १-२), फरवरी १९२७ (परि० ३-४), मार्च २७ (परि० ५-६), अप्रैल २७ (परि० ७-८), जुलाई २७ (परि० १०), अगस्त २७ (परि० ११), सितम्बर २७ (परि० १२), नवम्बर २७ (परि० १४-१५)। डॉ० गीता लाल के अनुसार 'प्रतिज्ञा' उपन्यास चाँद के २७-२८ के अंकों में प्रकाशित हुआ था। १९२८ के जनवरी से जून तक के अंक मैं देख चुका हूँ। उनमें 'प्रतिज्ञा' के परिच्छेद नहीं छपे हैं। शेष अंक प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को उपलब्ध नहीं हो सके हैं। श्री अमृतराय के अनुसार 'प्रतिज्ञा' चाँद के जनवरी १९२७ से नवम्बर १९२७ तक के ही अंकों में छपा था (प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६५५)। अतः डॉ० गीता लाल की सूचना गलत प्रतीत होती है।
४. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ, साहित्य, अप्रल १९६०
५. प्रा०-स्थान—आ० भा० पु०, काशी।

'प्रतिज्ञा' के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि १९०७ ई० में प्रकाशित 'प्रेमा' का ही संशोधित रूप है। प्रधान कथा और पात्र पुराने ही हैं, केवल घटनाओं तथा कुछ अन्य विवरणों में परिवर्तन कर दिया गया है। यही उपन्यास बाद में उर्दू में 'बेवा' नाम से भी प्रकाशित हुआ।[१]

'प्रतिज्ञा का दसवाँ संस्करण १९५० ई० में अमृतराय द्वारा हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ।[२] इसका एक 'नवीन संस्करण' हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से जुलाई १९६२ ई० में प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण पांच हज़ार का है।[३]

ग़बन

प्रेमचन्द का 'ग़बन' नामक उपन्यास मार्च १९३१ ई० में सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का प्रथम संस्करण आ० भा० पु०, काशी, में उपलब्ध है।[४] प्रेमचन्द द्वारा १७ दिसम्बर १९३० को जैनेन्द्रकुमार के नाम लिखित पत्र से ज्ञात होता है कि १७ दिसम्बर १९३० तक 'ग़बन' के तीन सौ पृष्ठ छप चुके थे और एक सौ पृष्ठ छपने को बाकी थे। इससे 'ग़बन' का रचना-काल १९२८-३० के बीच में अनुमित होता है।[५] प्रेमचन्द के आलोचकों ने इस उपन्यास की प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में भ्रामक सूचनाएँ प्रायः नहीं दी हैं; अपवाद-स्वरूप डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने इसका काल (पता नहीं, कौन-सा काल) १९३० ई० दिया है।[६] डॉ० राजेश्वर गुरु ने इसकी प्रकाशन-तिथि नहीं दी है।[७] डॉ० गीता लाल ने भी अपने कथन के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है।[८]

रामदीन गुप्त ने डॉ० रामरतन भटनागर आदि कतिपय आलोचकों के साक्ष्य पर बताया है कि "प्रेमचन्द का 'ग़बन' सन् १९०४ के आसपास इण्डियन प्रेम से प्रकाशित उनके 'कृष्णा' नामक उर्दू-उपन्यास का ही परिवर्तित एवं संशोधित संस्करण है।"[९] प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक किसी प्रमाण के अभाव में इस सम्बन्ध

१. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गांधीवाद, पृ० १४५
२. प्रा०-स्थान—आ० भा०, पु० काशी।
३. प्रा०-स्थान—हिन्दी-पुस्तक-संसार, पटना।
४. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"ग़बन"; लेखक—भारत-विख्यात उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचाद जी; प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी; प्रथम संस्करण; मार्च १९३१; मूल्य ३); पृ०-संख्या ४३९।"
५. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० १३
५. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : एक विवेचना, परिशिष्ट ३
७. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द : एक अध्ययन।
८. डॉ० गीता लाल : प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ साहित्य, जनवरी १९६०
९. रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गांधीवाद, पृ० २२७

में कोई मत व्यक्त करने में असमर्थ है। हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद से 'ग़बन' का तीसरा संस्करण १९५० ई० में प्रकाशित हुआ।[1] यहीं से प्रकाशित 'ग़बन' का एक और संस्करण मुझे देखने को मिला है,[2] पर उसमें न तो संस्करण संख्या दी हुई है, न प्रकाशन-काल। इसका मुद्रक अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद, तथा पृ०-सं० ३३३ है।

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से भी प्रकाशित 'ग़बन' का एक संस्करण मुझे प्राप्त हुआ है, जिसमें न तो प्रकाशन-काल दिया हुआ है, न संस्करण-संख्या।[3] यह अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद से मुद्रित है तथा इसकी पृ० सं० ४१७ है। हंस प्रकाशन, इलहाबाद से जून १९६१ में प्रकाशित एक संस्करण इधर हाल में मेरे देखने में आया है, जिसे अठाइसवाँ संस्करण (दस हज़ार प्रतियों का) बताया गया है।[4] यदि यह मुद्रण की भूल नहीं है तो 'ग़बन' की लोकप्रियता स्वयंसिद्ध है। 'ग़बन' का एक संक्षिप्त संस्करण भी हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से छपा है जिसका नवाँ संस्करण अगस्त १९६१ में (तीन हजार प्रतियों का) प्रकाशित हुआ है।[5]

कर्मभूमि

सन् १९६२ ई० में प्रेमचन्द का 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास सरस्वती प्रेस, बनारस, से प्रेकाशित हुआ है। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक 'कर्मभूमि के प्रथम संस्करण को प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। पर इसके सातवें संस्करण के निवेदन के अन्त में 'सितम्बर १९३२' मुद्रित है, जिससे इसके प्रथम संस्करण के प्रकाशन-काल का अनुमान होता है। प्रेमचन्द के पत्रों से इस अनुमान की पुष्टि होती है। १५ अगस्त १९३२ को उन्होंने जैनेन्द्रकुमार को लिखा था, "कर्मभूमि के बीस फ़ार्म छप चुके हैं। अभी करीब छः फ़ार्म बाकी हैं।"[6] पुनः ७ दिसम्बर १९३२ को उन्होंने जैनेन्द्रकुमार को लिखा: "कर्मभूमि तुम्हें बहुत बुरी नहीं लगी, इससे खुशी हुई।"[7] इससे सिद्ध है कि 'कर्मभूमि' दिसम्बर १९३२ के एक-दो महीने पूर्व अवश्य प्रकाशित हो चुकी होगी। डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रदत्त सूचना से भी उक्त तिथि की पुष्टि होती है। उन्होंने १९३३ ई० के उत्तर-उदेशीय गजट में प्रकाशित प्रथम त्रैमासिक पुस्तक-सूची के आधार पर 'कर्मभूमि' की प्रकाशन-तिथि' १८-१२-३२ बतायी है।[8]

---

१. प्रा०-स्थान—ज० पु० चुन्नी।
२. प्रा०-स्थान—आ० भा० पु०, काशी।
३. प्रा०-स्थान—प० का० पु०, पटना।
४. प्रा०-स्थान—दिल्ली पुस्तक सदन, पटना।
५. वही।
६. अमृतराय: प्रेमचन्द: कलम का सिपाही चिट्ठी-पत्री २, पृ० २६
७. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० २७
८. डॉ० माताप्रसाद गुप्त: प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ, साहित्य, अप्रैल, १९६०।

प्रेमचन्द के २८ फरवरी १९२९ के एक पत्र से, जो दयानरायन निगम को लिखा था, ज्ञात होता है कि इस समय तक 'कर्मभूमि' का लिखना आरम्भ हो गया था। उन्होंने लिखा था : "दूसरी किताबों के मुतल्लिक मैं यही कहूँगा कि आप खुद ही कर लें।...अगर इसे करता हूँ तो मेरा पर्दए-मजाज रह जाता है। सुबह को करता हूँ तो 'कर्मभूमि' में हर्ज होता है।"[1] पर अमृतराय के अनुसार "पांडुलिपि के उपलब्ध अंश के आधार पर इसका लेखन १६ अप्रैल १९३१ को आरम्भ हुआ।[2] पर यह सूचना संदिग्ध जान पड़ती है।

'कर्मभूमि' के प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में सौभाग्यवश हिन्दी के आलोचकों और शोधकर्ताओं द्वारा मनमानी नहीं बरती गई है।

'कर्मभूमि' का छठा संस्करण १९४६ ई० में और सातवाँ संस्करण १९४८ ई० में सरस्वती प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। 'कर्मभूमि' के दो और विभिन्न संस्करण मेरे देखने में आये हैं, जिनमें से किसी में भी प्रकाशन काल या संस्करण संख्या नहीं दी हुई है। इनमें से एक हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, से प्रकाशित और अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद से मुद्रित है।[3] दूसरा संस्करण हंस प्रकाशन इलाहाबाद, से प्रकाशित तथा सम्मेलन मुद्रणालय, इलाहावाद ,से मुद्रित है। इसकी पृ० संख्या ४११ और मूल्य छह रुपये है।[4] हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, से 'कर्मभूमि' का नवाँ संस्करण मार्च १९६१ ई० में प्रकाशित हुआ।[5] हंस प्रकाशन से जनवरी १९६२ में प्रकाशित 'कर्मभूमि' का एक और संस्करण मेरे देखने में आया है, जिसे चतुर्थ संस्करण (४००० का) बताया गया है।[6] पर यह सूचना बिलकुल हास्यास्पद है। एक ही प्रकाशक द्वारा किसी पुस्तक का नवाँ संस्करण मार्च १९६१ ई० में निकले और उसका चौथा संस्करण जनवरी १९६२ में, यह विनोद नहीं तो और क्या है ?

इस प्रकार यह बताना नितान्त कठिन है कि 'कर्मभूमि' के अब तक कितने संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, फिर भी उपर्युक्त सूचनाओं से इसकी लोकप्रियता तो सिद्ध है ही।

गोदान

प्रेमचन्द का अन्तिम (पूर्ण) उपन्यास 'गोदान' सन् १९३६ ई० में हिंदी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई और सरस्वती प्रेस, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ।

---

१. अमृतराय : प्रेमचंद : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री, १, पृ० १७१
२. वही, जीवनी-खंड, पृ० ६५५
३. प्रा०-स्था०—अ० भा० पु०, काशी।
४. प्रा०-स्था०—हिंदी विभागीय पुस्तकालय, पटना विश्वविद्यालय
५. प्रा०-स्थान—मानस पुस्तक विक्रेता, पटना।
६. प्रा०-स्थान—हि० पु० ए०, पटना।

इसका प्रथम संस्करण पटना कालेज पुस्तकालय में उपलब्ध है।[1] इसके प्रकाशन-काल के संबंध में भी हिन्दी के आलोचना ग्रंथों में कोई भ्रम नहीं है।

प्रेमचंद के पत्रों से ज्ञात होता है कि फरवरी १९३२ में 'गोदान' का लेखन आरम्भ हो गया था। अपने २५ फरवरी १९३२ के पत्र में प्रेमचन्द ने दयानारायन निगम को सूचित किया था : "इधर गबन का तर्जुमा भी शुरू कर दिया है, एक नया नाविल भी शुरू कर दिया है। मगर सर्द बाजारी बलाये-जान हो रही है।"[2] फिर २८ नवम्बर १९३४ को उन्होंने जैनेन्द्रकुमार को लिखा : "उपन्यास के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं, उधर मन ही नहीं जाता।"[3] १० जून १९३६ को उन्होंने फिर जैनेन्द्र को लिखा : "गोदान निकल गया। कल तुम्हारे पास जाएगा। खूब मोटा हो गया है, ६०० से (ऊपर) गया। अपना विचार लिखना।"[4]

सन् १९६० तक 'गोदान' के कम से कम १६ संस्करण अवश्य प्रकाशित हो चुके थे। सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद के कर्मचारियों से पूछताछ करने से ज्ञात हुआ कि नवें संस्करण तक प्रायः प्रत्येक संस्करण की दो-दो हजार प्रतियाँ छपती थीं। पर दसवें संस्करण से तीन-तीन हजार प्रतियाँ मुद्रित होने लगीं। इस हिसाब से १९६० ई० तक 'गोदान' की कम से कम ३९ हजार प्रतियाँ अवश्य मुद्रित हो चुकी हैं। पर संख्या सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। १७ अप्रैल १९५९ को महबूब स्टूडियो, बान्दरा में 'गोदान' के 'मुहूरत' के अवसर पर आयोजित एक समारोह के आदरणीय अतिथि, रूस के बम्बई स्थित उपवाणिज्यदूत आइगोर काम्पेन्तसेव ने बताया कि रूस में प्रेमचन्द जी अत्यधिक लोकप्रिय हैं। उनके 'गोदान' पुस्तक की नब्बे हजार प्रतियाँ वहाँ हाथों हाथ बिक गयीं।[5] इसे देखते हुए भारत में २४ वर्षों में गोदान की केवल ३९ हजार प्रतियों का बिकना हिन्दी पाठकों की पठन-क्षमता पर एक कटुव्यंग्य है।

प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास, जिसे वे पूरा न कर सके, 'मंगलसूत्र' है। अमृतराय के अनुसार यह सर्वप्रथम १९४८ में प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम संस्करण हिंदुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। पर उसमें प्रकाशन-काल नहीं दिया है।[6]

---

१. मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"गोदान; लेखक—प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस, बनारस।"
२. अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, चिट्ठी-पत्री १, पृ० १९२
३. वही, चिट्ठी-पत्री २, पृ० ३८
४. वही, पृ० ६४
५. अनजान, गोदान के मुहूरत की एक झलक, 'आज' १० मई १९५९ ई०
६. प्रा०-स्थान—अ० भा० पु०, काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"मंगल-सूत्र ; लेखक - प्रेमचन्द ; प्रकाशक—हिंदुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, बनारस ; प्रथम संस्करण ३०००।"

: ६ :

प्रेमचन्द और उनके उपन्यास

डॉ० प्रतापनारायण टंडन

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द का आविर्भाव एक महत्व-पूर्ण घटना है। हिन्दी के इस सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार का जन्म सन् १८८० में और मृत्यु सन् १९३६ में हुई। उनके लिखे हुए उपन्यासों 'सेवासदन', 'वरदान', 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'कायाकल्प' तथा 'गोदान' आदि ने हिन्दी-उपन्यास को भावी विकास के लिए नये संकेत दिए। प्रेमचन्द के उपन्यास की प्रमुख विशेषताओं में से एक यह है कि उनमें क्रमबद्ध विकास-रेखा दृष्टिगोचर होती है। उनके अधिकांश पात्र ऐसे हैं जो काल्पनिक जगत् के जाल से खिचकर यथार्थ जगत् की व्यावहारिकता की ओर बढ़ते प्रतीत होते हैं। पूर्वयुगीन कथा-परम्परा के फल-स्वरूप वे आदर्शवाद का अनुगमन से करते जान पड़ते हैं, परन्तु इतना होने पर भी नवीन युग की समस्याओं के प्रति उदासीनता उनमें नहीं मिलती। इस दृष्टिकोण से प्रेमचन्द ने हिन्दी-उपन्यास के क्षत्र से सर्वप्रथम उस अनावश्यक आदर्शवादिता का बहिष्कार किया जो भारतेन्दुयुगीन उपन्यासों में विद्यमान थी।

हिन्दी-उपन्यास को नया मोड़ देनेवाले प्रेमचन्द केवल अपने युग के ही नहीं बल्कि संपूर्ण हिन्दी-उपन्यास के इतिहास में सर्वोत्कृष्ट लेखक हैं। आधुनिक युग में हिन्दी-उपन्यास की जो नई प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं, अपने बीज रूप में वे प्रेमचन्द के उपन्यासों में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं। इसी प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों में जो समस्याएँ उठाई गयी हैं वे व्यक्तिगत और पारिवारिक न होकर समाजव्यापी हैं और सामाजिक सीमाओं का स्पर्श करती हैं। प्रेमचन्द ने भारतीय नागरिक एवं ग्रामीण जीवन के अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों और उनके विविध पक्षों पर मानववादी दृष्टिकोण से विचार किया। यही कारण है कि उनकी कृतियाँ जनता का साहित्य है जिनमें भारतीय सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित होता है। ग्रामीण समाज, सामाजिक कुरीतियाँ, धार्मिक पाखंड, वेश्या समस्या, अछूत समस्या, राजनैतिक स्वतन्त्रता,

क्रान्ति का स्वरूप, नागरिक समाज के विभिन्न वर्ग आदि उनके उपन्यासों के प्रमुख विषय कहे जा सकते हैं।

प्रेमचन्द का सर्वप्रथम प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवासदन' (सन् १९१८) उनके आदर्शवादी विचारों का परिचय देने तथा विविध समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण की दृष्टि से असाधारण महत्व का है। यह उपन्यास अपने विषय की प्रवर्तक कृतियों में भी है। समाज की रूढ़िवादिता, स्त्री-शिक्षा की समस्या, अनमेल विवाह की समस्या, दहेज की समस्या आदि पर इसमें विचार किया गया है। यद्यपि ये समस्याएँ किसी न किसी रूप में प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में भी मिलती हैं, परन्तु सामाजिक व्यवस्था की जिन कमियों की ओर इसमें संकेत किया गया है तथा जिन मौलिक परिवर्तनों की आवश्यकता पर जोर दिया गया है वे नवीन है।

'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने कथानक का आरम्भ दरोगा कृष्णचन्द्र के भावात्मक उतार-चढ़ाव के साथ किया है। वह अपने जीवन में किये गये सत्कार्यों के लिए इसलिए पछताते हैं क्योंकि समाज अब उनके योग्य नहीं रहा। कथा के आरम्भिक भाग में लेखक ने समाज में व्याप्त अनेक कुप्रवृत्तियों पर आक्षेप किया है। यह सारा अंश इस समस्यात्मक उपन्यास की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। बाद में पहली उल्लेखनीय घटना कृष्णचन्द्र के गिरफ्तार होने के साथ होती है जिसका कथानक के विकास पर, भावी गति पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ता है। आगे चलकर उनकी पुत्री सुमन का विवाह एक बहुत साधारण और हीन वर्ग के व्यक्ति गजाधर से हो जाता है। वह व्यक्ति अकारण ही एक दिन उसे घर से निकाल देता है। अब तक सुमन के मन में संघर्ष होता रहता है। समाज में धनी स्त्रियों का अपमान और वेश्यओं का सम्मान उसे एक विडम्बना प्रतीत होता है। अन्ततः वह इस परिणाम पर आती है कि धन, शक्ति, धर्म और पवित्रता सब कुछ वेश्याओं के चरणों पर पड़ा रहता है और जब उसे यह मालूम होता है कि भोली नाम की वेश्या की जीवन-कथा भी उसकी अपनी जीवन-कहानी से मिलती-जुलती है तब वह स्वयं भी उसी जीवन को स्वीकार कर लेती है। यहाँ पर इस उपन्यास की कथा को दूसरा विश्राम मिलता है।

सुमन और सदन का पारस्परिक आकर्षण इस उपन्यास की कथा के विकास के तीसरे भाग का आधार है। अनेक प्रासंगिक और सहायक सूत्रोंके साथ अब कथा नयी गति से आगे बढ़ती है। कुछ नाटकीय रूप से सदन का विवाह सुमन की छोटी बहन शांता से निश्चित होता है। सुमन के वेश्या-जीवन और शांता से सगे सम्बन्ध की यथार्थता का बोध होने पर यह विवाह रोक दिया जाता है। फिर सुमन के बुलाने से सदन शांता को स्वीकार कर लेता है। यहाँ से कथा के संघर्ष की गति समाप्त हो जाती है। उपन्यास के अन्तिम भाग में प्रेमचन्द कथा में उठाई गई प्रधान समस्या के निदान के रूप में 'सेवासदन' के नाम से एक आश्रम की स्थापना कराते हैं और सुमन वहाँ

सारा कार्य करते हुए अपना जीवन शांतिमय ढंग से व्यतीत करने लगती है। यह प्रेमचन्द के यथार्थवादी उपन्यासों की आदर्शवादी परिणति है।

प्रेमचन्द के 'वरदान' (सन् १९२०) नामक उपन्यास में उनका 'सेवासदन' जैसा आदर्शवादी दृष्टिकोण तो विद्यमान है, परन्तु जो सुधारवादी भावना 'सेवासदन' में मिलती हैं वह इसमें नहीं मिलती। इस उपन्यास में लेखक ने समाज के उच्च और निम्न वर्गों की पारस्परिक विषमता और उसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई परिस्थितियों की ओर संकेत किया है। कथा की पृष्ठभूमि मुंशी शालीग्राम की सहृदयता, उनकी तीर्थयात्रा, मृत्यु तथा निर्धनता के संकेत से निर्मित होती है। फिर कथा की प्रधान समस्या को उठाया जाता है। स्वर्गीय मुंशीजी के दरिद्र पुत्र प्रतापचन्द्र और संभ्रान्त मुंशी संजीवनलाल की पुत्री बृजरानी में परस्पर सम्पर्क और आकर्षण बढ़ता है। कथा में अब मोड़ उपस्थित होता है और बृजरानी की सगाई डिप्टी श्यामचरण के पुत्र कमलाचरण से हो जाती है। कमलाचरण की उद्दंडता की कथायें सुनते-सुनते उसकी माता रोगग्रस्त होकर मर जाती है। इधर पन्द्रहवें साल में बृजरानी का गौना होता है और उसके शीलपूर्ण संपर्क का कमलाचरण के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ता है।

दूसरी ओर प्रतापचन्द बृजरानी को भुला देने के विचार से काशी छोड़कर प्रयाग चला जाता है। वहाँ वह धीरे-धीरे अपने को अध्ययन-कार्य में लगाकर अपने अतीत को विस्मृत करना चाहता है। सहसा एक दिन उसे बृजरानी के रुग्ण होने की सूचना तार द्वारा प्राप्त होती है। वह तत्काल उसके पास पहुँच जाता है। उचित चिकित्सा, सुश्रूषा के फलस्वरूप बृजरानी पुनः स्वास्थ्य-लाभ कर लेती है। कमलाचरण के स्वभाव में जो सद्चरित्रता बृजरानी के संपर्क से आती है वह प्रयाग में एक कन्या को देखते ही फिर तिरोहित हो जाती है और वह उसी के कारण एक दुर्घटना में मर जाता है। बहुत नाटकीय रूप में प्रतापचन्द्र का स्वभाव और प्रकृति परिवर्तित होती है। वह प्रेम-पीड़ित होकर फिर बृजरानी की पवित्र मूर्ति को देखकर लौट आता है। अब वह साधु हो जाता है और बृजरानी की सखी माधवी के सहयोग से आजीवन सेवा का व्रत लेकर परोपकारी कार्य में लगा रहता है। इस प्रकार 'वरदान' की कथा का अन्त आदर्शात्मक निष्कर्ष की प्रतिष्ठा के साथ होता है।

'प्रेमाश्रम' (सन १९२१) में प्रेमचन्द की कलात्मक प्रतिभा और भी निखरे हुए रूप में सामने आयी है। इसमें ग्रामीण चित्रण की प्रधानता है। प्रेमचन्द ने सबसे पहले अपने इसी उपन्यास में जमींदारी शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई है। लेखक ने ग्रामीण समाज की समस्त कुव्यवस्था का मूल कारण जमींदारी प्रथा को ही माना है। इसकी कथा लखनपुर के जमींदार परिवार से सम्बन्ध रखती है। ज्ञानशंकर और उसके चाचा प्रभाशंकर संयुक्त परिवार में रहते हुए पैतृक सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। ज्ञानशंकर को यह देखकर कष्ट होता है कि आधी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होने पर भी वह केवल एक छोटे से भाग को भोग रहा है और शेष

का सुख प्रभाशंकर के बड़े परिवार को मिल रहा है। इसके अतिरिक्त ज्ञानशंकर अपनी प्रजा पर भी सख्ती रखना चाहता है, परन्तु प्रभाशंकर इस विषय में उदारता वर्तना चाहता है। इसलिए ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या और दूसरे लोगों में न चाहने पर भी ज्ञानशंकर बँटवारा करा लेता है।

यहाँ से कथा का क्षेत्र परिवर्तित हो जाता है। ज्ञानशंकर की ससुराल से विद्या के भाई की मृत्यु की सूचना आती है। अब उसे अपनी ससुराल से कोई संपत्ति न मिलने का जो असंतोष था वह इस सूचना से कम हो जाता है। भीतर से खुश होता हुआ भी ऊपर से शोक प्रकट करता हुआ वह वहाँ जा पहुँचता है। उसकी विधवा साली गायत्री अपने सरल और पवित्र व्यवहार से ज्ञानशंकर की दुस्साहसी वृत्ति को समाप्त कर देती है। इस बीच अपने भाई प्रेमशंकर के अप्रत्याशित रूप से अमेरिका से लौट आने के कारण ज्ञानशंकर को एक नया भय होता है। प्रेमशंकर की पत्नी श्रद्धा बजाय उनका स्वागत करने के उनसे विदेश यात्रा के कारण प्रायश्चित करने की आशा करती है। परन्तु प्रेमशंकर तटस्थ भाव से गाँव वालों की सेवा सहायता का कार्य करते रहते हैं। ज्ञानशंकर के प्रयत्नों से गायत्री को रानी का खिताब मिल जाता है और वह उसकी स्टेट का मैनेजर बन जाता है। ज्ञानशंकर और गायत्री के घनिष्ठ परिचय का प्रमाण जब विद्या को मिलता है तो वह विष खाकर अपने प्राण दे देती है। आगे चलकर गायत्री भी मर जाती है और अन्त में ज्ञानशंकर भी आत्मघात कर लेता है। उपन्यास में प्रेमशंकर, ज्वालासिंह, मनोहर, बलराज और उर्फान अली के माध्यम से एक दूसरी कथा भी आरम्भ से लेकर अन्त तक गतिशील रहती है। इसका सम्बन्ध जमींदारी प्रथा, शोषण प्रथा, राजनैतिक आन्दोलन, गांधीवादी जीवन-दर्शन आदि से है जिसकी परिणति प्रेमाश्रम की स्थापना में होती है।

आकार की दृष्टि से प्रेमचन्द का वृहत्तर उपन्यास 'रंगभूमि' (सन् १६२२) है। इस उपन्यास के द्वारा उन्होंने अपने कथा-क्षेत्र का विस्तार करते हुए भारतीय जनता के शोषण, देशी नरेशों और जमींदारों की स्थिति, अंग्रेजों के कूटनीतिक जाल, शोषक वर्ग की अत्याचारी मनोवृत्ति तथा सत्याग्रह आन्दोलन आदि पर विचार किया है। हिन्दी-उपन्यास में गांधीवादी दर्शन और नीति के प्रवर्तन की दृष्टि से 'रंगभूमि' का बहुत महत्व है। इस दृष्टिकोण से इस उपन्यास के सूरदास नामक पात्र का चरित्र-चित्रण बहुत सफल हुआ है। 'रंगभूमि' का कथानक भी सूरदास के चरित्र को केन्द्र में रखकर हुआ है। वह अन्धा है, भिखारी है और जमीन के छोटे से भाग का स्वामी भी है। उसकी इस जमीन की आवश्यकता जान सेवक के नाम से एक पूँजीपति को पड़ती है और सूरदास उसकी रक्षा के लिए संघर्ष करता है। जान सेवक का कारखाना खोलने का विचार ज्यों-ज्यों व्यावहारिक रूप धारण करता है, त्यों-त्यों अशांति और असंतोष भी बढ़ता है। विवाद बढ़ने पर एक बार गोली भी चल जाती है। भीड़ को शान्त करते हुए सूरदास पर क्लार्क पिस्तौल चला देता है। उसके

घायल होकर गिरने पर भीड़ उत्तेजित हो जाती है। विनय भीड़ को शांत करता है और कुछ लोगों के व्यंग्य करने पर स्वयं भी आत्मघात कर लेता है। उपन्यास की दूसरी समस्या मनोवैज्ञानिक है जिसका सम्बन्ध विनय और सोफिया आदि से है। इस संघर्ष-स्थल पर विनय की मृत्यु के बाद सोफिया भी आत्मघात कर लेती है और रानी जाह्नवी के सेवा-दल की स्थापना के साथ परोपकार के आदर्श के साथ-साथ इस उपन्यास की कथा का भी अन्त होता है।

कथानक की नवीनता की दृष्टि से मुंशी प्रेमचन्द का 'कायाकल्प' (सन् १९२४) नामक उपन्यास महत्व का है। इसमें कुछ आध्यात्मिक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं और पुनर्जीवन विषयक कल्पनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। कथावस्तु की दृष्टि से यह प्रेमचन्द का असामान्य उपन्यास है। इसमें जिन उपन्यासों का अवलम्बन करके चामत्कारिकता उत्पन्न करने की चेष्टा की गयी है उसमें और भारतेन्दु युगीन प्रवृत्तियों में यह अन्तर है कि भारतेन्दुयुगीन उपन्यासों में जहाँ चमत्कार सृष्टि के लिए विभिन्न तिलस्मों की रचना की जाती है और अनेक जासूसी तथा रहस्यमय कथा-संकेतों को प्रस्तुत किया जाता था, वहाँ इस उपन्यास में पूर्वजन्म, भावी जन्म और शाश्वत यौवन की प्राप्ति के लिए की जाने वाली विभिन्न क्रियाएँ आदि रखी गयी हैं। सामुद्रिक विद्या तथा जड़ी-बूटी का जो कुछ प्रभाव इस उपन्यास में दिखाया गया है वह निश्चित रूप से रूढ़िवादी समाज के आचार-विचार का परिचायक है। एक दृष्टि से यह तत्कालीन हिन्दू समाज के आस्थाजन्य विश्वासों का प्रतिरूप है। तिब्बत में निवास करने वाले महात्माओं का अलौकिक शक्ति से सम्पन्न होना इसी प्रकार का एक सामान्य विश्वास है।

'कायाकल्प' में आध्यात्मिकता और चामत्कारिकता से युक्त कथा का विकास भी जटिल सूत्रात्मक रूप से होता है। मुंशी वज्रधर का पुत्र चक्रधर पूर्ण सुशिक्षित होकर अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध समाज-सेवा करता है। पिता के ज़ोर देने पर वह जगदीशपुर के दीवान की कन्या मनोरमा को पढ़ाने लगता है। कथा का यह अंश मुख्य पात्र के चरित्र की पृष्ठभूमि के रूप में है। अहिल्या के साथ चक्रधर का विवाह निश्चित होना भी इसी का भाग है। उपन्यास की कथा का दूसरा सूत्र जगदीशपुर की रानी देवप्रिया से सम्बन्ध रखता है। वह अपने पूर्व जन्म के पति को इस जन्म में एक राजकुमार के रूप में प्राप्त करती है। फिर वह अपना राज्य ठाकुर विशालसिंह को देकर राजकुमार के साथ निकल जाती है। ठाकुर विशालसिंह राज्य सँभाल लेते हैं, परन्तु उनके राजतिलक के अवसर पर होने वाले जन-शोषण का चक्रधर विरोध करता है। दंगा होता है और वह जेल में डाल दिया जाता है। मनोरमा राजा से भेंट करके चक्रधर को छुड़ाना चाहती है, परन्तु चक्रधर कोई भी रियायत अस्वीकार कर देता है। इधर आगरे में हिन्दू-मुसलमानों का दंगा होने पर अहिल्या के पिता की हत्या कर दी जाती है। अहिल्या का अपहरण भी होता है। परन्तु चक्रधर उससे विवाह

कर लेता है और माता-पिता के विरोध को अवसर न देता हुआ इलाहाबाद जाकर रहने लगता है, जहाँ उसके एक पुत्र शंखधर जन्म लेता है।

परिस्थितिवश मनोरमा को राजा विशालसिंह से विवाह करना पड़ता है। वह उनकी चौथी रानी बन जाती है। एक बार बहुत बीमार होने पर चक्रधर उसे सपरिवार देखने आता है। अब नाटकीय रूप से पता चलता है कि अहिल्या राजा साहब की बीस वर्ष पहले खोई हुई कन्या है। चक्रधर के परिवार के लोग राजसी जीवन व्यतीत करने लगते हैं। यह जीवन चक्रधर को धिक्कारता-सा लगता है। वह एक दिन चुपचाप वहाँ से चल पड़ता है। उसकी खोज में निकलकर शंखधर एक दिन हर्षपुर पहुँचकर रानी कमला से भेंट करता है। दोनों पूर्व जन्म के पति-पत्नी सिद्ध होते हैं। अब एक बार फिर से सभी पात्रों का मिलन हो जाता है। परन्तु शंखधर की मृत्यु के बाद राजा साहब भी मर जाते हैं और अहिल्या भी। रानी देवप्रिया अन्त में पुनः अपने राज्य को सँभालती है और तपस्विनियों जैसा जीवन व्यतीत करती हैं, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि पति के कथनानुसार ऐसा जीवन व्यतीत करते हुए वह पुनः उन्हें प्राप्त कर सकेंगी। इसी प्रकार से इस उपन्यास के रहस्यपूर्ण कथानक की समाप्ति होती है।

'निर्मला' (सन् १९२८) तथा 'प्रतिज्ञा' (सन् १९२९) उपन्यासों में प्रेमचन्द ने दहेज, अनमेल विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि सामाजिक समस्याओं को उठाया है। इस प्रकार की समस्याएँ प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों का भी विषय रही हैं। परन्तु शिल्प की दृष्टि से इनमें उन उपन्यासों की अपेक्षा अधिक संगठनात्मकता मिलती है। कथा-विकास के उद्देश्य से पूर्ववर्ती उपन्यासकार जिन सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण किया करते थे वह इससे पूर्णतः भिन्न है। इनमें कहीं-कहीं स्वप्न आदि के आधार पर भावी संकेतों को प्रस्तुत किया है। 'निर्मला' की कथा का विकास भी अन्य उपन्यासों की भाँति समस्यात्मक रूप में होता है। इसमें लेखक ने अनमेल विवाह की विडम्बना का संकेत किया है। उदयभानसिंह अपनी कन्या निर्मला का विवाह धूमधाम से करना चाहता है, परन्तु कथा के आरम्भिक भाग में ही उनकी हत्या कर दी जाती है। अब निर्मला का पूर्व-निर्धारित सम्बन्ध भंग हो जाता है और मुंशी तोताराम नाम के एक वकील से उसका विवाह हो जाता है, जो विधुर थे और जिनके तीन लड़के थे। यहाँ से निर्मला के दुर्भाग्य की कथा आरम्भ हो जाती है। मुंशीजी के घर में अशांति बढ़ने लगती है। निर्मला के किशोर हृदय की सारी कामनाएँ अतृप्त रह जाती हैं। वह किसी प्रकार अपने मन को वश में किए हुए दिन गुजारती है, परन्तु इसी बीच मुंशी जी को यह संदेह होता है कि निर्मला और उनके बड़े पुत्र मंसाराम परस्पर आकर्षित हैं। वह मंसाराम को छात्रावास में भेज देते हैं, जहाँ वह रोगी होकर मर जाता है। मुंशीजी को अब अपनी भूल मालूम होती है और वह पश्चाताप की ज्वाला में मन ही मन घुलते रहते हैं। कुछ समय बाद निर्मला के एक कन्या जन्म जन्म लेती है, परन्तु दुर्भाग्यवश उसी

समय मुंशी जी का मकान नीलाम हो जाता है। उनका दूसरा पुत्र जियाराम बुरी संगत में पड़कर विमाता के गहने चुरा ले जाता है। बाद में भेद खुलने पर वह आत्मघात कर लेता है और एक दिन जब उनका तीसरा पुत्र सियाराम भी किसी साधु के बहकावे में आकर घर छोड़देता है तो मुंशी जी भी उसे ढूंढ़ने निकल जाते हैं। निर्मला किसी प्रकार अपने दुर्भाग्य से लड़ती रहती है, परन्तु एक दिन अपनी सखी सुधा के पति की क्षणिक दुर्बलता से उसको मार्मिक चोट पहुँचती है। अब वह भी बीमार हो जाती है और उसकी मृत्यु हो जाती है। अंत समय में मुंशी जी दाहकर्म के लिए नाटकीय रूप से वहाँ पर उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार से दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, और वृद्ध विवाह की समस्याओं की विडम्बनात्मक परिणति के साथ इस उपन्यास की समाप्ति होती है।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास की कथा भी मूलतः विधवा विवाह की समस्या से सम्बन्ध रखती है। कथा के आरम्भिक भाग में एक दुर्घटना में पूर्णा के पति की मृत्यु हो जाती है। उसके विधवा और असहाय हो जाने पर बद्रीप्रसाद उसकी सहायता करने का विचार करते हैं। उनका पुत्र कमलाप्रसाद पहले इसका विरोध करता है, परन्तु बाद में पूर्णा के रूप पर मुग्ध होकर उसे आश्रय देता है। उसकी पत्नी सुमित्रा को यह सहन नहीं होता। गृह-कलह होने लगती है और अनेक अवसरों पर वातावरण में कटुता आ जाती है। अन्त में पूर्णा एक वनिताश्रम में रहने का निश्चय करके अपना जीवन भक्ति और साधना में लगा देती है। इस उपन्यास में मुख्य कथा के साथ ही साथ एक प्रासंगिक कथा भी है जिसका सम्बन्ध प्रेमा, अमृतराय, दाननाथ आदि व्यक्तियों से है। इसे प्रधान कथा की पूरक अथवा सहायक कथा भी कहा जा सकता है, क्योंकि यह उपन्यास में प्रस्तुत की गई व्यावहारिक समस्या के सैद्धान्तिक पक्ष से सम्बन्ध रखती है।

प्रेमचन्द का 'गबन' (सन् १९३१) नामक उपन्यास समस्या-प्रधान है और कलात्मक प्रौढ़ता की दृष्टि से महत्व का है। इसकी कथा दहेज, रिश्वत, शासन के अत्याचार, अनमेल विवाह तथा मध्यवर्गीय समाज की आर्थिक समस्याओं से सम्बन्ध रखती है। 'गबन' की नायिका जालपा को विवाह में चन्द्रहार नहीं मिलता जिसके लिए बचपन से ही उसके मन में एक अदम्य चाह थी। यही नहीं उसके अन्य गहने भी चोरी चले जाते हैं। उसका पति रमानाथ आर्थिक कारणों से अपने पिता का विरोध करता है, परन्तु उसका मिथ्या अभिमान जालपा के सामने अपनी दरिद्रता नहीं प्रकट होने देता। परिस्थितिवश रमानाथ को अपने दफ्तर से रुपया गबन करना पड़ता है। यद्यपि जालपा वह रुपया तत्काल जमा करवा देती है और अपनी अदूरदर्शिता पर पश्चाताप करती है, परन्तु रमानाथ अपने को अपराधी समझकर प्रयाग से कलकत्ता भाग जाता है और वहाँ एक लम्बे समय तक पुलिस के हथकंडों का शिकार बनता रहता है। यह सारी कथा अत्यन्त नाटकीय ढंग से विकसित हुई है। अन्त में इसका झुकाव आदर्शात्मक तत्वों की ओर हुआ है। कई वर्षों में संघर्ष के

पश्चात रमानाथ की आँखें खुलती हैं। जोहरा का आत्म बलिदान भी उसकी चेतना को गति देता है और एक विवशता की भावना के साथ कथा समाप्त होती है। प्रासंगिक रूप से इसमें रमेश, इंदु भूषण तथा रतन की कथा भी चलती है। जिसका सम्बन्ध संयुक्त परिवार में स्त्री और विशेष रूप से विधवा के हीन स्थान और अनिश्चित भविष्य की समस्या से है।

'कर्मभूमि' की कथा भी प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की भाँति बहुसूत्री है। इसका नायक अमरकान्त है जिसके पिता एक बड़े व्यापारी होते हुए भी अपनी मातृहीन संतान को स्कूल की फीस तक के लिए तरसाते हैं। अमरकांत चर्खा चलाता तथा ग्राम सेवा करता हुआ मैट्रिक की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है। अपनी पत्नी सुखदा के कारण वह राजनैतिक कार्यकलाप में अधिक भाग नहीं लेता। धीरे-धीरे वह दुकान पर भी बैठना स्वीकार कर लेता है। वहीं उसका परिचय बुढ़िया पठानिन और उसकी पोती शकीना से होता है। वहीं वह एक गोरे की हत्या मुन्नी नामक एक स्त्री के द्वारा होते देखता है। मुन्नी पर मुकदमा चलता है और वह बरी होकर कहीं चली जाती है। कुछ समय बाद गृह-कलह से ऊबकर अमरकांत पिता से अलग रहने लगता है। वह खद्दर की फेरी करता है और उसकी पत्नी एक बालिका विद्यालय में नौकरी। उसके हृदय में शकीना के प्रति आकर्षण बढ़ता रहता है, परन्तु वह अपने-आप को विवश समझकर गाँव चला जाता है और वहाँ हरिजन सेवा करने लगता है। वहीं पर उसकी भेंट मुन्नी से भी होती है।

कुछ समय बाद वहाँ उसका भूतपूर्व सहपाठी सलीम आई० सी० एस० होकर आता है। उसका और शकीना के सम्बन्ध का भी परिचय अमरकांत को यहीं मिलता है। इसी बीच वहाँ पर लगान के सिलसिले में बलवा होता है। अमरकांत गिरफ्तार हो जाता है। सलीम को गाँववालों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रिपोर्ट लिखने पर नौकरी से अलग कर दिया जाता है। बाद में जनसेवा करने पर वह भी गिरफ्तार होकर अमरकांत के पास जेल में पहुँच जाता है। इधर शहर में लाला समरकांत अछूतों का विरोध करते हैं। धीरे-धीरे विवाद इतना बढ़ जाता है कि गोली तक चल जाती है। लालाजी की पुत्री और पुत्रबधू भी जेल जाती हैं। अन्त में आन्दोलन समाप्त हो जाता है और सभी लोग छूट जाते हैं। अछूतों की समानता पर बल देते हुए उपन्यास की मूल कथा और प्रासंगिक कथाएँ भी समाप्त हो जाती हैं।

प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास 'गोदान' है। इसमें ग्रामीण और नागरिक समाज से सम्बन्ध रखने वाले कथा-सूत्र मुख्य पात्र होरी के चरित्र को केन्द्रित कर विकसित हुए हैं। होरी निर्धनता के अभिशाप से पीड़ित किसान है। एक पूरा परिवार उस पर आश्रित है। हीन स्थिति में रहता हुआ भी वह अपनी एक गाय प्राप्त करने की लालसा नहीं दबा पाता और भोला अहीर से एक गाय ले आता है। गाय आने पर उसके दो भाई हीरा और शोभा उससे और अधिक द्वेष करने लगते हैं और एक रात हीरा उसकी गाय को कुछ खिलाकर मार डालता है। बाद में हीरा

पुलिस के भय से गाँव छोड़कर भाग जाता है और उसके परिवार का बोझ भी होरी पर आ जाता है। गाय लाने के सिलसिले में होरी के लड़के गोबर का परिचय भोला अहीर की विधवा लड़की झुनिया से होता है। आखिरकार झुनिया भी होरी के आश्रय में आ जाती है। गोबर शहर चला जाता है। गाँव में होरी के बैल बिक जाते हैं और वह मजदूरी करने लगता है। शहर में खोमचा लगाकर कुछ सौ रुपया कमाकर गोबर गाँव लौटता है। यहाँ पर वह बाप की सहायता करना चाहता है लेकिन धर्मभीरु और आदर्शवादी पिता के स्वभाव से खीझकर वह झुनिया को अपने साथ लेकर वापिस शहर चला जाता है। वहाँ उसे स्वयं भी मजदूरी करनी पड़ती है और संकटग्रस्त रहना पड़ता है। इधर होरी की हालत बराबर बिगड़ती जाती है। बैल बिकने के बाद उसका खेत बेदखल होने लगता है। विवश होकर वह अपनी किशोरी कन्या का विवाह एक धनी अधेड़ से कर देता है। कन्या को बेचने का पातक उसे कचोटता रहता है। अन्त में एक दिन मजदूरी करता हुआ वह लू में झुलसकर अपने प्राण दे देता है। राय साहब, भोला अहीर, दरोगा, मातादीन, दातादीन, सिलिया तथा नोखेराम नामक पात्र-पात्री भी किसी न किसी रूप में इसी मुख्य कथा से सम्बद्ध हैं। किसानों और मजदूरों की शोषित अवस्था का बहुत ही यथार्थ और तुलनात्मक अध्ययन प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में उपस्थित किया है। नागरिक पात्रों में मेहता तथा मालती कथा से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं, परन्तु इनके प्रसंगों में नाटकीयता का समावेश अपेक्षाकृत अधिक मिलता है।

प्रेमचन्द की अन्तिम कृति 'गोदान' उनके समस्त उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है। इस उपन्यास का हिन्दी कथा-साहित्य में अन्यतम स्थान है। गोदान का महत्व जहाँ एक ओर पूर्ववर्ती कथा-साहित्य की परम्परा में विशिष्ट है, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में एक नई दिशा का निर्देश करने की दृष्टि से भी इसका महत्व बहुत अधिक है। मेहता का पठान वेष में आना और पार्टी में सम्मिलित लोगों को आतंकित करना आदि जैसे नाटकीय दृश्य भारतेन्दुयुगीन प्रवृत्तियों का स्मरण कराते हैं। आदर्शवादी परम्परा का प्रसार करने की दृष्टि से भी 'गोदान' का अपना स्थान है। प्रासंगिक कथाओं का समावेश उपन्यास की मूल कथा के विकास में सहायक होता है। 'गोदान' में भी परम्परागत रूप में इसका निर्वाह किया गया है। परन्तु दूसरी दृष्टि से यह एक नई दृष्टि का सूचक उपन्यास है। ग्रामीण और नागरिक जीवन के पात्रों का बहुत ही संयोजित और सन्तुलित समन्वय इस उपन्यास में मिलता है। प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से यदि इनकी तुलना की जाय तो यह ज्ञात होगा कि उन सभी की अपेक्षा इसमें कथानक की एकसूत्रता अधिक सुरक्षित रह सकी है। कहीं-कहीं इस कृति में ऐसा भी भ्रम होता है कि ग्रामीण और नागरिक जीवन-चित्रणों की विडम्बनात्मक अभिव्यक्ति ही उपन्यासकार का उद्देश्य था क्योंकि परि-स्थितिजन्य वैषम्य और जटिलताओं का जो चित्रण इस कृति में प्रौढ़ स्तर पर मिलता है वह अन्य किसी कृति में नहीं।

उपन्यासकार प्रेमचन्द की विविध रचनाओं पर एक दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि उनके उपन्यासों के कथानक विस्तार क्षेत्र की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनकी सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनका कथानक बहुत ही सुनिश्चित गति से विकसित होता है। उनके प्रत्येक उपन्यास में कथा का विस्तार एक निश्चित योजना के अनुसार हुआ है। तथापि यह भिन्न बात है कि 'रंगभूमि' तथा 'कायाकल्प' उपन्यासों के कथानक किसी सीमा तक अनावश्यक रूप से विकसित हो गए हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में घटनाओं का चयन भी इस रूप में होता है कि वह कथा में स्वाभाविकता के निर्वाह के साथ-साथ नाटकीयता के समावेश को भी बहिष्कृत रख सकें। इसीलिए वे भावना-प्रधान और नाटकीय तत्वों से आक्रान्त उपन्यास नहीं बन पाये हैं। सरलता और सादगी की दृष्टि से प्रेमचन्द की कथा-कृतियाँ विशिष्टता रखती हैं। उनकी कथावस्तु में निर्माण-कौशल और क्रमिक विकास गति के साथ-साथ स्वाभाविकता भी रहती हैं। घटनाचक्र की जटिलता और प्रासंगिक कथाओं की बहुलता के बावजूद भी उनमें बोझिलता का दोष नहीं आने पाता।

प्रेमचन्द के कथानक अनावश्यक उलझावों से भी मुक्त हैं। पूर्वयुगीन उपन्यासों में यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से विद्यमान थी। प्रेमचंद युग तक आते-आते यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे समाप्त हो गई। प्रेमचन्द को इसका श्रेय इसलिए है क्योंकि उनके लगभग सभी उपन्यास यथार्थवादी आधारभूमि पर लिखे गए हैं और उनमें अधिकांशतः कोई कथात्मक रहस्यात्मकता नहीं मिलती। साथ ही प्रेमचन्द की कथाओं में कहीं-कहीं भावी घटनाओं का आभास पात्रों को पूर्व समय में ही मिल जाता है। प्रेमचन्द के पात्रों में चारित्रिक विश्लेषण तथा घटना-विन्यास के सूचक ऐसे संकेत बाहुलता से मिलते हैं जो भावी कथा विकास का निर्देश करते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस प्रकार के संकेत इतने भावात्मक रूप में मिलते हैं कि पाठक का हृदय आन्दोलित होने लगता है। वह भी पात्रों के साथ साथ उन्हीं के रंग में रँग जाता है तथा उनकी अनुभूति की कल्पना कर आगे की आशंका से काँप उठता है या हर्ष की सिहरन से सिहर उठता है। प्रेमचंद के कथानक में विविध सूत्रों का संगठन जिस वैज्ञानिक रूप में मिलता है वह हिन्दी उपन्यास के लिए सर्वथा नई वस्तु थी। यह विशेषता पूर्वयुगीन उपन्यासों में नहीं मिलती। परन्तु कहीं-कहीं कुछ व्यावहारिक दोष प्रेमचन्द के कुछ उपन्यासों में अवश्य मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'सेवासदन' में जब सुमन वेश्यागृह का परित्याग करती है तब लेखक ने हास्य की जो छटा दिखलाने का जो प्रयत्न किया है वह न केवल अप्रासंगिक हैं वरन कथा के प्रवाह और रस-सृष्टि की दृष्टि से भी अनौचित्यपूर्ण है।

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के इतिहास में मुंशी प्रेमचन्द को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। उन्होंने हिन्दी उपन्यास की पूर्ववर्ती समस्त परम्पराओं का अनुगमन और संयोजन करते हुए उसे भावी विकास के लिए विविध धाराओं से युक्त एक ऐसी

दिशा दी जिससे उसके विविध अंगों को समुचित रूप से पल्लवित होने का अवसर मिला। उनके उपन्यास समकालीन युग-जीवन के सजीव चित्र हैं। हिन्दी के सभी उपन्यासकारों में प्रेमचन्द एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिन्होंने भावी कथा साहित्य और कथाकारों को बहुत ही व्यापक रूप में प्रभावित किया था। प्रेमचन्दोत्तर हिंदी उपन्यास साहित्य का विकास प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की महानता और विराटता का प्रमाण है। संक्षेप में, प्रेमचन्द का कथा-साहित्य भी हिंदी उपन्यास की उसी महान परम्परा को आगे बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ है जिसका प्रसार भविष्य में अनिश्चित काल तक होने वाला है और जिसकी जड़ें अतीत में भी सुदीर्घ काल तक फैली हुई हैं।

: ७ :

प्रेमचन्द के उपन्यासों का वर्गीकरण

श्रीमती कमला सांघी

प्रेमचन्द जी ने कहा है कि "साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलंबित हो और प्रेम, क्रोध ईर्ष्या, और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा,—सभी में हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।"[1] इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला की साधना स्वयं ही अपना आदर्श है, यह मत प्रेमचन्द जी को स्वीकार्य था इसी को वे 'साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श' मानते हैं। मनुष्य की ईर्ष्या, प्रेम इत्यादि 'मौलिक प्रवृत्तियों' की छटा दिखाना वे साहित्य का उद्देश्य समझते हैं। कदाचित् इससे उनका तात्पर्य रस की सृष्टि से है, जिसे भारतीय साहित्य के आधुनिक एवं प्राचीन मर्मज्ञों ने काव्य की आत्मा माना है। परन्तु देखना होगा कि अपनी उपन्यास-साधना में प्रेमचन्द जी स्वयं कहाँ तक इस उपयुक्त आदर्श का पालन कर सके।

यदि और अधिक स्पष्ट रीति से कहा जाय तो मनुष्य की नैसर्गिक मनोवैज्ञानिक परिस्थिति ही उपन्यास-कला का क्षेत्र ठहरेगी। प्रेमचन्द जी की स्पष्ट विवेचना के लिए इन्हीं मान्य आधारों पर उनके उपन्यासों का वर्गीकरण करना होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में उपन्यासों के प्रत्यक्ष दो भेद—'सामाजिक' और 'ऐतिहासिक'—माने हैं। इससे कदाचित् उनका तात्पर्य यह है कि कथा विषयक सामग्री उपन्यासकार या तो प्राचीन इतिहास से लेता है या अपने समय के सामाजिक जीवन से। किन्तु, इस अभिप्राय से किया गया उपर्युक्त वर्गीकरण अधिक सार्थक नहीं। साधारणतः इसका अर्थ यह होगा

१. कुछ विचार, प्रेमचन्द, पृष्ठ ७८

कि एक कोटि के उपन्यास सामाजिक चित्रों के चित्रण में संलग्न रहते हैं तथा दूसरी कोटि के उपन्यास अपने चरित्र इत्यादि शायद ऐतिहासिक चरित्रों में से ही लेते होंगे, और उनमें वर्तमान के विपरीत अतीत का चित्रण होता होगा। आगे चलकर उन्होंने कथावस्तु एवं रचना-प्रणाली के आधार पर उपन्यासों के सात भेद बताए हैं—१. घटना वैचित्र्य प्रधान, २. पारस्परिक मार्मिक-सम्बन्ध-प्रधान, ३. सामाजिक वर्गविषयक, ४. शील-वैचित्र्यप्रधान, ५. जाति एवं मतविषयक, ६. समाज के पाखण्ड-पूर्ण पक्षों के चित्र, ७. बाह्य आभ्यन्तर प्रकृति की रमणीयता के चित्र। यह वर्गीकरण भी अधिक उपयुक्त नहीं है। उपन्यास-कला के विवेचनात्मक अध्ययन में यह विशेष सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। इस वर्गीकरण का प्रत्यक्ष दोष तो यह है कि इसमें कहीं चरित्र को आधार मानकर कोटि को स्थिर किया गया है, कहीं कौशल को, कहीं भावनाओं को, और कहीं कलाकार के अभिप्राय को लेकर ही वर्गविशेष को स्थिर करने की चेष्टा की गई है।

'वस्तु', 'चरित्र' एवं 'रचना-कौशल' ये उपन्यास-कला के प्रधान अवयव हैं। इनका अपना-अपना स्वाधीन अस्तित्व है। उपर्युक्त दोनों भेदों तथा सात विभागों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के वर्गीकरण के क्रम में उपन्यास-कला के अंग तथा उपांगों की खिचड़ी एक कर दी गई है। उनमें से फिर दाल या चावल ही नहीं, बल्कि नमक-मिर्च और मसाले के अंश को भी पृथक् करने का प्रयास किया गया है। इससे अधिक सरल एवं स्पष्ट वर्गीकरण यदि इस प्रकार किया जाय तो कदाचित् उपन्यास-कला का अधिक अच्छा अध्ययन सम्भव हो सकेगा —(१) समस्याप्रधान, (२) घटनाप्रधान, (३) चरित्रप्रधान,

समस्या चाहे धार्मिक हो, सामाजिक या राजनीतिक, उसका सम्बन्ध जाति से हो या वर्ग विशेष से, रहेगी वह समस्या ही। एक या अनेक समस्याओं को सुलझाने का, उन्हें न्यूनाधिक चित्रित करने का प्रयास जहाँ किया गया हो, ऐसे प्रयत्न 'समस्याप्रधान' की कोटि में भली प्रकार आ सकते हैं। जहाँ उपन्यास की प्रेरणा चरित्र या चरित्रों की व्यक्तिगत एवं पारस्परिक विशेषताओं से मिली हो, उसे निस्सन्देह चरित्रप्रधान उपन्यासों की कोटि में रखा जा सकता है। कभी-कभी विशेष रूप से घटने वाली एक या अनेक घटनाएँ उपन्यासकार को प्रेरित करती हैं और उपन्यास की सृष्टि होती है। यह प्रयत्न निस्सन्देह 'घटनाप्रधान' की कोटि में आ जाता है। उपन्यास की सामग्री—चाहे वह किसी कोटि की हो—प्रस्तुत सामाजिक जीवन से भी ली जा सकती है और प्रचलित आख्यानों से भी, जिन्हें विस्तृत अर्थ में इतिहास कहा जाता है। 'कुत्सित' अथवा 'रमणीय' चित्रण जिन्हें श्री रामचन्द्र शुक्ल ने पृथक् पृथक् कोटियों का आधार माना है, उनका तो वास्तव में उपन्यसकार के रचना-कौशल से सम्बन्ध है।

उपन्यासों के विश्लेषणात्मक अध्ययन के पश्चात् यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी उपन्यास वर्गविशेष में एकान्त रूप से नहीं रखा जा सकता है।

किसी एक वर्ग की विशेषताएँ उसमें यदि अधिक प्रधानता रखती हैं तो अन्य वर्ग या वर्गों की विशेषताएँ कुछ गौण रूप में वर्तमान रहती हैं। प्राय: यही क्रम देखा जाता है।

यदि प्रेमचन्द जी के उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाय तो सामान्यत: उनमें से एक भी किसी वर्गविशेष में नहीं रखा जा सकता। प्राय: सभी में उपर्युक्त तीनों वर्गों का सम्मिश्रण सा है।

जैसा कि प्रारम्भ में ही उद्धृत किया जा चुका है, प्रेमचन्द जी भी 'कला' के लिए 'कला' सिद्धान्त के कायल तो थे, किन्तु वे यह भी जानते थे कि उपर्युक्त सिद्धान्त का पालन उनके लिए कार्यरूप से सम्भव नहीं। 'कुछ विचार' में उन्होंने कहा भी है—"जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े—वह उनसे आन्दोलित न हो।" इस दृष्टिकोण से यदि उनके उपन्यासों की समीक्षा की जाय तो यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनकी प्रत्येक कृति सामाजिक, राजनीतिक अथवा ग्रामीण समस्याओं के ढाँचे पर ही खड़ी की गई थी। विधवा-विवाह, अनमेल विवाह, किसान और ज़मींदार का संघर्ष, खेती या उद्योग-धन्धों की होड़, शहरी और देहाती जीवन का असामंजस्य तथा विविध अन्य सुधार एवं जागृति सम्बन्धी आन्दोलन ही उनके उपन्यासों के प्रधान विषय हैं। किन्तु, शंखधर या वज्रधर, प्रेमशंकर या ज्ञानशंकर, सुमन या गायत्री, मेहता, सूरदास या होरी आदि चरित्रों के अपने व्यक्तित्व कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। उनका अपना आकर्षण, उनकी निजी चेतना तथा व्यक्तित्व इन उपन्यासों की सृष्टि में अपना विशेष योग रखते हैं।

समय-समय पर घट जाने वाली 'कायाकल्प' की दैवी घटनाएँ, 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में वर्णित कितनी ही अलौकिकताएँ, जिनकी ओर लेखक का असाधारण आकर्षण स्पष्ट है, उसके घटनोन्मुख होने का निश्चित प्रमाण हैं। अत: प्रेमचन्द की उपन्यास-सृष्टि में भी उपर्युक्त तीनों वर्गों की स्थिति पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है।

हिन्दी-संसार को सबसे पहली कृति जो प्रेमचन्द जी ने भेंट की वह थी 'प्रेमा'। यह उनकी उर्दू कृति "हम खुरमा वा हम सबाब" के आधार पर हिन्दी में उनका प्रथम प्रयास था। इसमें उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया है। इसमें हिन्दू-समाज की इस समस्या पर न केवल प्रकाश ही डाला गया है, वरन् पुनर्विवाह को ही उस समस्या का हल सिद्ध किया गया है। किन्तु, वैवाहिक जीवन की यही तो एक समस्या नहीं थी। वृद्ध-विवाह, अनमेल विवाह इत्यादि अन्य प्रश्न

भी तो इसके साथ ही जुड़े हुए थे। इन रूढ़ियों की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट करना भी उतना ही आवश्यक था और इसके फलस्वरूप 'सेवासदन', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' की सृष्टि हुई। लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि ये कृतियाँ एक साथ या एक के बाद दूसरी के क्रम से नहीं आई थीं।

हिन्दी-उपन्यास के इतिहास पर दृष्टि डालते ही यह ज्ञात हो जाता है कि साहित्य के अन्य अंगों की भाँति उपन्यासों का श्रीगणेश भी भारतेन्दु जी के हाथों हो चुका था और 'पूर्णप्रकाश' और 'चन्द्रप्रभा' प्रकाशित हो चुके थे। यद्यपि ये मौलिक नहीं थे, तथापि इनकी समस्याएँ एवं उन समस्याओं के हल हिन्दी-संसार के लिए नए अवश्य थे। इनमें भी विधवाओं की समस्या एवं वृद्ध-विवाह के अनौचित्य पर मार्मिक आलोचनाएँ थीं। सम्भव है इस प्रश्न की ओर प्रेमचन्दजी का ध्यान इन्हीं उपन्यासों के द्वारा आकृष्ट हुआ हो और उन्हें अपनी 'प्रेमा' तथा अन्य कृतियों के लिए प्रेरणा मिली हो।

'सेवासदन' प्रधान रूप से वैवाहिक समस्या को लेकर सामने आता है। किन्तु इसके साथ जुड़े हुए अन्य प्रश्न भी आवश्यक तर्क के साथ पेश किये गये हैं। समाज में वेश्याएँ तथा विवाह से सम्बन्ध रखने वाली दकियानूसी, स्वार्थ एवं दम्भपूर्ण प्रथाएँ जीवन में कितनी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती हैं—इनके चित्र कम मार्मिक नहीं हैं। यों तो प्रधानतः यह उपन्यास समस्या प्रधान है, किन्तु सुमन, पद्मसिंह पात्रों के व्यक्तित्व आकर्षण से खाली नहीं हैं।

'वरदान' एक छोटा सा उपन्यास है जिसमें पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों पर अनेक चुटकियाँ भी ली गई हैं। यह शायद 'सेवासदन' से पहले की कृति है, किन्तु इसका प्रकाशन बाद में हुआ था। इन कृतियों का प्रकाशन लगभग सन् १९१६ तक हो चुका था।

प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के बाद बाह्य प्रभावों एवं आन्तरिक परिस्थितियों ने उत्तर भारत के राष्ट्रीय जीवन में कुछ नई हलचल पैदा कर दी थी। किसान और ज़मींदारों के बीच ऐसी गांठें पड़ती जा रही थीं जिनके कारण उनके शान्तिमय जीवन का संक्षुब्ध हो उठना आवश्यक सा हो गया था। लोगों का अनुमान था कि युद्ध में की गई सेवाओं के फलस्वरूप भारत को कुछ नये अधिकारों की प्राप्ति हो सकेगी। किन्तु यह पुरस्कार 'रोलेट ऐक्ट', 'इन्डेमीनिटी बिल' के रूप में प्रस्तुत किया गया और जलियांवाला बाग की घटना ने देश को प्रकम्पित कर दिया। उस समय समाज-सुधार एवं अन्य घरेलू समस्याएँ अपने आप गौण हो गईं। ज़मींदार और किसानों का प्रश्न स्वभावतः राजनीतिक समस्या का ही अंग था। ऐसी परिस्थिति में प्रेमचन्द जैसे कलाकार का उस ओर से उदासीन रहना असम्भव था और 'प्रेमाश्रम' को लेकर वे हिन्दी-साहित्य के सामने आये। देहातों में किसानों का घरेलू जीवन, उनकी पारिवारिक समस्याओं, जमींदारों के साथ उनके रोज़ के झगड़े, मुकदमेबाजी,

कचहरियों का विषाक्त वातावरण, पुलिस और सरकारी अमलों के हथकंडे, शहरी जीवन, उद्योग-धन्धों के द्वारा कृषि का विनाश इत्यादि कितने ही प्रश्न ऐसे हैं जिन्हें प्रेमचन्द के द्वारा जनता के सामने लाने की चेष्टा की गई है। यों कहना चाहिए कि उपर्युक्त गुत्थियों का चित्रण एवं उनके सुलझाने की चेष्टा, यही इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य है। इन्हीं के साथ-साथ हमारे जीवन के अन्य अनेक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। इस उपन्यास में भी प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर, गायत्री और श्रद्धा, ईर्फ़ानअली इत्यादि चरित्र अपने व्यक्तित्व का आकर्षण रखते हैं। चारित्रिक उत्थान और पतन, सबलताएँ और दुर्बलताएँ स्थल-स्थल पर सजीव हो उठती हैं, और जीवन के यदि सब नहीं तो अनेक पार्श्व चित्रित होकर हमारे सामने आ जाते हैं।

राष्ट्रीय चेतना का यह युग विविध आन्दोलनों का युग था। इस युग की अच्छी खासी छाप 'प्रेमाश्रम' में दीख पड़ती है। संघर्षों की द्रुतगति ने देश का पथ कुछ समय के लिए निश्चित सा कर दिया था। सविनय अवज्ञा असहयोग और हिन्दू मुस्लिम-एकता, यही तो राष्ट्र के सामने प्रोग्राम (कार्यक्रम) था। प्रेमचन्द जी पर इस युग-चेतना की नई लहर का प्रभाव भरपूर पड़ा और उन्होंने लगभग ८०० पृष्ठों का 'रंगभूमि' नामक उपन्यास हिन्दी-साहित्य को भेंट किया। जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' के शब्दों में, "जीवन संग्राम में सत्याग्रह द्वारा दिव्य विजय प्रदान करने वाली निष्काम कर्म-भावना तथा सुदृढ़ आत्मनिष्ठा का महत्त्व प्रदर्शित करने वाले इस उपन्यास ने भी मानव-स्वभाव के जटिल रहस्यों की अत्यन्त हृदयग्राही और मनोरंजक व्याख्या की थी।"[1]

इस उपन्यास का सूत्रपात कृषि और उद्योग-धन्धों के संघर्ष से होता है। यों कहना चाहिए कि भारतीय एवं पाश्चात्य आदर्शों के संघर्ष पर ही इसका ढाँचा तैयार किया गया था। धीरे-धीरे वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक इत्यादि जीवन की कितनी ही गुत्थियाँ, सूरदास, सोफ़िया और विनय के चारों ओर केन्द्रित हो जाती हैं और असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा तथा धार्मिक एकता के शस्त्रों से ही विजय प्राप्त होती है। यह भी मुख्य अंशों में समस्या-प्रधान कृति ही कही जायेगी। विविध पात्रों का व्यक्तिगत जीवन अपना महत्त्व अवश्य रखता है, किन्तु यह समझना कठिन नहीं कि उपन्यासकार को इस ओर चरित्रों ने प्रेरित किया था अथवा समस्याओं ने।

इस समय तक यद्यपि आन्दोलन शान्त हो चुका था, किन्तु राष्ट्रीय जागरण की चेतना मन्द नहीं हुई थी और होती भी कैसे? समस्याएँ आज भी वैसी ही उलझी हुई हैं जैसी कि पहले। कौन नहीं जानता कि स्वराज्य-आन्दोलन की शान्ति विजय या सफलता के साथ नहीं हुई थी, वरन् इसका अन्त हुआ था महात्मा गांधी

---

१. प्रेमचन्द की उपन्यास-कला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३

तथा देश के आदरणीय नेताओं के बन्दी होने के कारण। इसका स्वाभाविक परिणाम था कि अग्नि भीतर ही भीतर धधक रही थी, किन्तु प्रज्वलित हो उठने का उत्साह मन्द अवश्य था। यह थोड़ा सा समय निराशा तथा मानसिक उद्योग का कहा जा सकता है और इसी पृष्ठभूमि पर सृष्टि हुई थी 'कायाकल्प' की।

यद्यपि इस समय भी राष्ट्रीय जीवन ज्यों का त्यों अव्यवस्थित सा ही था, उसकी तमाम समस्याएँ भी बेसुलझी पड़ी थीं, लेकिन सार्वजनिक वातावरण कुछ ऐसा प्रतिकूल था कि वे सारी समस्याएँ उठाई नहीं जा सकती थीं। और, प्रेमचन्द जी तो उन कलाकारों में थे जो राष्ट्रीय नेताओं द्वारा निर्धारित कार्यक्रम की पाबन्दी को ही अपना फ़र्ज समझते थे। अतः अपनी ओर से कोई नया कार्यक्रम देश के सामने रखना प्रेमचन्द जी की नीति के विरुद्ध था। महात्मा गांधी प्रभृति नेता जेल में थे। किसी नई राष्ट्रीय योजना का प्रश्न व्यर्थ था, लेकिन फिर भी चारों ओर का संसार अपनी विविध यातनाओं से पीड़ित त्राहि-त्राहि कर रहा था और सहृदय प्रेमचन्द जी विवश होते हुए भी इस ओर से उदासीन नहीं हो सकते थे। यदि राजनीतिक अथवा किसानों की चर्चा का अवसर नहीं भी था, तो भी हमारे जीवन के अनेक प्रश्न ऐसे थे जिन पर विचार करना किसी प्रकार कम आवश्यक न था। 'कायाकल्प' का प्रारम्भ शिक्षा के प्रश्न को लेकर होता है। इसमें उच्च शिक्षा और स्त्री-शिक्षा के विविध उद्देश्य तथा उनकी वास्तविकता पर विचार किया गया है। राजा और रईसों के इस देश में जहाँ निर्धनता का ताण्डव रात-दिन होता रहता है, इन लोगों की फिजूलखर्चियाँ तथा इनके निर्लज्जता पूर्ण विलास एवं प्रजापीड़न के अगणित कांड कम शोचनीय नहीं हैं। मुख्यतः इन्हीं समस्याओं को लेकर 'कायाकल्प' का ढाँचा तैयार किया गया है। स्थल-स्थल पर बेगार इत्यादि की छोटी-छोटी समस्याएँ भी उठा दी गई हैं। पुनर्जन्म की घटनाओं की अलौकिक स्मृति एवं यौगिक सिद्धियाँ आदि का समावेश करके घटना-वैचित्र्य भी उत्पन्न कर दिया गया है। परन्तु उपन्यास के विचारपूर्ण अध्ययन के बाद यह समझने में देर नहीं लगती कि इसकी सृष्टि घटना-वैचित्र्य के नाते नहीं, वरन् समस्याओं को लेकर हुई है।

शायद सत्याग्रह विप्लव एवं अन्य प्रकार के आन्दोलन के बासीपन से ऊबकर लेखक ने इस बार सारी परिस्थिति के सम्बन्ध में समन्वय के लिए इस नवीन कौशल का प्रयोग किया था। व्यक्तित्व के दृष्टिकोण से 'मनोरमा', 'विशाल सिंह' अपनी कुछ विशेषताएँ रखते हैं। 'अहल्या' और 'महमूद' का व्यक्तित्व हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न एवं हिन्दू-समाज की वैवाहिक जटिलता पर निर्भर है। इनका कोई विशेष मूल्य तो नहीं, किन्तु इनमें विचित्रता अवश्य है।

प्रायः इसी राष्ट्रीय शिथिलता के युग में 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा', 'ग़बन' का जन्म हुआ था। इस समय, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सिवाय सामाजिक अथवा

गार्हस्थ्य जीवन की समस्याओं के, दूसरे प्रश्न उठाये ही नहीं जा सकते थे। तथापि राष्ट्रीय नेता इस समय तक जेलों से बाहर आ चुके थे और पिछले आन्दोलनों के फलस्वरूप शासक और शासितों को अपने-अपने कर्त्तव्य तथा सामयिक आवश्यकताओं का ज्ञान हो चला था, दोनों ओर से चेष्टाएँ भी हो रही थीं कि संघर्ष तथा तोड़-फोड़ के बदले यदि निर्माण का मार्ग निकल सके तो अधिक वांछनीय हो। इस मनोवृत्ति ने आशा की ज्योति एक बार पुनः प्रज्वलित कर दी और चारों ओर शान्ति तो नहीं, किन्तु निस्तब्धता अवश्य छा गई। घरेलू समस्याओं को सुलझाने का यह अवसर बुरा न था। अतः एक बार फिर प्रेमचन्द ने 'निर्मला' में अनमेल विवाह का प्रश्न छेड़ दिया।—क्योंकि जीवन में प्रेमचन्द ने अनुभव कर लिया था कि भारतीय सामाजिक जीवन विवाह-प्रथा पर बहुत दूर तक अवलम्बित है। किन्तु धीरे-धीरे चरित्र-बल की क्षीणता एवं अनावश्यक रूढ़ियों की प्रबलता के कारण यह संस्करण इतना दूषित हो चुका था कि इसमें जब तक पर्याप्त सुधार न किया जाय तब तक सुखमय जीवन की आशा नहीं। इसलिए बार-बार अवसर पाते ही वे इस प्रश्न की व्याख्या करने से हिचकते नहीं थे।

कुशिक्षा एवं अज्ञान का ही फल है कि स्त्री-समाज अपने कर्तव्याकर्त्तव्य के विवेक से शून्य है और पुरुषवर्ग भी दिखावट और थोथे दम्भ का कुछ ऐसा शिकार बन चुका है कि वह सच्चे मान और अपमान, उचित मर्यादा और अमर्यादा का निर्णय ही नहीं कर पाता। जीवन की इसी दयनीयता के चित्र 'गबन' में प्रेमचन्द जी ने काफ़ी सफलता से खींचे हैं।

देखते ही देखते राष्ट्रीय क्षितिज पर से आशा की वह क्षीण रेखा जो कुछ समय पूर्व दिखाई पड़ने लगी थी, धुँधली हुई और मिट गई। स्वाधीनता प्राप्त करने की प्रबल इच्छा से उद्वेलित होकर राष्ट्रीय चेतना एक बार फिर जागृत हो उठी और दूसरे आन्दोलन की घड़ी आ पहुँची। किन्तु इस बार राजनीतिक एवं हिन्दू-मुस्लिम समस्या के साथ अछूतों का प्रबल मसला उपस्थित हो गया। पूना में महात्मा गांधी का अनशन अपने सत्य संकल्प से देश में काफ़ी हलचल मचा चुका था। अम्बेदकर के साथ उनका समझौता हमारे राष्ट्रीय इतिहास के पन्नों पर अंकित हो चुका था और नये जोश के साथ फिर एक बार सत्याग्रह-आन्दोलन की गूँज सुन पड़ने लगी थी। इसी समय प्रेमचन्द अपनी 'कर्मभूमि' को लेकर देश के सामने उपस्थित हुए। आदि से अन्त तक यह मध्यवर्ग की आर्थिक क्षीणता, धनवालों की पैशाचिक शोषण-प्रवृत्ति, उच्च जातियों का निन्दनीय दर्प तथा धार्मिक भेदों के आधार पर व्यक्तिगत सौजन्य एवं स्नेह की बलि का लम्बा-चौड़ा चिट्ठा है। अमानुषिक विभीषिका का नग्न ताण्डव कदाचित् इससे अधिक और किसी अपने उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने नहीं खींचा। इसका कारण स्पष्ट था कि इस उपन्यास की रचना शान्ति अथवा शिथिलता के क्षणों में नहीं, वरन् आन्दोलन एवं राष्ट्रीय

युद्ध तथा विप्लव की उड़ती हुई चिनगारियों के प्रकाश में हुई थी अतः आग और शोलों की गरमी का उसमें पग-पग पर होना अवश्यम्भावी था।

देखते-देखते संघर्ष एवं विप्लव के ये क्षण भी बीत गये। कांग्रेस के द्वारा राजनीतिक सुधार-योजना स्वीकृत हो गई। स्वाधीनता न सही, किन्तु अपने शासन का थोड़ा-बहुत आभास मिलने लगा। विविध प्रकार की सुधारी की योजनाएँ तैयार होने लगीं। प्रेमचन्द ने राष्ट्र के चरणों पर 'गोदान' अर्पित किया। इसका विवेचनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि क्या राजनीतिक और क्या समाजिक, घर की या बाहर की, शिक्षा या साधन की, किसान और मज़दूरों की शायद कोई ऐसी समस्या नहीं जो इसमें एक बार फिर से न उठाई गई हो और जिस पर सिरे से विचार न किया गया हो। शायद यह कहना ग़लत न होगा कि 'गोदान' में उपन्यासकार ने अपने पिछले सब उपन्यास फिर से दोहरा डालने का प्रयत्न किया है। उसकी सामग्री और उसके चरित्र तथा घटनाएँ सभी हमें पग-पग पर पूर्व परिचित-सी जान पड़ती हैं। लेकिन प्रत्येक का रूप 'गोदान में पहले से अधिक निखरा हुआ है।

०

: ८ :

प्रेमचन्द् के उपन्यासों में जनवादी विचारधारा

डा० प्रेमप्रकाश गौतम

प्रेमचन्द को कुछ आलोचक गांधीवादी और कुछ प्रगतिवादी कहते हैं, परन्तु वस्तुत: प्रेमचन्द जनवादी साहित्यकार हैं। यह सत्य है कि अपने साहित्यिक जीवन के अन्त के कुछ पूर्व तक वे गांधीजी के विचारों से प्रभावित रहे और अन्त में 'गोदान', 'मंगल सूत्र' तथा अन्तिम कहानियों में वे सुधार, आदर्श और समन्वय की भावना छोड़कर मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के निकट पहुँच गये थे, तथापि वास्तविकता यह है कि न उनकी गांधीवाद में पूर्ण आस्था थी, न मार्क्सवाद ही उन्हें पूर्णत: स्वीकृत था। गांधीवाद और प्रगतिवाद के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वे इनमें से किसी को भी आत्मसात् नहीं कर पाये थे और न वे कोई परिपूर्ण या परितोषकारी सामाजिक, राजनीतिक दर्शन अन्वेषित कर पाये थे। अपनी अन्तिम कृतियों ('गोदान' और 'मंगल सूत्र') में वे मार्क्सवाद की ओर उन्मुख अवश्य हैं, परन्तु यहां भी मार्क्स के दर्शन में उनकी आस्था सुदृढ़ नहीं है।[1]

वस्तुत: प्रेमचंद साधारण जनता की सुख-समृद्धि की कामना करने वाले, जनजीवन का विकास चाहने वाले ऐसे जनप्रिय कथाकार थे जिनके हृदय में दरिद्रों, शोषितों, पीड़ितों और असहायों के प्रति गहरी और व्यापक करुणा थी, अत्यन्त आर्द्र संवेदना थी। प्रेमचन्द ने प्रत्येक प्रकार के शोषण का विरोध किया, रूढ़ियों और संकीर्णता को तोड़ने की चेष्टा की, जनता को जगाया और जनवादी परम्परा को पुरस्सर किया। अहं, वैयक्तिकता, निरर्थक, अतीतोपासना और यथार्थ से विच्छिन्न कर देने वाली कल्पनाशीलता से उन्हें घृणा थी। उनमें सच्ची सामाजिक चेतना थी, वास्तविक आधुनिकता-बोध था, संतुलित यथार्थपरक आदर्शवादिता थी, वादविशेष की दासता से मुक्त स्वाभाविक प्रगतिशीलता थी।[2]

---

१. देखिए राजेश्वर गुरु कृत 'प्रेमचन्द एक अध्ययन' (१९५८) पृष्ठ १०४-१०५

२. प्रेमचन्द न किसी 'वाद' से बद्ध थे, न किसी पार्टी (कांग्रेस या कम्यूनिस्ट) में थे क्योंकि उनके विचारानुसार 'कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही थी।' 'जमाना' समाचारपत्र के सम्पादक को एक पत्र में उन्होंने लिखा था—'मैं उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो अवाम अलनास की सियासी तालीम का अपना दस्तूरुल अमल बनाएगी।

जनता से प्रेमचन्द को असीम प्यार था। उसमें और उसकी शक्ति में उनका सुदृढ़ विश्वास था। वे यह स्वप्न देखा करते थे कि जनशक्ति विकसित हो और वह सुखद समय शीघ्र आये 'जब यहाँ मज़दूरों और काश्तकारों का राज होगा, जब आदमी की उम्र औसतन दूनी हो जाएगी।' प्रेमचन्द की साहित्य-सर्जना इस स्वप्न को साकार करने की चेष्टा का एक अंग मात्र है। यह ठीक है कि प्रेमचन्द में क्रान्ति विरोधी दृढ़ता की कमी थी, शायद राजनीतिक अन्तर्दृष्टि की भी कमी थी और कुछ अन्तर्विरोध या असंगतियाँ भी, जैसा कि बी० एम० ब्रेस्कोब्नी का कहना है, परन्तु उनकी जनप्रियता और जनवादिता में संदेह नहीं किया जा सकता।

डॉ० नगेन्द्र का यह कथन सर्वथा सत्य है कि प्रेमचन्द के 'व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था'।[1] परन्तु उनकी सहानुभूति और सद्भावना दुःखी दलित जनता के प्रति थी, समाज के उच्चवर्ग और पुराण-पंथी पंडितों के प्रति नहीं। एक प्रकार का परिष्कृत आक्रोश और घृणाभाव पूँजीपतियों, सेठों, राजाओं, ज़मींदारों, महाजनों और पाखंडी पंडितों के प्रति उनके मन में था जो उनकी विभिन्न कृतियों में स्थल-स्थल पर व्यक्त हुआ है। परन्तु यह आक्रोश या जुगुप्सा-भाव वैयक्तिक कारणों से न होकर जैसी कि पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' की धारणा है, समाज के निम्न और निम्न मध्यवर्ग के उन प्रपीड़ित लोगों के प्रति प्रेमचन्द की संवेदना के कारण है जो इस देश की सच्ची जनता हैं और जिनसे प्रेमचन्द ने जीवनभर प्यार किया था। यह ठीक है कि किसानों, मज़दूरों और अन्य शोषित दलित मानवों को उनके सामाजिक राजनीतिक स्वत्वों के प्रति सजग करते हुए प्रेमचन्द ने जमींदारों, किसानों और महाजनों के प्रति घृणा और प्रतिशोध भाव उभारने, अथवा वर्ग संघर्ष को अतिरिक्त महत्त्व देने का यत्न कभी नहीं किया, अपना संतुलन नहीं खोया[2], परन्तु वे गांधी या टालस्टॉय की भाँति पाप से घृणा करने वाले और पापी के प्रति सहानुभूति और सुधारभावना रखने वाले संत भी नहीं थे। वास्तव में, जैसा कि श्री हंसराज 'रहबर' का कहना है, प्रेमचन्द इस पूँजीवादी व्यवस्था से घृणा करते थे। इन लोगों से (उन्हें) तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। इनकी स्वार्थपरायणता और नीचता की उन्होंने अच्छी कलई खोली है।[3]

प्रेमचन्द के जीवनभर के चिन्तन मनन का, उनके अनुशीलन और अनुभव का निष्कर्ष उनके 'मंगल सूत्र' में इन शब्दों में प्राप्त होता है—'दरिंदों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है'। अपने 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने पश्चिम

१. शची रानी गुर्टू सम्पादित 'प्रेमचन्द और गोर्की' (१९५५) 'प्रेमचन्द' शीर्षक लेख पृष्ठ १११
२. वही पृ० ११३।
३. हंसराज 'रहबर'—प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व (१९५२) पृष्ठ ३५१

में उदय हुए उस नये सभ्यता-सूर्य का स्वागत किया है 'जिसने इस नाटकीय महाजन-वाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है' । स्पष्ट है कि प्रेमचन्द अपने जीवन के अन्तिम चरण में संघर्ष और क्रान्ति के महत्त्व और उसकी अनिवार्यता का अनुभव करने लगे थे ।

निस्सन्देह भौतिक व्यावहारिक मानववाद अर्थात् जनवाद ही प्रेमचन्द की जीवनदृष्टि का मूल तत्व है । यह भी सत्य है कि वह 'हिताहित विचार और सुधार-वाद से आगे नहीं बढ़ता ।' परन्तु इस व्यावहारिक भौतिक मानववाद या जनवाद के दोनों पक्ष—जनजागरण तथा समाजसुधार की चेष्टा और क्रान्ति तथा संघर्ष की भावना और शोषणहीन समाज की कामना—प्रेमचन्द ने अपने साहित्यिक जीवन के क्रमशः पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में स्वीकार किये हैं । जागृति और सुधार का सन्देश देते हुए वे क्रमशः क्रान्ति और वर्ग संघर्ष की ओर—गांधीवाद से मार्क्सवाद की ओर—उन्मुख हुए हैं; यद्यपि जैसा कि हम लिख चुके हैं गांधीवाद को वे एकदम त्याग नहीं सके हैं और मार्क्सवाद को पूरी तरह अपना नहीं पाये हैं । आदर्श सुधार की भावना उनमें लगभग अन्त तक रही है । 'गोदान' में भी उन्होंने मालती को सुधार कर आदर्श बना दिया है । वास्तव में प्रेमचन्द अन्त तक आदर्शवादिता से मुक्त नहीं हो पाये हैं । उनका यथार्थपरक व्यावहारिक आदर्शवाद—इसी को उन्होंने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा है,—न्यूनाधिक जीवन भर उनके साथ रहा है । यह बात अवश्य है कि जीवन के अन्तिम भाग में, अन्तिम रचनाओं में सुधार और समन्वय से उनका विश्वास हट-सा गया है । लगता है कि 'आदर्श की अपर्याप्तता और 'सर्वोदय' की अव्यावहारिकता को उन्होंने समझ लिया है और संघर्ष तथा क्रान्ति की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया है ।

व्यावहारिक मानवता की जनवादी विचारधारा प्रेमचन्द के लगभग सभी उपन्यासों और अनेकानेक कहानियों में व्यक्त हुई है—'गोदान' से पूर्व की रचनाओं में सहानुभूति, जागरण, सुधार और समझौते के दृष्टिकोण के साथ और 'गोदान' तथा 'मंगल सूत्र' में वर्तमान समाज-व्यवस्था के प्रति तीव्र असंतोष, आक्रोश और संघर्ष-प्रेरणा के साथ। प्रेमचन्द के प्रायः सभी औपन्यासिक नायक साधारण जन-समाज के मानव हैं, निम्नवर्ग और निम्नवर्ग की उत्पीड़ित विपन्न जनता के प्रतिनिधि उनकी प्रारम्भिक कहानियों और उपन्यासों ('रूठी रानी' और 'जलवाए इसरार' या 'वरदान') में देशभक्ति की भावना के साथ अतीत और वर्तमान के जन-जीवन पर प्रकाश डाला गया है । प्रारंभिक रचनाओं में उनकी जनवादी दृष्टि स्पष्ट नहीं है । वस्तुतः उस समय प्रेमचन्द का व्यक्तित्व और जीवनदर्शन निर्माण-स्थिति में था । 'प्रेमा' में अछूत जनता और विधवा नारी की दयनीय स्थिति का चित्र अंकित करते हुए प्रेमचन्द ने अपनी जनवादी भावना प्रथम बार कथा के माध्यम से स्पष्टतः व्यक्त की है । परन्तु इस रचना में विधवा नारी की समस्या का ऊपरी आभास और उसका

स्थूल सुधारपरक समाधान ही प्रेमचन्द दे सके हैं। वर्तमान समाज-व्यवस्था का खंडन करने की प्रखरता उनमें नहीं है। दलितों के प्रति उनकी संवेदना, उनकी करुणामयी मानवता यहाँ अवश्य मुखरित है।

'सेवासदन' में मध्यवर्गीय भारतीय नारी की असहायता और दीनता का अपेक्षाकृत अधिक सजीव और मार्मिक चित्रण है। मध्यवर्ग की आर्थिक कठिनाइयों और सामाजिक बन्धनों पर और सभ्य कहलाने वाले उच्चवर्ग के लोगों और समाज के ठेकेदारों के पाखंड और अतिचार पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। परन्तु समाज दलित व्यक्तियों को परिस्थितियों से ऊपर उठाकर—गजाधर को गजानन्द बनाकर—प्रेमचन्द ने यहाँ भी सुधारपरक हल प्रस्तुत किया है। 'प्रेमाश्रम' में जमींदार के कारिंदों, सरकारी कर्मचारियों और महाजनों द्वारा किसानों पर होने वाले अत्याचारों और उनकी दिन प्रतिदिन हुई दरिद्रता और हीनता का चित्र खींचते हुए प्रेमचन्द ने किसानों के प्रति अपनी महती सहानुभूति व्यक्त की है। 'सेवासदन' में भी जमींदार के अतिचार का उल्लेख है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने अपने विचार प्रेमशंकर के माध्यम से व्यक्त किये है। प्रेमशंकर, मायाशंकर और ज्वालासिंह द्वारा प्रेमाश्रम खुलवाकर उन्होंने यद्यपि यहाँ भी सुधारवादिता का परिचय देते हुए कथा का अस्वाभाविक पर्यवसान प्रस्तुत किया है, परन्तु जनजागरण, जनप्रेम और जन-सेवा की उनकी भावना यहाँ अत्यन्त तीव्र है। प्रेमचन्द का यह विचार कि हमारे देश की जनता रूढ़िवाद और अन्धविश्वास से मुक्त होकर पश्चिम का नया प्रकाश प्राप्त करे और उन्नत तथा समृद्ध हो, उनका यह स्वप्न कि जमींदारी तथा महाजनी सभ्यता और उसकी छत्रछाया में होने वाले अतिचारों तथा अनाचारों से निष्कृति पाकर ग्रामीण जनता, सुख, स्वास्थ्य और शिक्षा से सम्पन्न अच्छा जीवन बिताये, इस कथा-कृति में साकार हो उठा है।

'निर्मला' में जनजीवन के अंकन की अपेक्षा सामाजिक समस्याओं और कुप्रथाओं के चित्रण की ओर उपन्यासकार ने अधिक ध्यान दिया है। बूढ़े से व्याही युवती नारी के मानसिक संघर्ष और इस प्रकार के अनमेल विवाह से होने वाले दुष्परिणामों को दिखाते हुए मध्यवर्गीय जीवन की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की गई है। 'कायाकल्प' में पुनः भूपतियों के अत्याचार, उनकी लूट-खसोट, गाँवों की दरिद्रता, ग्रामीणों के दुःख, मजदूरों का विद्रोह और इन सबके साथ जनसेवा की भावना व्यक्त की गई है। परन्तु सुधारवाद, आदर्शनिष्ठा और अस्वाभाविकता से परिपूर्ण होने के कारण वह उपन्यास प्रभावित नहीं कर पाता। 'रंगभूमि' में बढ़ते हुए पूँजीवाद के सामने पुरातन मान्यताओं को भग्न होते दिखाया गया है और समाज के विभिन्न स्तरों को अनावृत करते हुए वर्तमान न्याय-व्यवस्था के पाखंड और उसकी असफलता, राजनीतिक क्षेत्र में धनाढ्य लोगों की घुसपैठ और धर्म के कट्टरपन तथा ढोंग को सामने रखा गया है। 'गबन' निम्नमध्य और उच्च मध्यवर्ग और निम्न वर्ग की कुछ समस्याओं (स्त्रियों की आभूषणप्रियता, मध्यवर्ग की मिथ्या गौरव तथा आडम्बर-

प्रियता की समस्या आदि) और इन वर्गों के जीवन को लेकर लिखा गया है। राष्ट्रीय और जनवादी विचार देवीदीन के माध्यम से व्यक्त किये गए हैं। 'कर्मभूमि' का निर्माण १९३२ के सत्याग्रह-आन्दोलन के सन्दर्भ में किया गया है। किसानों का शोषण, गांधीवादी अहिंसात्मक आन्दोलन, शहरों और गाँवों में रहने वाले अछूतों के उद्धार का प्रश्न, उनके लिए अच्छे मकान बनवाने की योजना और इनके साथ जन-सेवा भावना इस कथाकृति की विषयवस्तु के प्रमुख अंग हैं। निम्नवर्ग के साधारण लोगों के प्रति प्रेमचन्द की निष्ठा और उदार संवेदना यहाँ भी व्यक्त हुई है। मुन्नी और बुढ़िया सलोनी को त्याग एवं मानवता की मूर्ति और अनपढ़ होते हुए भी अनुभवी तथा बहुत से पढ़े-लिखे व्यक्तियों से अच्छा दिखाया गया है।

यहाँ तक प्रेमचन्द सुधारवाद और आदर्श भावना में लिप्त हैं। परन्तु इसके बाद 'गोदान' में उनकी दृष्टि बहुत कुछ यथार्थनिष्ठ, प्रगतिशील और क्रान्तिपरक हो जाती है। 'गोदान' में वर्तमान समाज व्यवस्था अन्याय और शोषण के कारण टूटते हुए दिखाई गई है। किसानों, मजदूरों, चमारों और अन्य दलित शोषित मानवों के पति प्रेमचन्द ने यहाँ असीम करुणा और संवेदना व्यक्त की है। परन्तु कलाकार की निस्संगता की रक्षा करते हुए ही। ग्रामीणजनों की आर्थिक विपन्नता और असहायावस्था का अत्यन्त मार्मिक चित्र अंकित किया गया है। अधूरा 'मंगल-सूत्र' मध्यवर्ग पर लिखा गया है और बहुत कुछ प्रेमचन्द का आत्म-चित्रण है। इस रचना में प्रेमचन्द की दृष्टि और भी प्रगतिशील तथा यथार्थनिष्ठ है। कृति के अधूरा होने के कारण निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, फिर भी लगता है कि इस रचना में वे वर्ग संघर्ष की प्रेरणा देना चाहते हैं। असंतोष और संघर्ष की भावना तीव्रतर प्रतीत होती है।

अपनी कहानियों में भी प्रेमचन्द ने निम्नवर्ग और निम्नमध्य वर्ग के साधारण लोगों के प्रति अपना सद्भाव, विश्वास और आदर व्यक्त किया है और उनकी पीड़ा तथा विपन्नता के प्रति सहानुभूति प्रकट की है। धनाढ्य और पढ़े-लिखे सभ्य लोगों की अपेक्षा अर्थसंकट ग्रस्त अपढ़ जनता को उन्होंने अधिक उदार और महान् दिखाया है। उनकी अनेक कहानियाँ ('मंत्र', 'पंच परमेश्वर', 'शंखनाद', 'सुजान भगत' आदि) उनकी इस भावना की परिचायक हैं। परवर्ती उपन्यासों की भाँति परवर्त्ती ('कफ़न', 'पूस की रात' आदि) कहानियों में भी यथार्थवाद की मात्रा अधिक है। उन्होंने अपने समस्त साहित्य में जनता का पक्ष लेकर उसे अत्याचारों और राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दासता से मुक्त, सुखी एवम् समृद्ध देखने की कामना प्रकट की है। ऐतिहासिक कहानियों में भी उनकी दृष्टि प्रगतिशील और जनवादी है। उनके माध्यम से उन्होंने स्वातन्त्र्य संघर्षरत जनता में जातीय गौरव, आत्म-विश्वास और उत्साह का संचार करने का यत्न किया है।

प्रेमचन्द स्वभाव से ही प्रगतिशील थे। वे भारतीय जनता को प्रगति करते भौतिक सुख सुविधाओं के साथ शारीरिक और बौद्धिक विकास प्राप्त करते देखना

चाहते थे। जनहित को उन्होंने सदैव सामने रक्खा। 'कलम के मजदूर' के रूप में जनता के उन्नयन के लिए जो भी संभव था वह उन्होंने किया। निम्न और निम्न-मध्यवर्ग के लोगों के प्रति—देश के दरिद्र और—दुखी अंग के प्रति—उनके हृदय में जीवनभर स्नेह और आत्मीयता की भावना रही। अपढ़ लोगों को मूर्ख या उपेक्षणीय समझना उन्हें बहुत खलता था। साधारण लोगों की न्याय-बुद्धि पर उन्हें कितना विश्वास था, यह उनकी 'पंचायत' शीर्षक कहानी से स्पष्ट है। जनजीवन से उन्होंने बहुत कुछ सीखा था, उनकी महत्ता का अनुभव किया था। उन्हें विश्वास था कि हमारी अपढ़, दरिद्र और शोषित जनता में जो पुराने आदर्शों और परम्पराओं में लिप्त हैं, त्याग, सेवा, संवेदना, उदारता और संघर्षशक्ति का अभाव नहीं है। जनता को समझने, उसकी भावनाओं को वाणी देने और उसे उसके अधिकार दिलाने का यत्न उन्होंने निरन्तर किया। अपने प्रतिनिधि निर्वाचित कर उन्हें विधान सभा में भेजने के जन-अधिकार की माँग को उन्होंने सबल स्वर में प्रस्तुत किया था। यही नहीं, वे जनता के लिए यह अधिकार भी चाहते थे कि यदि उसके निर्वाचित प्रतिनिधि अपने कर्त्तव्य का सम्यक् पालन न करें, तो जनता उन्हें पदच्युत कर सके। जनता को राजनीतिक आन्दोलनों में सम्मिलित होते और आगे बढ़ते देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। ज़ोला और अनातोले फ्रांस की भाँति प्रेमचन्द ने जनता, जनसमूह और उसकी मनोवृत्ति, राष्ट्रीय आन्दोलन करते स्वत्वसंघर्षरत लोगों के जुलूसों के चित्र ही नहीं खींचे, उनकी तरह संघर्षशील जनता के प्रति अपनी शुभ कामना और सहानुभूति भी व्यक्त की है। 'नमक सत्याग्रह' का, सन् १९३० के सविनय भंग आन्दोलन का उन्होंने स्वागत किया था और उसे गति देने की भावना से 'समर यात्रा' पुस्तक लिखी थी।

प्रेमचन्द जनता के उन विरल सेवकों में से थे जो उसकी रक्षा के लिए अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध तीव्र विद्रोह करते हैं, जो पराधीनता, दुर्व्यवस्था, अन्ध-विश्वास और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से निरन्तर जूझते हैं, जो अपनी सुख-सुविधाओं का विचार छोड़कर समाज की सुख-समृद्धि और प्रगति के लिए आत्मोत्सर्ग करते हैं। वे जन-हित के सच्चे पोषक थे। जब तक गांधीजी के सेवा, अहिंसा और मनः परिवर्तन के सिद्धान्तों में उन्हें जनहित दिखाई दिया, तब तक वे उन्हें मानते रहे। जब उन्होंने इन सिद्धान्तों की सीमाओं को पहचान लिया तो जनहित की ही भावना से उन्होंने शोषणरहित समाज की कामना के कारण मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को, उनके ऐतिहासिक नियतिवाद और वर्गसंघर्ष-सिद्धान्त को अपनाने का यत्न किया। इस प्रकार प्रेमचन्द आजीवन जनवादी भावना के उन्नायक रहे। जनता के लिए जिये, जनता की मंगल-कामना करते हुए संसार से विदा हुए।

: ६ :

प्रेमचन्द के उपन्यासों में समस्या-निरूपण

डॉ० महेन्द्र भटनागर

उपन्यास का अत्याधुनिक स्वरूप समस्यामूलक है। समस्यामूलक उपन्यास जैसा कि शब्दों से ध्वनित होता है किसी समस्या विशेष को लेकर चलते हैं। समस्या पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, पारलौकिक आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है। सामाजिक उपन्यास और सामाजिक समस्यामूलक उपन्यास में वस्तु-विन्यास सम्बन्धी अन्तरभेद हैं; ठीक इसी प्रकार राजनीतिक उपन्यास, पारिवारिक उपन्यास आदि के सम्बन्ध में है। समस्यामूलक उपन्यास वस्तु को प्रधानता नहीं देते, वे कहीं-कहीं औपन्यासिक रचनातन्त्र के शास्त्रीय नियमों तक की उपेक्षा कर जाते हैं पर समस्या को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के कारण इस उपेक्षा के द्वारा पाठक को कृति के प्रति अरुचि नहीं होती। समस्यामूलक उपन्यास औपन्यासिक तत्वों में सबसे अधिक महत्त्व अपनी समस्या को ही देते हैं। शेष तत्त्व उनमें मिलेंगे पर अन्य औपन्यासिक प्रकारों से किंचित् भिन्न।

समस्यामूलक उपन्यास के दो प्रकार हैं—

(१) जिसमें केवल एक समस्या हो,

(२) जिसमें एक प्रधान-समस्या के साथ अन्य समस्याएँ भी गुँथी हुई हों, पर उनका स्थान गौण हो।

वास्तव में देखा जाय तो केवल एक समस्या वाले उपन्यास ही समस्यामूलक उपन्यास नाम से पुकारे जाने के अधिकारी हैं। दूसरे प्रकार के उपन्यास समस्यामूलक उपन्यास की श्रेणी में इस कारण परिगणित किये जाते हैं क्योंकि उपन्यासकार का ध्यान उनमें भी समस्याओं की ओर ही केन्द्रित रहता है। स्वरूप में कुछ भिन्नता होते हुए भी, उद्देश्य में एकता अवश्य मिलती है। इसके अतिरिक्त वे एक-दूसरे के अत्यधिक निकट भी हैं ; विरोधी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः समस्या-मूलक उपन्यास की विस्तृत परिभाषा के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपन्यास सम्मिलित किए जाते हैं।

समस्यामूलक उपन्यासों का प्रचार दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है। वे प्रत्येक देश में लोकप्रिय हो रहे हैं। जीवन में नाना समस्याओं का उद्घाटन तथा उनका हल; यद्यपि हल सदैव अपेक्षित नहीं होता, आज के उपन्यासकार का प्रधान कर्म है। उपन्यासकार एक सामाजिक प्राणी है; वह अपने समय की समस्याओं से विमुख नहीं रह सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखते हैं, "लोक या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियां खड़ी होती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यास का काम है।"[1] प्रेमचन्द साहित्य का उद्देश्य ही समस्याओं पर विचार एवं उनका हल उपस्थित करना घोषित करते हैं, "अब वह (साहित्य) केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है।"[2] अपने युग की समस्याओं के प्रति लेखक को उदासीन नहीं रहना चाहिए। रेल्फ़ फ्रायस के शब्दों में, "क्या उपन्यासकार दुनिया की समस्याओं की, जिनमें वह रहता है, उपेक्षा कर सकता है? अपने देश की दशा के प्रति आँखें बन्द रख सकता है, क्या वह अपने चारों ओर भयायक वातावरण देखकर अपना मुँह बन्द रख सकता है जबकि राजकीय रेहन के नाम पर व्यक्तिगत लोलुपता को ज्यों-का त्यों कायम रखने के लिए जीना दूभर कर दिया गया है। दिन-पर-दिन उपन्यास-कार यह अनुभव करने लगे हैं कि आँख, कान और स्वर वास्तव में चेतना के अंग हैं और मानवीय दुनिया को शक्ति प्रदान करने के लिए उत्तरदायी हैं; वे किसी आध्यात्मिक विश्व के निष्क्रिय दास मात्र नहीं हैं जैसा कि कला के क्षेत्र में परम्परागत मान्यता रही है।"[3] यही उपन्यासकार का युग-धर्म है। उसे अपने समय की समस्याओं में काफ़ी गहरा डूब जाना होता है। समस्यामूलक उपन्यासकार को कला का उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है। उसका उद्देश्य सामाजिक है। वैयक्तिक समस्याओं के उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कोटि में आते हैं। वे मात्र व्यक्ति के मन का विश्लेषण करते हैं; किसी सामूहिक जन-जीवन के प्रश्नों को, समस्याओं को, आवश्यकताओं को सम्मुख नहीं रखते। समस्यामूलक उपन्यास हमारे जटिल और विभिन्न रूपात्मक संसार का दर्पण है।

औपन्यासिक तत्त्व समस्यामूलक उपन्यासों में सीमित और विशिष्ट दृष्टि-कोण लेकर आते हैं। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल आदि सभी तत्त्व; किंचित् परिवर्तित रूप में इनमें दृष्टिगोचर होंगे। जहाँ तक वस्तु का सम्बन्ध है समस्यामूलक उपन्यास में उसके विन्यास का विशेष महत्त्व है। समस्या को आधार

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५३६

२. कुछ विचार, पृष्ठ ८

३. देखिए, 'The Novel and the People' : Ralph Fox, Page 7.

मानकर उपन्यासकार वस्तु की रचना करता है। जीवन की घटनाओं का वह इस तरह संकलन करता है कि समस्या पाठकों के सामने धीरे-धीरे आती जाय और आगे चलकर पूरे उपन्यास पर छा जाय। इस क्रिया में सामाजिक व राजनीतिक परिपार्श्व की बड़ी अपेक्षा रहती है। सामाजिक व राजनीतिक वातावरण समस्यामूलक उपन्यासों की रंगभूमि है इसी वातावरण पर समस्या की गम्भीरता निर्भर करती है। समस्या की जटिलता भी सामाजिक या राजनीतिक सीमाओं में ही आबद्ध रहती है तथा समस्या का हल भी इन्हीं सीमाओं के परिवर्तन या विकास पर निर्भर करता है। समस्यामूलक उपन्यासकार का कर्म ऐतिहासिक उपन्यासकार से भी अधिक बँधा हुआ है। जिस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथा को मनमाना रूप नहीं दे सकता उसी प्रकार समस्यामूलक उपन्यासकार भी अपने प्रतिपाद्य समाज की स्थिति का वर्णन करते समय उसे अपनी इच्छानुसार नहीं बदल सकता। जिस प्रकार की समस्या उपस्थित हो उसको ज्यों-का-त्यों उसे ग्रहण करना पड़ता है; फिर समाजगत बाधाओं, मर्यादाओं तथा सीमाओं का परिचय कराता हुआ वह समयोचित और देशोचित हल निकालेगा। प्राय: समस्याओं का उत्पन्न होना सामाजिक, पारिवारिक या राजनीतिक दशाओं पर निर्भर करता है। अत: समस्यामूलक उपन्यासकार को अपने समय के समस्त प्रकार के वातावरण की सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति और इतिहास का विस्तृत वैज्ञानिक ज्ञान उसको होना चाहिए। हडसन लिखते है—"उपन्यासकार जीवन के जो भी क्षेत्र अपने लिखने के लिए चुने उसे वह पूर्ण समझने के पश्चात् ही लिखना प्रारम्भ करे; यह समझ वर्ण्य-विषय के नैकट्य से ही प्राप्त हो सकती हैं।[1] यह तथ्य समस्यामूलक उपन्यास के अन्तर्गत विशेष महत्त्व रखता है। समस्यामूलक उपन्यास में कथा का विकास विशिष्ट दृष्टिकोण को लेकर होता है। उपन्यासकार का यहाँ उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना नहीं होता। उसे तो यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े होकर अपनी कृति का निर्माण करना होता है। जिस समस्या को लेकर वह चलता है और जो उस समस्या को देखने का दृष्टिकोण होता है उसी की पूर्ति-भावना को सामने रख कर वह कथा-सामग्री एकत्र करता है। इस कथा-सामग्री में अनावश्यक घटना का समावेश नहीं होना चाहिए। अन्य घटनाओं के समावेश से प्राय: अन्य उपन्यासों की रोचकता बढ़ जाती है, पर समस्यामूलक उपन्यासों में ऐसा करने से उसके प्रभाव की तीव्रता पर व्याघात होता है। समस्यामूलक उपन्यासकार अपने पाठक का ध्यान एक क्षण भी प्रतिपाद्य समस्या से हटाना नहीं चाहता। उसका मार्ग प्रशस्त राजपथ

---

1. "Whatever aspects of life the novelist may choose to write about, he should write to them with the grasp and thoroughness which can be secured only by familiarity with his material."

An Introduction to the Study of Literature : William Henry Hudson, page 175.

नहीं है, उसे सँकरी पगडण्डी पकड़नी होती है और समस्याओं के बीहड़ जंगलों में काफी भीतर पहुँचना होता है। उस पगडण्डी के आसपास या मध्य में जो कुछ है वह उसका है, उसके बाहर के क्षेत्र से उसे कोई सरोकार नहीं।

समस्यामूलक उपन्यास कोई निबन्ध नहीं होता, वह कलात्मक रचना होती है। इसलिए उसमें निहित समस्या से सम्बन्धित विचारों, प्रश्नों व जिज्ञासाओं के लिए अत्यधिक तीव्र व प्रभावशाली घटना की खोज आवश्यक है। घटना साधारण होने पर समस्या उभर नहीं सकती। एक ही समस्या को लेकर नाना उपन्यासों की रचना की जाती है, पर उनकी सफलता-श्रेष्ठता बहुत कुछ घटना पर निर्भर करती है। घटना के चुनाव में समस्यामूलक उपन्यासकार को बड़ा सजग रहना होता है। बिना इसके ऊँचे विचारों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो सकता।

कथा-वस्तु में स्वाभाविकता अनिवार्य है। उसके विकास-पथ का ग्राफ वक्र होता है। प्रारम्भ का अंश विस्तृत नहीं होता। मध्य-भाग में समस्या का उभार होता है और चरमोत्कर्ष कई आते हैं तथा द्वन्द्व की तीव्रता बढ़ती जाती है और फिर प्राय: सभी पहलुओं के प्रकाशन के बाद उसका अन्त हो जाता है। समस्यामूलक उपन्यासों का अन्त प्राय: आकस्मिक होता है। उपन्यासकार समस्या को रखता है, उसका विश्लेषण करता है, उसके कारणों पर प्रकाश डालता है, पर हल सदैव व्यक्त नहीं करता; सुझा भले ही दे। वह पाठकों को सोचने के लिए बाध्य करता है और उनकी विचार-शक्ति को बढ़ाता है। कुछ समस्यामूलक उपन्यासकार हल भी व्यक्त करते हैं और उपन्यास का अन्त धीरे-धीरे कर, एक आदर्श समाज के सामने उपस्थित करते हैं। समस्याओं के हल का निर्देश यदि उपन्यासकार करता है तो वह उपन्यास-कार के साथ-साथ नेता का भी काम करता है। समाज को बदलने के साथ-साथ उसके नव-निर्माण में भी योग देता है; पर यहाँ उसके हल के व्यावहारिक होने का प्रश्न आता है। यहीं पर उपन्यासकार के व्यक्तिगत मन्तव्यों, धारणाओं, विश्वासों, आदि का परिचय मिलता है।

प्रत्येक उपन्यासकार का अपना उद्देश्य होता है। प्राय: यही देखा जाता है कि उपन्यासकार समस्याओं को अपने उद्देश्य की रोशनी में ही देखते हैं। उनका जीवन-दर्शन समस्याओं को देखने-समझने व हल करने में सदैव आगे रहता है। लेखक का व्यक्तित्व ऐसे उपन्यासों में विशेष रूप से लक्षित होता है। वह सभी चीजों को अपने दृष्टिकोण से देखता है। पर, उसका दृष्टिकोण वैयक्तिक नहीं होना चाहिए। यदि उसने वस्तुओं को देखने का अपना दृष्टिकोण सामाजिक चेतना व आवश्यकताओं को सामने रखकर बनाया है तो उसकी कृति समाज के लिए स्वस्थकर तथा उपयोगी सिद्ध होगी।

पात्रों के चरित्र-चित्रण का स्थान समस्यामूलक उपन्यासों में समस्याओं के साथ ही रहता है। पात्र इतने स्वतंत्र नहीं हो सकते जितने चरित्र-प्रधान या घटना चरित्र-प्रधान उपन्यासों में। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में लेखक का ध्यान पात्रों पर

केन्द्रित रहता है जबकि समस्यामूलक उपन्यासों में समस्याओं पर कभी-कभी यह ध्यान इतना अधिक दे दिया जाता है कि पात्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व तक संकट में पड़ जाता है और वे उपन्यासकार की इच्छा पर नाचने लगते हैं—कठपुतली की तरह। यह एक दोष अवश्य है और प्रत्येक उपन्यासकार को इससे बचना चाहिए। समस्यामूलक उपन्यासकार को भी इस अतिरेक से बचना आवश्यक है। क्योंकि उससे उसके उद्देश्य के दुर्बल पड़ने की सम्भावना रहती है। समस्यामूलक उपन्यास में कथोपकथन केवल कथा के विकास अथवा चरित्रांकन के दृष्टिकोण से नहीं रखे जाते, वरन् समस्याओं के उद्घाटन करने व उनके कारणों पर प्रकाश डालने के निमित्त होते हैं। लेखक उनके द्वारा अपने विचारों को भली-भाँति प्रकट करता है। प्रायः संवाद लम्बे हो जाते हैं। विचार-प्रधान तो वे होते ही हैं। पात्रों के मुख से लेखक अपने मन्तव्यों सामने रखता चलता है। शेष उपन्यासों के समान उसका उद्देश्य यह नहीं होता कि संवाद छोटे हों, कथा को आगे बढ़ाएँ, पात्रों की मनोवृत्तियों व स्वभाव पर प्रकाश डालें आदि। अतः समस्यामूलक उपन्यासों में यह स्वाभाविक है कि संवाद कहीं-कहीं लेख व भाषण का रूप धारण कर लेते हैं, क्योंकि उपन्यासकार का प्रयोजन ही यही होता है। आलोचक ऐसे संवाद वाले उपन्यासों पर प्रचार का आक्षेप लगाते हैं। उनका यह आक्षेप संगत नहीं दिखता; क्योंकि समस्यामूलक उपन्यासकार का उद्देश्य उपयोगिता से सम्बन्ध रखता है। वह जान-बूझकर उपन्यासों को प्रचार का माध्यम बनाता है। यदि यह दोष माना भी जाय तो भी उपन्यासकार की चेतनावस्था का जनक है। अतः वह तो अन्ततोगत्वा समस्यामूलक उपन्यास के रचनातन्त्र का एक तत्त्व ही बन जाता है।

अन्त में, समस्यामूलक उपन्यास और कला का क्या सम्बन्ध है, प्रश्न शेष रह जाता है। कोई भी रचना बिना कलात्मक हुए प्रभावशाली नहीं हो सकती। कला की ओर से समस्यामूलक उपन्यासकार भी उदासीन नहीं रह सकता। कलाशून्य रचनाओं की अवधि क्षणिक होती है। वे पाठकों को प्रभावित भी नहीं कर सकती। लेकिन समस्यामूलक उपन्यासों और कलात्मक उपन्यासों में भेद है। कलात्मक उपन्यासों के विश्लेषण का आधार समाजिक पृष्ठभूमि है। समस्यामूलक उपन्यासों में कला रहती है, लेकिन उनका मूल्यांकन कला की दृष्टि से करना अवैज्ञानिक है। समस्यामूलक उपन्यासकार यदि कहीं-कहीं सीमाओं का भी उल्लंघन भी कर जाए तो वह अखरता नहीं, क्योंकि ऐसे उपन्यास अपने उद्देश्य में इतने सुदृढ़ होते हैं कि उनका सामूहिक प्रभाव कला-अभाव की पूर्ति कर देता है। वे हमें सोचने के लिए विवश करते हैं। उनका प्रभाव उपन्यास पढ़ लेने के बाद मिटता नहीं है। वे हमारी चेतना और सर्जना-शक्ति को क्रियाशील करते हैं।

समाज अपनी समस्याओं से परिचत तो रहता ही है, बड़े-बड़े राजनीतिक नेता भी अपने भाषणों से उसे उन समस्याओं से संघर्ष करने के लिए उत्तेजित करते रहते हैं। पर, इन बातों का उस पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना साहित्य के द्वारा।

उपन्यासकार कथा के सहारे समस्याओं के सम्बन्ध में जो भी विचार व्यक्त करता है उनका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है। स्पष्ट है कि इस क्रिया में कला का योग है; जिसे हम समस्यामूलक उपन्यास की कला कहते हैं; पर, यहाँ कला प्रधान पद पर आरूढ़ नहीं की जाती, उसका तो मात्र सहारा लिया जाता है। इस सहारे से उपन्यासकार के गहरे-से-गहरे विचार टिके रहते हैं और पाठक को अरुचि नहीं होती। वह उसकी टिप्पणियों को ध्यान से पढ़ता है। ऐसे ही उपन्यास समाज को बदलने की क्षमता रखते हैं।

: २ :

प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार हैं अथवा नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। स्वयं प्रेमचन्द अपने को व्यक्ति-चरित्र का उपन्यासकार बता गये हैं—"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है[1]।"

कुछ आलोचक उन्हें सामाजिक उपन्यासकार घोषित करते हैं, जैसे कि उनके उपन्यास मात्र सामाजिक विषयों तक ही सीमित है ! प्रेमचन्द को, सामाजिक उपन्यासकार मानने पर भी, समस्यामूलक उपन्यासकार की कोटि में रखा जा सकता है। पर 'सामाजिक' शब्द प्रेमचन्द की समस्त विशेषताओं का परिचायक नहीं है। उनके उपन्यासों में मात्र सामाजिक समस्याएँ ही नहीं उठाई गई हैं। दूसरे 'सामाजिक शब्द समस्या की ऐकान्तिता का सूचक भी नहीं है।

प्रेमचन्द के उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास हैं, ऐसा मानकर प्रेमचन्द ही नहीं अनेक आलोचक भी चले हैं। यदि प्रेमचन्द के उपन्यासों की यह कसौटी मान भी ली जाय तो वे साधारण कोटि के उपन्यासकार ठहरते हैं। और जैसा हुआ है, प्रेमचन्द के आलोचकों ने इसी आधार पर उनके उपन्यासों का मूल्यांकन किया है एवं उनके चरित्रांकन की दुर्बलताओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

प्रेमचन्द के पात्र जगह-जगह कठपुतली के समान क्रिया-कलाप करते हैं। आलोचकों ने शास्त्रीय आलोचना सिद्धांतों के आधार पर प्रेमचन्द में यह एक बड़ा दोष बताया है। वास्तव में, बात है भी ऐसी। यह दोष उस स्थिति में और भी उभर जाता है जब स्वयं प्रेमचन्द मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना उपन्यास का मुख्य तत्व बताते हैं।

फिर भी प्रेमचन्द के उपन्यास बड़े लोकप्रिय हैं। विश्व-उपन्यासकारों की प्रथम पंक्ति में उनका स्थान है। 'मुख्य तत्व' दुर्लभ होते हुए भी उनके उपन्यास इतने प्रभावशाली कैसे बन गये ? वह कौन सा रहस्य है जो उनकी प्रसिद्धि के लिए उत्तरदायी है ? चरित्रांकन की दृष्टि से तो उनमें पर्याप्त दुर्बलताएँ हैं। अतः प्रेमचन्द के उपन्यास नहीं कहे जा सकते। उनमें व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास व्यक्ति-चरित्र से

---

१. कुछ विचार पृ० ३८

भी प्रमुख व बड़ी कोई और ही चीज है। स्पष्ट है, वह चीज उनके उपन्यासों में पाई जाने वाली 'समस्या' है। पाठक 'समस्या' पर अपना ध्यान केन्द्रित रखता है। अतः अन्य अभावों की ओर उसका ध्यान नहीं जाता चरित्रांकन की दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी समस्या की उपस्थिति उपन्यास को रोचक बनाए रखती है।

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में केवल समस्या प्रस्तुत ही नहीं करते वरन उसका हल भी करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उन्होंने सदैव ही हल बताया हो। आचार्य विनयमोहन शर्मा के शब्दों में —"वे समाज-व्यवस्था पर एक हाथ से प्रहार करते और दूसरे हाथ से उसको सहलाते थे। समाज की बुराइयों को प्रस्तुत करना ही वे अपना धर्म न मानते थे, प्रत्युत उनका हल खोजना भी वे आवश्यक समझते थे।"

प्रेमचन्द के उपन्यासों के मूल्यांकन की यह दूसरी कसौटी है। इस आधार पर उन्हें समस्यामूलक उपन्यासकार मानकर चला जाता है, जहाँ प्रमुख तत्व समस्या को रखना व उसका हल प्रस्तुत करना रहता है। उपन्यास के अन्य तत्व गौण रूप में आते हैं।

समस्यामूलक उपन्यासकार आदर्शवादी या यथार्थवादी होते हैं या जैसे कि प्रेमचन्द थे—आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी हो सकते हैं। वस्तुतः समस्यामूलक उपन्यासकार को यथार्थवादी अथवा आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी ही होना चाहिए। आदर्शवादी समस्याओं का कोई व्यावहारिक हल प्रस्तुत कर सकेगा—यह विश्वसनीय जरा कम है। समस्यामूलक उपन्यासकार की सफलता उसके व्यावहारिक दृष्टिकोण पर ही निर्भर करती है।

प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में कोई न कोई प्रमुख समस्या मिलती है। प्रमुख समस्या के साथ-साथ अन्य समस्याओं की झलक भी प्रत्येक उपन्यास में विद्यमान है।

'वरदान' प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृति है। इसका रचना-काल १९०२ है, यद्यपि इसका प्रकाशन 'सेवासदन' (१९१९) के बाद हुआ। 'वरदान' के पूर्व प्रेमचन्द ने एक छोटा-सा उपन्यास 'कृष्णा' लिखा था जो इंडियन प्रेस, प्रयाग से छपा था। यह उनके विद्यार्थी-जीवन की रचना है।

'वरदान' यद्यपि १९०२ में लिखा गया; लेकिन 'सेवासदन' के बाद पकाशित होने के कारण उसकी प्रारम्भिकता अछूती नहीं रह सकी होगी। कृति में आधारभूत परिवर्तन तो, निश्चय ही, नहीं किये जाते; लेकिन इतने समय के अन्तराल के कारण उस पर अनुभवी लेखक का हाथ तो अवश्य चला होगा। यह सब होते हुए, यह भी मानना पड़ेगा कि इस कार्य में प्रेमचन्द ने कोई विशेष रुचि नहीं ली होगी; क्योंकि इसमें अनेक साधारण भूलें रह गई हैं; यथा इलाहाबाद में ट्रामें चलवाना अथवा थानेदार का एक ही रस्सी से सारे गाँव को बँधवा देना आदि।

---

१. साहित्यावलोकन, पृ० १५५

प्रश्न यह है कि क्या 'वरदान' समस्यामूलक उपन्यास है ? यदि हाँ, तो उसमें कौनसी समस्या प्रमुख है एवं गौण रूप में कौनसी समस्याओं का उनमें प्रवेश हुआ है ?

कहना न होगा कि 'वरदान' न तो समस्यामूलक उपन्यास है और न उसमें किसी प्रमुख समस्या का ही समावेश किया गया हैं वास्तव में 'वरदान' कथानक-प्रधान उपन्यास है ; लेकिन कथानक की दृष्टि से भी वह सफल नहीं है। उसमें घटनाओं का घटाटोप मिलता है। कथावस्तु न सजीव है और न सुव्यवस्थित। इसका कारण प्रेमचन्द का समस्या प्रेम है। 'वरदान' में बीज रूप में प्रेमचन्द का समस्याओं के प्रति रुझान स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। समस्याओं के प्रति यह रुझान ही 'वरदान' को न तो कथानक की दृष्टि से और न चरित्रांकन की दृष्टि से सफल उपन्यास बनने देता है। इसी कारण कुछ आलोचकों को 'वरदान' "बिल्कुल हवा में उड़ता हुआ दीखता है[1]।"

डॉ० रामरतन भटनागर लिखते हैं, "कथा-संगठन और चरित्र-चित्रण दोनों दृष्टि से 'वरदान' असफल उपन्यास ही कहा जायगा। जिस प्रकार कि प्रेम कहानियों की धूम उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में थी उनसे यह उपन्यास जरा भी भिन्न नहीं है। कथासंगठन शिथिल है और उसमें कलात्मकता को विशेष स्थान नहीं मिल सका है। स्वयं कथा इतनी लम्बी है कि पाठक ऊब जाते हैं। न कथा-रस का विकास ही सम्भव है, न चरित्र-चित्रण का।"[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक की प्रेम कहानियों में डॉ० रामरतन भटनागर 'वरदान' की समता बताते हैं और आगे चलकर उसके कथा-शैथिल्य और पाठक के ऊब जाने की बात कहते हैं। यहाँ आलोचक स्वयं अपने मत का खंडन कर देते हैं और उन प्रेम-कहानियों का 'वरदान' से अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। उपर्युक्त काल की प्रेम-कहानियाँ पाठक को उबाती नहीं हैं, जबकि 'वरदान' के कथानक में वह कमजोरी है। वास्तव में प्रेमचन्द उन्नी-सवीं-बीसवीं शताब्दी के उपरिलिखित काल जैसी प्रेमकहानियाँ लिखना नहीं चाहते थे। 'वरदान' में तो वे उस परम्परा को तोड़कर एकदम नये क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं, जिसके कारण 'वरदान' का कोई रूप स्थिर नहीं हो सका है।

'कथाकार प्रेमचन्द' में श्री मन्मथनाथ गुप्त और राजेन्द्र वर्मा लिखते हैं, 'मनोवैज्ञानिक दष्टि से विरजन का चरित्र बिलकुल हवा में उड़ता हुआ है। उसमें कोई सिर-पैर है ही नहीं। प्रताप का चरित्र बहुत कुछ निभा है पर अंत में जाकर वह भी बिगड़ जाता है।"[3] जब कथावस्तु की दृष्टि से ही 'वरदान' असफल कृति ठहरती है, तब चरित्रचित्रण के क्षेत्र में उसमें कोई महत्वपूर्ण बात खोजना दुराशा मात्र है।

---

१. मन्मथनाथ गुप्त, 'कथाकार प्रेमचन्द', पृ० १७७
२. प्रेमचन्द : आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० ५०-५१
३. कथाकार प्रेमचन्द, पृ०, १६८

'वरदान' मध्यवर्गीय जीवन से सम्बन्ध रखता है। शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'देवदास' की कथा 'वरदान' से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। मन्मथनाथ गुप्त उपर्युक्त दोनों उपन्यासों के विषय-साम्य पर लिखते हैं, एक युवक का एक युवती से प्रेम होता है। किसी कारण से सामाजिक कारण से दोनों का विवाह नहीं हो पाता लड़की का विवाह दूसरे व्यक्ति से हो जाता है। अब इसके बाद क्या जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं, यही इन दोनों पुस्तकों में दिखलाया गया है।"[1]

यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से वैवाहिक समस्या सामने आ जाती है। डॉ० रामरतन भटनागर शरश्चन्द्र चट्टोपाध्याय के 'देवदास' से तुलना करते समय इस ओर स्पष्ट संकेत करते हैं, "शरतचन्द्र के 'देवदास' और अन्य उपन्यासों में असफल प्रेम नायक को आवारा और आत्मघाती बना देता है। प्रेमचन्द ने असफल प्रेम का समाज-सेवा और राजनीति निष्ठा में पर्यायवसान किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। परन्तु समाज-हित की दृष्टि से समस्या का प्रेमचन्द द्वारा उपस्थित किया हल अधिक स्वस्थ है।"[2] वस्तुतः इस कृति में वैवाहिक समस्या की ओर प्रेमचन्द पाठकों का ध्यान, उपन्यासकला की हत्या करके भी आकर्षित करना चाहते हैं—

"मुन्शी जी के अगणित बान्धव इसी भारतवर्ष में अब भी विद्यमान हैं जो अपनी प्यारी कन्याओं को इसी प्रकार नेत्र बन्द करके कुएँ में ढकेल दिया करते हैं।[3] और आगे चलकर जब विरजन विधवा हो जाती है तब प्रेमचन्द की आँखों के सामने वैधव्य की समस्या नाचने लगती है, कथानक और चरित्र-चित्रण की ओर तो वे ध्यान ही नहीं देते।

इसके अतिरिक्त उन्नीस पृष्ठों में 'कमला के नाम विरजन के पत्र' नामक परिच्छेद का उद्देश्य समझने पर यह बात और स्पष्ट हो जाती है। प्रेमचन्द ने इन पत्रों का विषय व्यक्तिगत जीवन नहीं रखा है। पति-पत्नी के पत्र-व्यवहार का कोई रूप उसमें नहीं मिलता। इसके विपरीत उन पत्रों में ग्रमीण जीवन की समस्याओं को बड़ी प्रमुखता से वर्णित किया गया है। समस्याओं के प्रति प्रेमचंद का रुझान प्रारम्भ से ही था, यह इन पत्रों की विषय-सामग्री से भलीभाँति समझा जा सकता है। यही रुझान 'वरदान' में प्रेमचंद को 'तीसरे दर्जे का उपन्यासकार' बनाती है।

शैक्षणिक पहलू पर भी 'वरदान' में यत्र-तत्र महत्वपूर्ण बातें बिखरी हुई हैं। 'प्रतिज्ञा' का प्रकाशन १९०५-६ में हुआ। 'प्रतिज्ञा', 'प्रेमा' (१९०४-५) का परिवर्द्धित रूप है, जिसका उर्दू में 'हम खुरमा व हमसबाब' नाम से पहले प्रकाशन हो चुका था। 'प्रेमा' का नाम आगे चलकर 'विभव' रखा गया जिसमें कुछ परिवर्तन भी

१. कथाकार प्रेमचन्द, पृष्ठ १६३-१६४
२. प्रेमचन्द : आलोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ५२
३. वरदान, पृष्ठ ४४

किये गए। यही उपन्यास परिवर्तनों और परिवर्द्धनों के पश्चात् 'प्रतिज्ञा' के नाम से प्रकाशित हुआ जिसका उर्दू अनुवाद 'बेवा' के नाम से हुआ है।

'प्रतिज्ञा' में विधवाओं, पति-पत्नी के या पारिवारिक सम्बन्धों और अछूतों की समस्या पर लिखा गया है। प्रेमचन्द का जीवन वैवाहिक गुत्थियों में उलझा हुआ था। पहली पत्नी से न पटने के कारण उसे अकाल 'वैधव्य' के भँवर में छोड़कर प्रेमचन्द अपने भावी जीवन को सुचारु ढंग से चलाने के लिए दूसरे विवाह की आयोजना करते हैं। इस मन:स्थिति में विधवा की समस्या सबसे प्रखर रूप में उनके सामने थी। वास्तव में विधवा-विवाह विधवाओं की समस्या के हल की दिशा में एक प्रभावशाली कदम है। प्रेमचन्द क्योंकि 'विधुर' दशा में थे, उन्होंने विधवा-विवाह का निश्चय किया और आगे चल कर बाल-विधवा शिवरानी देवी से विवाह किया जो सामाजिक दृष्टिकोण से तत्कालीन समाज में एक क्रान्तिकारी घटना थी। वस्तुत: व्यक्तिगत और समाजगत जीवन में विधवा-समस्या का सामना प्रेमचन्द को करना पड़ा। इसी समस्या को उन्होंने 'प्रतिज्ञा' में लिया। विधवा-समस्या ही 'प्रतिज्ञा' की प्रमुख समस्या है, यद्यपि इसमें दाम्पत्य-जीवन के अनेक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। अछूतों की समस्या को भी प्रस्तुत उपन्यास में स्थान दिया गया है, यद्यपि कथा-विकास की दृष्टि से उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी, 'सनातन धर्म पर आघात' विषय पर दाननाथ का भाषण अछूतों के सम्बन्ध में ही है।

प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा' में विधवा-समस्या को शरत्चन्द्र की तरह मात्र प्रस्तुत ही नहीं किया है, वरन् उसके निराकरण के लिए उपाय भी प्रस्तुत किए हैं। सामाजिक सुधार की भावना प्रेमचन्द में सबसे अधिक थी। 'प्रतिज्ञा' की समीक्षा निश्चित औपन्यासिक रचनातंत्र के सिद्धांतों पर नहीं की जा सकती। उसमें विधवाओं के उद्धार की समस्या इतनी प्रबल है कि चरित्रांकन, वस्तु-विन्यास इत्यादि सभी उसी के आश्रित होकर आते हैं।

'सेवासदन' का रचनाकाल सन् १९१६ है। यह उपन्यास प्रेमचन्द की प्रौढ़ रचनाओं में से है। यह समस्यामूलक उपन्यास है, जिसमें नारी-जीवन से सम्बन्धित समस्याओं को उपस्थित किया गया है, यथा भारतीय नारी की पराधीनता, दहेज-प्रथा, वेश्या-समाज आदि। नारी-जीवन सम्बन्धी प्रधान समस्या के अतिरिक्त अन्य पहलुओं पर भी 'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने विचार किया है जैसे नागरिक जीवन, किसान आदि।

सुमन 'सेवासदन' की नायिका है। सम्पूर्ण उपन्यास उसी के चरित्र की ओर घूमता है, मुड़ता है। लेकिन 'सेवासदन' में समस्या को प्रधानता दी गई है, चरित्र-चित्रण को नहीं। इसी कारण प्रेमचन्द सुमन की मानसिक स्थिति का विश्लेषण नहीं करते। सुमन के चरित्र का अन्तर्द्वन्द प्रेमचन्द छोड़ जाते हैं, क्योंकि उनका अभीष्ट भारतीय नारी की पराधीनता-जनित विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन था,

न कि व्यक्ति-चरित्र का चित्रण। सुमन का व्यक्तित्व इसीलिए दबा रहता है। वह भारतीय नारी-धर्म की प्रतीक बनकर उपन्यास में प्रवेश करती है।

'सेवासदन' की समीक्षा करते हुए श्री मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं, "इस उपन्यास का सबसे कमज़ोर, शिथिल और असम्बद्ध हिस्सा वह है जिसमें म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों की तथा अन्य सार्वजनिक वक्ताओं की तथा उनके तर्कों की बात चित्रित है। यह हिस्सा बहुत कुछ उखड़ता हुआ तथा मुख्य कथानक से अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध नहीं ज्ञात होता।"[1] इसी विषय पर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—"म्युनिसि-पैलिटी की कार्रवाइयाँ, उसकी बहसें और प्रस्ताव आदि सुमन की मुख्य कथा से अच्छी तरह ग्रथित नहीं हैं, यद्यपि वे उपन्यास में आई हुई वेश्या-सुधार की समस्या से सम्बन्धित अवश्य हैं। यदि म्युनिसिपैलिटी के ये सारे वृत्तान्त सुमन की कहानी से और अधिक संश्लिष्ट सम्बन्ध रख पाते, तो उपन्यास की कथा अधिक समन्वित और अर्थपूर्ण होती।"[2]

यह कथन ४३वें परिच्छेद का है। निःसंदेह औपन्यासिक रचनातंत्र की दृष्टि से इसका समावेश कथानक के विकास में कोई योग नहीं देता। लेकिन प्रेमचन्द औपन्यासिकता के निश्चित शास्त्रीय सिद्धान्तों के इतने कायल न थे। उपन्यास-कला तो उनके लिए समस्याओं को प्रभावशाली ढंग से उपस्थित करने की साधन मात्र थी। यदि इस प्रसंग का समावेश नहीं किया जाता तो नगर-जीवन की समस्या पर प्रकाश नहीं पड़ पाता, दूसरे वेश्या-समाज की व्यवस्था का उत्तरदायित्व म्युनिसि-पैलिटी का है। म्युनिसीपैलिटी के सदस्य यदि चरित्रवान् और कर्मठ हों तो इस सामाजिक कुरीति को दूर करने में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग ले सकते हैं। वेश्या सरस्या पर गंभीर बहस को रखने में प्रेमचन्द का यही उद्देश्य समझना चाहिए।

३१वें परिच्छेद में उस साधु के भाषण का उद्देश्य भी यही है जो सदन के विवाह के अवसर पर आकस्मिक रूप से प्रवेश करता है।

'सेवासदन' का महत्त्व इसलिए और बढ़ जाता है कि वह हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक समस्यामूलक उपन्यास है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य में वह युगान्तर उप-स्थित करता है।

'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन सन् १९२२ में हुआ। प्रस्तुत उपन्यास में प्रमुख समस्या भूमि की समस्या है। किसान और जमींदार के संघर्ष का चित्रण ही 'प्रेमाश्रम' का केन्द्र-बिन्दु है। वर्ग-संघर्ष को इतने यथार्थ रूप में उपस्थित करने वाला यह प्रथम उपन्यास है। 'प्रेमाश्रम' में जहाँ कहीं भी अन्य समस्याओं का उल्लेख है वह सब भूमि-व्यवस्था के उद्घाटन अथवा उसके भयंकर रूप को सामने रखने के निमित्त है। 'प्रेमाश्रम' का राजनीतिक पहलू प्रधान नहीं है। डॉ०

---

१. कथाकार प्रेमचन्द, पृ० २०२
२. प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, पृ० २५-२६

रामरतन भटनागर ने 'प्रेमाश्रम' को हिन्दी का ही नहीं, वरन् भारत का पहला राजनीतिक उपन्यास कहा है।[१] राजनीतिक स्वाधीनता भूमि-समस्या का आंशिक हल है। वस्तुतः भूमि-समस्या की नींव में समाज-व्यवस्था एवं आर्थिक पहलू ही प्रमुख है। प्रस्तुत उपन्यास की आत्मा (भूमि समस्या को न पहचानकर आलोचकों ने अन्य बातों को प्रधानता दे दी है। 'प्रेमाश्रम' में राजनीति का मात्र पृष्ठभूमि का स्थान है, क्योंकि बिना राजनीतिक चेतना के वर्ग-संघर्ष में तीव्रता नहीं आ सकती। तत्कालीन भारत की राजनीतिक चेतना की भूमिका में 'प्रेमाश्रम' का निर्माण किया गया है, किन्तु उसकी रीढ़ तो भूमि-समस्या ही है। अतः प्रेमाश्रम' भी समस्यामूलक उपन्यास है। समस्या या समस्याओं को प्रधानता देने के कारण 'प्रेमाश्रम' का कला पक्ष कमज़ोर हो गया है। शास्त्रीय पद्धति को आलोचना का मापदण्ड मानने वाले आलोचकों को उसमें अनेक दोष दिखाई देंगे। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव 'प्रेमाश्रम' के पात्रों के सम्बन्ध में लिखते हैं, "प्रेमाश्रम' के सभी पात्रों में हम देखते हैं कि उनके चरित्र पर नवीन घटनाओं की प्रतिक्रिया बहुत होती है। वे मानो बने बनाये पात्र हैं जो अपनी इच्छा-शक्ति से घटनाओं का निर्माण तो करते चलते हैं, परन्तु उसमें बँधते नहीं।"[२] डॉ० रामविलास शर्मा ने भी इस ओर संकेत किया है. "प्रेमाश्रम' उपन्यास के साधारण नियमों को तोड़ कर रचा गया है। कौन है इसका नायक, कौन है इसकी नायिका ? जिन आलोचकों ने 'प्रेमाश्रम' में नायक न होने पर खेद प्रकट किया है, उनके कथानक की शिथिलता दिखाकर प्रेमचन्द को घटिया कलाकार माना है, उसमें मनोविज्ञान की गहराई या तलछट न पाकर प्रेमचन्द को विश्व-साहित्यकार के पद से वंचित कर दिया है, उन्हें प्रेमचन्द ने एक वाक्य में उत्तर दिया था "आजाद रौ आदमी हूँ, मसलेहतों का गुलाम नहीं।[३]

बड़े कलाकार अपने कायदे-कानून खुद बनाते हैं। प्रेमचन्द भी कायदे पढ़कर उपन्यास लिखने न बैठते थे। प्रेमाश्रम' में वे उन किसानों की ज़िन्दगी की तस्वीर खींचना चाहते थे जिन्हें साहित्य के लक्षण-ग्रंथों में जगह न मिलती थी। वे उस अत्याचार और अन्याय की कहानी सुनाना चाहते थे जिसे उपक्रम, उपसंहार, प्रयोजन और उत्पत्ति की चर्चा करने वाले सज्जन अक्सर भूल जाया करते थे।[४]

निःसन्देह प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में शास्त्रीयता को कोई महत्त्व नहीं दिया है। पर, दूसरी ओर यह भी सच है कि उन्होंने कोई नये कायदे-कानून भी नहीं गढ़े। वे तो कथा के माध्यम से अपने समय की विभिन्न समस्याओं का

१. प्रेमचंद : आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० ८४
२. हिंदी-उपन्यास, पृ० १०५
३. हंस, मई १९३७, पृ० ९१४
४. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० ४२-४३

उद्‌घाटन करना चाहते थे। उपन्यास उनका एक साधन था। लेकिन आकर्षक कथा के आवेश में आकर उन्होंने मूल समस्या को कहीं भी दृष्टिक्षेप नहीं किया। समस्या ही स्वयं में इतना आकर्षण उत्पन्न कर लेती है कि औपन्यासिक कला के अन्य तत्त्व आँखों से ओझल हो जाते हैं। समस्यामूलक उपन्यासकार होने के नाते प्रेमचन्द के उपन्यासों में तथाकथित कला के दर्शन नहीं होते।

'प्रेमाश्रम' में भूमि-समस्या के अतिरिक्त अन्य समस्याओं को भी सामने रखा गया है, लेकिन उनमें उल्लेखनीय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या ही है। हिन्दू और मुसलमानों के संघर्ष का कोई आर्थिक, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक कारण नहीं है। साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपना उल्लू सीधा करने के उद्देश्य से इस प्रश्न को जटिल से जटिलतर बनाने के भरसक प्रयत्न किए। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के मूल कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस प्रकार 'प्रेमाश्रम' हिन्दी-साहित्य में तत्कालीन ज्वलन्त समस्याओं के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण लेकर हमारे सामने आता है।

'निर्मला' का रचना-काल सन् १९२३ और प्रकाशन-तिथि सन् १९२७ है। यह एक छोटा उपन्यास है, किन्तु समस्या के उद्‌घाटन और प्रभाव की दृष्टि से प्रेमचन्द के प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में से है। प्रेमचन्द का यह पहला दुखांत उपन्यास है।

कुछ आलोचकों ने 'निर्मला' को मनोवैज्ञानिक उपन्यास की कोटि में रखा है, यद्यपि वे उसकी समस्यामूलकता को भी स्वीकार करते हैं। 'निर्मला' की समस्या प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से अधिक स्पष्ट है। डॉ० रामविलास शर्मा ने 'निर्मला' में मनोविज्ञान को प्रधानता देने वाले समीक्षकों के विचारों का विश्लेषण करते हुए लिखा है, "कल्याणी और सुधा जैसी नारियाँ हिन्दी-उपन्यासों और नाटकों की उन तमाम महिलाओं से भिन्न हैं जो व्यभिचारी पति के चरणों को आँसुओं से तर कर देती हैं और उसके न्याय का प्रतिकार करने की बात भी नहीं सोचतीं। वे विशेष रूप से शरत् बाबू की देवियों से भिन्न हैं जो अधिकतर अपने दुःख में घुट-घुट कर मरना पसन्द करती हैं लेकिन समाज का खुला विरोध नहीं करतीं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में नए ढंग के नारी पात्रों को रच रहे थे जो अन्याय और दुःख सहती हैं, लेकिन उनका विरोध भी करती हैं। यदि नारी घुट-घुट कर मरा करे और सामाजिक रुकावटों का विरोध न करे तो कुछ लोग इसे बहुत गम्भीर मनोविज्ञान समझते हैं। वास्तव में उससे उनके सामन्ती संस्कारों को संतोष होता हैं।"[1]

'निर्मला' की प्रमुख समस्या नारी-समस्या है, जिसके चार पहलू हैं—दहेज-प्रथा, दोहाजू से विवाह अथवा वृद्ध-विवाह, विवाहिता नारी की समस्या और विधवा समस्या। इन सभी समस्याओं का केन्द्र दहेज-प्रथा अथवा आर्थिक व्यवस्था है,

१. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० ६०-६१

जिसका नारी की आर्थिक पराधीनता से भी गहरा सम्बन्ध है। सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को बदले बिना वैवाहिक समस्या सुलझ नहीं सकती। प्रेमचन्द ने प्रस्तुत उपन्यास में 'सेवासदन' अथवा 'प्रेमाश्रम' की तरह समस्या का हल किसी आश्रम की व्यवस्था करके प्रस्तुत नहीं किया है। निर्मला मध्यवर्गीय हिन्दू समाज की प्रतिनिधि दलित नारी बनकर हमारे सामने आती है, अतः उसकी समस्या वैयक्तिक नहीं है और न पूर्व की भाँति उसका कोई वैयक्तिक हल ही प्रेमचन्द ने सुझाया है।

'रंगभूमि' का प्रकाशन सन् १९२४-२५ में हुआ। अन्य उपन्यासों की भाँति 'रंगभूमि' में भी अनेक समस्याएँ मिलेंगी। डॉ० रामरतन भटनागर ने लिखा है, "वास्तव में 'रंगभूमि' में स्वतन्त्रता-पूर्व भारत की सारी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याएँ आ जाती हैं। ऐसी विषद चित्रपटी भारतवर्ष के किसी उपन्यासकार ने ग्रहण नहीं की।"[१] 'रंगभूमि' का केन्वस विशाल है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन उसमें स्वाधीनता-पूर्व भारत की समस्त आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का समावेश है, इस बात में पर्याप्त अतिरंजना है। वास्तव में 'रंगभूमि' में दो समस्याएँ ही प्रधान हैं—एक तो औद्योगीकरण की समस्या और दूसरी भारतीय रियासतों की समस्या। 'रंगभूमि' का समस्त कथानक इन्हीं समस्याओं को आधार बनाकर खड़ा किया गया है। शास्त्रीय पद्धति के आलोचकों को 'रंगभूमि' के कथानक तत्त्व में दुर्बलताएँ दिखाई देती हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी 'रंगभूमि' की वस्तु विवेचना करते हुए लिखते हैं—"छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर लम्बे-लम्बे अध्याय लिखे गए हैं जिससे कथावस्तु आवश्यकता से अधिक लम्बी हो गई है। समस्त मुख्य घटनाओं को लेकर प्रस्तुत आकार से आधे में सारा उपन्यास लिखा जा सकता है।"[२] लेकिन प्रेमचन्द के लिए ग्रामीण घटनाओं का वर्णन-विस्तार अनावश्यक नहीं था, वरन् वे तो उसे प्रमुख मानकर चले हैं। यदि इन स्थलों को उपन्यास में से निकाल दिया जाय तो उसकी समस्त गरिमा ही जाती रहेगी। प्रेमचन्द का मूल उद्देश्य तो यहीं अन्तर्निहित है।

'रंगभूमि' सन् २८ के आन्दोलन से पूर्व लिखा गया है, अतः उस पर गांधीवाद की स्पष्ट छाप है। असहयोग के आदर्शों की छाया सर्वत्र मिलती है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने 'रंगभूमि पर एक नई दृष्टि' नामक परिच्छेद में एक नई खोज की है—ऐसी वस्तु की खोज जिससे स्वयं लेखक प्रेमचन्द अनभिज्ञ थे। तर्क के आधार पर श्री मन्मथनाथ गुप्त के विचार स्पष्ट और मानने योग्य हैं, लेकिन उनसे 'रंगभूमि' का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता; क्योंकि प्रेमचन्द की गांधीवाद पर आस्था भंग नहीं हुई थी। वे तो सच्चे हृदय से गांधीवादी आदर्शों की प्रतिष्ठा कर रहे थे। प्रेमचन्द में वैचारिक मोड़ का आभास तो काफ़ी आगे जाकर दिखाई देता है। हाँ,

२. प्रेमचन्द : आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० ११२
१. प्रेमचन्द : साहित्यिक-विवेचन, पृ० ७०-७१

यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द गांधीवादी दर्शन को 'रंगभूमि' में सफल ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सके और इस कारण, श्रद्धा होते हुए भी अनजान में, अनेक असंगतियों को चित्रित कर गए हैं। सूरदास गांधी के समान अति मानवीय स्तर तक नहीं पहुँच सका है, यद्यपि वह उसके अत्यधिक निकट अवश्य है। उसे गांधी का लघु संस्करण मानने में तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। कुछ अनजान में हुई असंगतियों के आधार पर 'रंगभूमि' में यदि कोई आलोचक गांधीवादी दर्शन की पराजय बताता है तो उसकी बुद्धि की दाद तो दी जा सकती है, उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता इतनी अधिक स्पष्टता के सामने एक-दो सूक्ष्म बातें कोई अधिक महत्त्व नहीं रखतीं, कम-से-कम इतना तो नहीं ही रखतीं कि उपन्यास के आधार को ही उलटकर रख दें। श्री मन्मनाथ गुप्त 'कथाकार प्रेमचन्द' में लिखते हैं "जिस जमीन के लिए सारा झगड़ा था वह तो बची नहीं, यदि बचती तो हम कहते कि हाँ आत्मबल ने कुछ प्राप्त किया। यहाँ पराजय का अर्थ यह है कि नए ढंग से कार्य करने के लिए स्फूर्ति तथा प्रोत्साहन की प्राप्ति, वहाँ पराजय का अर्थ संग्राम के जीवन में एक नया पन्ना उलटना होता है, ऐसी पराजय पर हमें ग्लानि की आवश्यकता नहीं। ऐसी पराजय तो विजय की सूचक तथा उसकी कृष्णवर्ण अग्रदूती मात्र है। ऐसी पराजय होते हुए भी हम कह सकते हैं नैतिक जीत हुई, नैतिक जीत माने कल्पना में जीत नहीं बल्कि नैतिक जीत माने ऐसी हार जो जीत की आशा देती है।"[1] उपर्युक्त तर्क का कोई खंडन नहीं है। 'रंगभूमि' की पराजय स्थूल रूप में जीत की कोई आशा नहीं बँधाती, लेकिन यह सारी पराजय पाठक को, जनता को क्या संदेश देती है? क्या वह उसको पस्तहिम्मत करती है? क्या सूरदास का बलिदान आत्मबल प्रदान नहीं करता? इन प्रश्नों के उत्तर उपर्युक्त आलोचक की स्थापनाओं के विरुद्ध जाएँगे। अतः 'रंगभूमि' को प्रेमचन्द ने गांधीवाद का मखौल उड़ाने के लिए अथवा गांधीवाद की निरर्थकता प्रदर्शित करने के लिए नहीं लिखा है, वरन् उस पर पूरी आस्था-श्रद्धा के साथ घटनाओं और चरित्रों को रंग-रूप दिया है। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द का व्यक्तित्व गांधीवाद के नीचे दब नहीं गया है। गांधीवादी, आदर्शवादी और प्रेमचन्दवादी वस्तुवाद दोनों समानान्तर दिखाई देते हैं। 'रंगभूमि' को इसी दृष्टिकोण से परखना वैज्ञानिक होगा और हम लेखक के साथ भी इसी प्रकार ठीक-ठीक न्याय कर सकेंगे।

प्रेमचन्द ने अगला उपन्यास 'कायाकल्प' सन् १९२८ में लिखा। प्रस्तुत उपन्यास साधारण कोटि की कृति है। उसे एक सीमा तक प्रगति-विरोधी उपन्यास भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें अलौकिक बातों का प्रवेश बहुत है। लेकिन 'कायाकल्प' में केवल अलौकिकता अथवा चमत्कार ही नहीं है, उसमें कथा है एवं और भी पहलू हैं जो अनेक समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं। माना कि घटना-बहुलता के कारण प्रेमचन्द इस उपन्यास में समस्याओं की विस्तार से व्याख्या नहीं कर सके हैं,

---

१. कथाकार प्रेमचन्द पृ० २९३

फिर भी उनका समावेश अपना पूरा महत्त्व रखता है। 'कायाकल्प' में मोटे रूप में दो प्रकार की समस्याएँ पाई जाती हैं—सामाजिक और चिरंतन। चिरंतन समस्या का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, अतः उसका अस्तित्व उपन्यास को तिलस्मी बना देता है। पूर्व-जन्म पर प्रेमचन्द का विश्वास था; इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर स्वीकार किया जाय अथवा नहीं, जैसा 'कायाकल्प की कथा से विदित होता है यह प्रेमचन्द की पूर्व-जन्म सम्बन्धी धारणाओं को व्यक्त करता ही है। इसे एक विरोधाभास भी कहा जा सकता है।

'कायाकल्प' का सबसे सबल भाग सामाजिक समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। ये समस्याएँ सामाजिक, राजनीतिक और साम्प्रदायिक क्षेत्रों की हैं। सामाजिक क्षेत्र में विवाह और प्रेम की अवस्था प्रमुख है। राजनीतिक क्षेत्र में राजाओं और जमींदारों की संस्कृति की वास्तविकता का उद्घाटन करना मुख्य लक्ष्य है तथा साम्प्रदायिक क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम समस्या हैं। इन समस्याओं पर प्रेमचन्द के विचार प्रस्तुत उपन्यास में जगह-जगह बिखरे हुए हैं। यदि प्रेमचन्द इसमें अलौकिक कथा का समावेश नहीं करते तो यह उपन्यास भी उत्कृष्ट कोटि का समस्या-प्रधान उपन्यास बन गया होता।

'ग़बन' सन् १९३१ के आस-पास लिखा गया और मार्च १९३२ में छपा। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार, "इसमें प्रमचन्द जी ने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को साथ-साथ प्रदर्शित किया है। रमानाथ और जालपा नव विवाहित दम्पति हैं। रमानाथ जालपा से अत्यधिक प्रेम करता है पर वह उससे अपनी वास्तविक स्थिति को सदैव छिपाता रहता है। वह उपन्यास का मनोवैज्ञानिक प्रेरणा सूत्र है। उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि यह है कि रमानाथ अपनी पत्नी की मनः तुष्टि के लिए अपनी सामर्थ्य के बाहर जाकर गहने लाता और ऐसे उपायों का आश्रय लेता है, जो अधिकाधिक कठिन परिस्थितियों में डाल देते हैं।"[१] 'ग़बन' में सामाजिक समस्या का स्वरूप तो निःसन्देह स्पष्ट है; पर उसमें कोई मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है। जिस मनोवैज्ञानिक समस्या की ओर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने संकेत किया है वह सामाजिक समस्या का ही एक अंग है। डॉ० रामरतन भटनागर ने इसी बात को कुछ अधिक सुलझे रूप में व्यक्त किया है। "'ग़बन' प्रेमचन्द का अन्तिम सामाजिक उपन्यास है और कला एवं दृष्टिकोण की परिपक्वता की दृष्टि से वह उनके सारे सामाजिक उपन्यासों में श्रेष्ठतम है। हमने इस उपन्यास को 'गहने की ट्रेजिडी' कहा है, परन्तु कहानी का मूल विषय यही होने पर भी समस्या का वह रूप एक अत्यन्त व्यापक समस्या का ही अंग है। यह समस्या है वर्गगत असंतुलन। गहने वर्ग-श्रेष्ठता के ही प्रतीक हैं। हमारे इस पूंजीवाद समाज की सारी व्यवस्था वर्ग की विभिन्नता पर ही आश्रित है।"[२] वास्तव में 'ग़बन' मध्यवर्गीय समाज की

१. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० ११४
२. प्रेमचन्द : आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० १४१-१४२

समस्याओं का उपन्यास है। मध्यवर्गीय परिवारों में जो दिखावा अथवा ढकोसला पाया जाता है वह 'ग़बन' में बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। उपन्यास के प्रारम्भ में गहने की समस्या को केन्द्र बनाकर मध्यवर्गीय भारतीय नारी की समस्या का उद्घाटन किया गया है तथा अन्त में कलकत्ते के वर्णन के प्रसंग में भारतीय स्वाधीनता की समस्या को पूरे मनोयोग से चित्रित किया गया है, अंग्रेजी शासन में पुलिस के हथकंडों, न्याय की विडम्बनाओं आदि का चित्रण जिसके अन्तर्गत आता है। इस प्रकार 'ग़बन' की समस्याएँ स्पष्ट हैं। 'ग़बन' की विशेषता इस बात में भी है कि प्रेमचन्द इसमें अपने दृष्टिकोण के अधिक निकट दिखाई देते हैं।

'कर्मभूमि' प्रेमचन्द की प्रौढ़ कृति है। इसका रचना-काल सन् ३०-३२ का है। प्रेमचन्द जिस आदर्शवाद के घेरे में अभी तक आबद्ध थे उसे तोड़कर अब वे यथार्थ भूमि में प्रवेश करते हैं। उनके भावी मोड़ का आभास 'कर्मभूमि' में मिलता है।

'कर्मभूमि' का कथानक वैचित्र्यपूर्ण है क्योंकि उसमें कई समस्याओं का प्रतिपादन किया गया है। कथावस्तु के शैथिल्य के सम्बन्ध में श्री मन्मथनाथ गुप्त एक स्थल पर लिखते हैं—"स्वयं प्रेमचन्द भी शायद कर्मभूमि के कथानक की शिथिलता के सम्बन्ध में परिचित थे। उन्होंने जो अपने ४०० पन्ने के उपन्यास को पाँच भागों में बाँटा है, इससे इस सम्बन्ध में उनकी सज्ञानता जाहिर होती है।"[१] स्पष्ट है, प्रेमचन्द के उपन्यासों में पाई जानेवाली रचनातंत्र-सम्बन्धी दुर्बलताएँ सज्ञान हैं। प्रेमचन्द उपन्यास के माध्यम से कोई सुन्दर कहानी ही कहना नहीं चाहते थे, प्रत्युत तत्कालीन अनेक समस्याओं की ओर भारतीय जनता को जागरूक करना चाहते थे। 'कर्मभूमि' में यदि कथानक शिथिल है तो इससे उसकी महानता पर कोई विशेष विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। 'कर्मभूमि' की श्रेष्ठता अक्षुण्ण ही बनी रहती है।

'कर्मभूमि' की मुख्य समस्या भी स्वाधीनता की समस्या है। अछूतों और किसानों की समस्याएँ उसी का अंग बन कर आती हैं। शैक्षणिक समस्या का भी उद्घाटन प्रस्तुत उपन्यास में किया गया है। इस प्रकार 'कर्मभूमि' एक राजनीतिक उपन्यास कहा जा सकता है।

पं० नंददुलारे वाजपेयी 'कर्मभूमि' के विचार-पक्ष की विवेचना करते हुए लिखते हैं—'विचारों के द्वारा प्रेमचन्द जी ने समय का चित्रण तो सफलता से कर दिया, किन्तु पाठक के सम्मुख अधिक योजनाएँ नहीं आतीं, जिन्हें वह भावी आदर्श समाज की पृष्ठभूमि मान सके।"[२] स्पष्ट है, उपन्यासकार विचारों के द्वारा समय का चित्रण यदि सफलतापूर्वक कर देता है तो यही उसकी सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। योजनाएँ प्रस्तुत करना कोई उसका अनिवार्य तत्त्व नहीं है। समय-चित्रण भी अनेक शास्त्रीय सीमाओं को तोड़कर करना पड़ता है। और, यदि योजनाओं का भी

१. **कलाकार प्रेमचंद, पृ० ४७०**

२. **प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन, पृ० ११२**

उसमें विधिवत् समावेश कर दिया जाये तब तो यह उपन्यास न रहकर समाज-शास्त्र या अर्थशास्त्र का पोथा ही बन जाए। इस प्रकार के आलोचक जहाँ उपन्यास-कला की दुहाई देते हैं, वहाँ योजनाओं की माँग भी करते हैं; यह दृष्टिकोण स्वयं में विरोध लिये हुए है। 'कर्मभूमि' पाठक को सम्बन्धित समस्याओं पर सोचने के लिए विवश करता है। यह विवशता योजना-चित्रण से कहीं अधिक उपयोगी है। पूर्व परम्परा को तोड़कर प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' को अधिक-से-अधिक यथार्थ से जोड़ने का प्रयत्यन किया है।

'गोदान' प्रेमचन्द का अन्तिम पूर्ण उपन्यास है। इसका रचना-काल सन् १९३६ है। 'गोदान' में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण यथार्थवादी हो गया है। औपन्यासिक कौशल प्रस्तुत उपन्यास में सबसे अधिक है, किन्तु शास्त्रीय पद्धति पर इसे भी नहीं परखा जा सकता।

'गोदान' प्राचीन जनता का महाकाव्य कहा जाता है। निःसन्देह उसमें ग्रमीण जनता की विभिन्न समस्याओं पर ही लेखक की दृष्टि केन्द्रित है। वैसे देखा जाय तो 'गोदान' की पृष्ठभूमि बड़ी व्यापक है। उसमें शहरी और ग्रामीण दोनों जीवन का चित्रण है तथा दोनों की समस्याएँ उसमें समाहित हैं। लेकिन यदि बारीकी से देखा जाय तो शहरी जीवन का चित्रण ग्रामीण जीवन से गुँथा हुआ ही नहीं मालूम पड़ता, प्रत्युत उसी के हेतु औपन्यासिक कला में स्थान रखता है—यह भली-भाँति लक्षित हो जाता है।

'गोदान' की मुख्य समस्या किसान के सुखी जीवन की समस्या है। यद्यपि किसान के जीवन के प्रत्येक पहलू पर इस उपन्यास में प्रकाश डाला गया है फिर भी उसकी ऋण-समस्या ही प्रमुख है। ऋण के बोझ के कारण भारतीय किसान किस तरह पिस जाता है यही 'गोदान' का केन्द्र-बिन्दु है। होरी ऐसे ही किसान का प्रतीक है।

'गोदान' में प्रोफ़ेसर मेहता प्रेमचन्द के विचारों के वाहक हैं। प्रेमचन्द कथा-विकास के साथ-साथ अनेक समस्याओं पर प्रो० मेहता के मुख से लम्बी-लम्बी वक्तृताएँ भी दिलवाते चलते हैं। यदि प्रेमचन्द का उद्देश्य केवल एक किसान की कहानी लिखना ही रहा होता तो कथा-विन्यास में उन स्थलों की कोई आवश्यकता न होती। वास्तव में, वे स्थल 'गोदान' को महाकाव्य तक पहुँचाने में बड़े सहायक होते हैं। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व 'गोदान' में भी अन्य उपन्यासों की तरह छाया हुआ है। मात्र कला को किसी रचना की श्रेष्ठता या सफलता की कसौटी माननेवाला लेखक इस प्रकार के स्थलों को भूलकर भी न रखता। लेकिन प्रेमचन्द का तो मुख्य उद्देश्य समस्याओं को सामने रखना था; इसीलिए ऐसे स्थलों पर उनकी प्रतिभा विशेष रूप से निखरकर हमारे सामने आती है।

'मंगलसूत्र' प्रेमचन्द का अपूर्ण उपन्यास है जो उनकी मृत्यु के १०-११ वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ। 'गोदान' में प्रेमचन्द यथार्थवादी बन गए हैं। 'मंगलसूत्र' में हम उनके यथार्थवादी रूप का स्पष्ट दर्शन कर सकते थे, किन्तु वह अपूर्ण ही रह गया। प्रस्तुत उपन्यास जैसा सामने आया है उसको देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी प्रमुख समस्या वैवाहिक होती। पुष्पा और संतकुमार के दाम्पत्य जीवन का असंतोष प्रारम्भिक पृष्ठों से मिलता है। पुष्पा नारी जाति की स्वतंत्रता और अधिकारों की समर्थक है। वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित विच्छेद का प्रश्न संभवत: इसमें महत्वपूर्ण स्थान रखता, किन्तु अपूर्ण कृति पर अटकल या संभावनाओं के आधार पर कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में किसी-न-किसी समस्या को प्रमुख स्थान मिला है, अत: उनके प्राय: सभी उपन्यास समस्याप्रधान अथवा समस्यामूलक ठहरते हैं। कथानक के अन्दर समस्याओं का समावेश वे नहीं करते वरन् समस्याओं को उपस्थित करने के लिए कथानक को गढ़ते हैं। चरित्र-चित्रण के लिए उनके उपन्यास नहीं लिखे गए वरन् समस्याओं के उद्घाटन, विकास और हल के हेतु पात्रों का सर्जन तथा चरित्र-चित्रण हुआ है। कथा विकसित करने के लिए वे संवादों को नहीं रखते, वरन् समस्याओं का स्वरूप प्रकट करने के लिए पात्रों के मुख से अनेक बातें कहलाते हैं। अत: प्रेमचन्द के उपन्यासों को समझने के लिए यही वास्तविक आधार है। आधार की ओर ध्यान न देकर यदि कोई आलोचक अन्य मानदण्डों से उनके उपन्यासों की परख करता है तो वह गलत दृष्टिकोण अपनाता है। उसकी आलोचना का निष्कर्ष यही होगा कि प्रेमचन्द प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार नहीं हैं, जबकि वे मानव समुदाय में दिन-पर-दिन लोकप्रिय होते जा रहे हैं। यदि वे सफल उपन्यासकार नहीं होते तो यह लोकप्रियता मिलनी दुर्लभ होती। सच पूछा जाय तो प्रेमचन्द के उपन्यास केवल उपन्यास ही नहीं, उपन्यास से कुछ अधिक हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में उठाई गई प्रमुख समस्याओं के इस पर्यवेक्षण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके प्राय: सभी उपन्यास समस्यामूलक हैं। यह तथ्य उनके उपन्यासों की समीक्षा करते समय ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा प्रेमचंद को समझने में ही हम भूल नहीं करेंगे, प्रत्युत उनके उपन्यासों के प्रति भी उचित न्याय नहीं कर पाएँगे। प्रेमचंद और अन्य विश्वविख्यात उपन्यासकारों में यही सबसे बड़ा अंतर है कि जहाँ अन्य प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार चरित्रांकन की कला में अद्वितीय हैं, वहाँ प्रेमचन्द समस्या के उपस्थित करने, उसका पूर्णरूपेण उद्घाटन करने और उसका हल सुझाने में अन्यतम हैं। यदि प्रेमचन्द के उपन्यासों की परख चरित्रांकन के दृष्टिकोण से की जाएगी तो वे विश्व-विख्यात उपन्यासकारों की प्रथम श्रेणी में स्थान नहीं पा सकेंगे। इस बात को स्वीकार करने में हीन भावना का अनुभव हमें नहीं करना चाहिए। चरित्र-चित्रण में, प्रेमचन्द, कहानियों में जितने

सफल हुए हैं उतने उपन्यास में नहीं। अपवाद रूप में, दो-चार औपन्यासिक पात्रों के सफल चरित्रांकन का उल्लेख कर देने मात्र से उनकी समस्यामूलकता पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रेमचन्द की औपन्यासिक-कला का सबसे सशक्त पहलू समस्यामूलक तत्व है, जिसके आधार पर हम प्रेमचन्द की कृतियों पर गर्व कर सकते हैं और विश्व-साहित्य के सम्मुख उनकी उपादेयता सिद्ध कर सकते हैं।

: १० :

प्रेमचन्द : जीवन-दर्शन और आदर्शवाद

डॉ० गोविन्द चातक

प्रेमचन्द साहित्य और नीतिशास्त्र को एक ही पंक्ति में रखते थे।[1] उनके जीवन और साहित्य-सम्बन्धी आदर्श धारणा-बद्ध होने के कारण उनके उपन्यासों और कहानियों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं जिनके आधार पर प्रेमचन्द का जो चित्र कल्पना में उभरता है, वह एक ऐसे व्यक्ति से मिलता है जिसने कलम को सिपाही की तरह हाथ में लिया है और जो उससे एक साथ कई मोर्चों पर लड़ता दिखाई देता है। कलम का यह सिपाही सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ रहा है और जीवन की लड़ाई को खेल समझकर ललकार कर रहा है—चलो लड़ो; खेलना तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबरायें नहीं, ईमान न छोड़ें।[2] और अपनी भावना के अनुरूप ही इस सिपाही ने पूरी ईमानदारी से, बेलाग सच्चाई से प्रहार किया, जिससे कोई बचा नहीं, चाहे राजा, रईस, व्यापारी हो या वकील, पंडे पुजारी या किसान-मजदूर। इसीलिए रूढियों, परम्पराओं और मनोवैज्ञानिक दुर्बलताओं पर कठोर प्रहार करते हुए उसने अपना आक्रोश, घृणा, दया, सहानुभूति सबको समरस होकर व्यक्त किया है और इसीलिए इस प्रकार अपनी अभिव्यक्ति में वीर, रौद्र और भयानक रसों का कहीं लोप नहीं होने दिया। वह लेखनी को एक अस्त्र समझता था और अस्त्र की तरह ही उसका उपयोग करता रहा। वह 'लिटरेचर को मैस्कुलिन देखना चाहता' था।[3]

ऐसे लेखक का आदर्शवादी होना स्वाभाविक था। जीवन को खेल समझनेवाला सिपाही भी जनता है कि खेल में लोग हारते भी हैं और हारनेवाले फिर खेलते हैं और कभी-कभी उनकी जीत भी हो जाती हैं। प्रेमचन्दजी इस जीत को

१ प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ० ८

२ रंगभूमि

३ अमृतराय, कलम का सिपाही, पृ० ३०१

महत्वपूर्ण समझते हैं । इसीलिए उनके जीवन-खेल के खिलाड़ी बहुधा आदर्श पात्र बने बिना नहीं रहते । इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द के आदर्शवादी होने का कारण सामयिक परिस्थितियों में भी निहित था । उनके युग के कुछ अपने प्रश्न थे । देश के पुनर्जागरण और राष्ट्रीय उद्बोधन ने वर्षों से उलझी समस्याओं को जो एक नई चुनौती दी थी, उसने हर प्रबुद्ध भारतीय को मानसिक आवेश से भर दिया था । इस भावात्मक आवेश की परिणित आदर्शवाद में ही संभव थी । यह ठीक है कि दाम्पत्य जीवन की कटुता, संयुक्त परिवार का विघटन, अनमेल विवाह, विधवा विवाह, दहेज, छुआछूत, साम्प्रदायिक विद्वेष, राष्ट्रीय जागरण, किसान और मजदूरों का शोषण, रूढ़िवाद, जमींदारी, वेश्यावृत्ति आदि भारतीय जीवन के ऊपर छाई बहुत-सी समस्याओं को प्रेमचन्द ने यथार्थ के साथ देखने का प्रयास किया किन्तु इन्हीं समस्याओं पर उसी युग में गांधीवाद भी अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण से विचार करके राष्ट्र के जीवन में एक नई चेतना का संचार करता जा रहा था । प्रेमचन्द संभवत: उसी युग-चेतना को अपने में समाहित करने में सहायक हुए । इसीलिए प्रेमचन्द ने जो जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया वह कोई नया आदर्श नहीं था, बल्कि युग-दर्शन ही था, जो उस समय के राष्ट्रीय, सामाजिक और नैतिक जागरण और मानवता की भावना से पुष्ट हुआ था । वास्तव में उन्होंने युग के उस परिपूर्ण अनुप्राणित जीवन को देखा जो उस समय के किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए देखना स्वाभाविक था । और वह जीवन चूँकि अपनी विविधता और विषमता में मानवीय संवेदना का मुखापेक्षी था, इसलिए प्रेमचन्द के साहित्य में भी जीवन के विशाल और विस्तृत पक्ष पर दृष्टि का विस्तार मिलता है । प्रेमचन्द का विस्तार वस्तुत: भारतीय जीवन के विस्तार से भिन्न नहीं है । इसीलिए प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के लिए जो आधार अपनाया उसमें जीवन की विपुलता का ऐश्वर्य अनेक रूपों में समाहित है । संभवत: वह हिन्दी का पहला कथाकार था, जो यथार्थ की ठोस धरती पर उतरा । यह बात दूसरी है कि उसकी दृष्टि आकाश में ही भटकती रही ।

सामान्यत: प्रेमचन्द को यथार्थवादी और 'प्रसाद' को आदर्शवादी करार देने की पम्परा हिन्दी में रही है । किन्तु सत्य यह है कि प्रसाद का आदर्शवाद कहीं अयथार्थ नहीं है और प्रेमचन्द का अयथार्थ हो जाता है । वस्तुत: यथार्थ का वर्णन भी आदर्शपूर्ण हो सकता है और आदर्श भी इतना वास्तविक हो सकता है कि वह यथार्थ ही लगे । प्रेमचन्द ने यथार्थ जीवन से चरित्र लिये, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता । यह इसीसे सिद्ध है कि उनकी कहानियों और उपन्यासों में बहुत-से लोगों ने अपनी छाया देखी । 'मोटेराम शास्त्री' कहानी पर तो मुकदमा भी चला । 'कायाकल्प' की पांडुलिपि पर प्रेमचन्द ने पात्रों के साथ वास्तविक व्यक्तियों के नाम भी टिप्पणी के साथ लिखे थे । उनके चरित्रों में आलोचकों ने नेहरू, गांधी, और एनीबेसेण्ट तक की छाप देखी है । किन्तु प्रेमचन्द ने चाहे जीवन के यथार्थ को खुली

१. देखिए, अमृतराय : प्रेमचन्द कलम का सिपाही, पृ० ३६६

आँखों से देखा हो, आँखें मूँदकर उन्होंने आदर्श के स्वप्न देखे हैं। लगता है जैसे, आदर्श के लिए ही उन्होंने यथार्थ को स्वीकार किया हो। उन्होंने गबन में एक स्थल पर स्वयं कहा है : 'आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए।' इससे न आदर्श ही सजीव हो पाया, न यथार्थ ही। वैसे आदर्शों को ग्रहण करना कोई अस्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं, किन्तु स्वाभाविक स्थितियों, मनोवैज्ञानिक द्वंद्वों के अभाव में जब प्रेमचन्द के पात्र सुबह उठते ही आदर्श ओढ़ लेते हैं तो विचित्र लगते हैं और, ये आदर्श तब और भी विचित्र लगते हैं; जब वे केवल संयोग पर आधारित होते हैं। सुमन आत्महत्या करने लगती है तो अकस्मात् योगीराज गजानंद दिखाई देते हैं। उसका पिता आत्म हत्या करना चाहता है तो वे फिर दिखाई देते हैं। संयोग से ही कृष्णा विवाह के दिन चर्खा कातने लगती है, क्योंकि उसकी बरात लेकर आनेवाला पति खद्दर पहनता है। 'कर्मभूमि' में एक के बाद दूसरे पात्र का प्रेमचन्द बारी-बारी हृदय-परिवर्तन करते जाते हैं और अंत में पहुँचते-पहुँचते सब देवता बन जाते हैं। संभवतः इसलिए कि प्रेमचन्द सोचते आये हैं—देवता थे, देवता हैं; हमेशा रहे हैं और रहेंगे।[1]

प्रेमचन्द 'देवता' बनाने में इतने संलग्न रहे कि हाड़-मांस के मानव को वे आन्तरिक गहराई न दे पाये। बहुधा वे मानव के भाव-जगत की उपेक्षा करते मिलते हैं। इसलिए उनमें उस मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का अभाव मिलता है जो मनोवैज्ञानिक रूप से वास्तविक आदर्श की सृष्टि करने में सहायता करता है। पात्रों के अन्तर की गहराइयों में न उतर पाने के कारण ही कभी ऐसा लगता है कि उनके साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति मस्तिष्क से अधिक और हृदय से कम हुई है। कई बार वे जीवन के अध्येता प्रतीत होने हैं, अनुभूत सत्यों के उद्गाता नहीं। यद्यपि प्रेमचन्द की अनुभूति को बौद्धिक संवेदना मात्र कहने को मन नहीं करता, किन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनके उपन्यास नोट्स ली हुई जैसी सामग्री पर आधारित प्रतीत होते हैं। प्रेमचन्द का साहित्य इतिवृत और स्थूल जगत का साहित्य है, जिस पर व्यक्ति की अपेक्षा परोक्ष अध्ययन या तटस्थ्य निरीक्षण की छाप है। इसी लिए उनके चरित्र 'टाइप' हैं, व्यक्ति नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रेमचन्द में भावुकता या संवेदना का अभाव है। वस्तुतः वे इतनी अधिक भावुकता को पात्रों के ऊपर थोप देते हैं कि कभी-कभी उन्हें सामान्य परिस्थियों में भी रुला देते हैं, जबकि रोए बिना भी रहा जा सकता है। इसके बाद उनकी सहृदयता अगर कहीं दिखाई देती है तो वह सर्वत्र गुणों और आदर्शों के पीछे भटकती दिखाई देती है और तब तक चैन नहीं लेती जब तक स्याह को सफेद नहीं बना डालती। प्रेमचन्द के सामने एक निश्चित फॉर्मूला है कि बिल्ली सौ चूहे खायेगी और फिर एक दिन ऐसा आएगा कि गले में कंठी बाँध लेगी और तीर्थ-यात्रा पर चल देगी। फिर एक दिन

१. प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, पृ० ६३६

मोक्ष भी मिल जाएगा, इसके लिए उसे केवल साधना करनी होगी। कष्ट से जीवन सुधरता है, इस गुरु वाक्य की कसौटी पर प्रेमचन्द ने अपने पात्रों को बार-बार कसा है। इसीलिए उन्हें बरबस कष्टों और संकटों में डाला है, कहीं घरों को बरबाद करवाया, कहीं मृत्यु, हत्याएँ और आत्म-हत्याएँ करवाई हैं। पाप का प्रायश्चित कराने के लिए वे इसे आवश्यक समझते थे। 'निर्मला' उपन्यास का प्रारम्भ ही नायिका के पिता की मृत्यु से होता है और इसके बाद अप्रत्याशित रूप से इतने लोग मरते हैं कि लगता है जैसे प्रेमचन्द कलम नहीं कुल्हाड़ा चला रहे हैं। उन्होंने प्रायश्चित के लिए जो हत्याएँ या आत्म-हत्याएँ करवाई हैं उनका अभिप्राय आदर्श उपस्थित करना था। हो सकता है 'प्रेमचन्द' में तान्त्रिक सिद्धि के लिए अबोध तेजशंकर और प्रेमशंकर की हत्याएँ उपहासास्पद लगती हैं। वस्तुतः ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित करना, जिससे पापी को प्रायश्चित करने की प्रेरणा मिले, प्रेमचन्द को बहुत प्रिय था। किन्तु वास्तविक जीवन में कलुषयुक्त जीवन भी जीने योग्य होता है और लोग उसे जीते हैं चाहे वे उसे सुधारने के लिए जियें या गुजारने के लिए।

कष्टों और संकटों के माध्यम से आत्मशुद्धि की आग में प्रेमचन्द ने अपने नारी-पात्रों को बार-बार तपाया है। इन नारी-पात्रों में 'गबन' की जालपा, 'प्रेमाश्रम' की श्रद्धा, 'निर्मला' की निर्मला, 'कर्मभूमि' की सुखदा और मुन्नी, आदि को विशेष रूप से लिया जा सकता है। जालपा को आभूषणों की आग में तपाने और दाम्पत्य प्रेम की साधना करवाने के लिए प्रेमचन्द ने 'गबन' के कथानक को कलकत्ते तक भटकाया है। श्रद्धा अपने में एक विचित्र पात्र है। वह अपने पति को अत्यधिक प्रेम करती है किन्तु शरीरी प्रेम को माया-जाल मानती है और अपने पति से दूर रहती है। सुखदा के विलासयुक्त प्रेम के खोट को मिटाने के लिए प्रेमचन्द उसे नेत्री बना डालते हैं और तभी अमरकाँत उसे स्वीकार करता है। साधना से उपलब्ध प्रेम के पीछे प्रेमचन्द के अपने विचार थे। उनकी दृष्टि में संभवतः शिव की प्राप्ति के लिए पार्वती की तपस्या आवश्यक थी। मुन्नी के 'केस' में तो ऐसा भी न हो सका। वह गोरों द्वारा सतीत्व-भ्रष्ट होकर चमारों के गाँव में बहू बनना स्वीकार कर लेती है, पर पागलों की तरह पीछे-पीछे फिरने-मरने वाले पति के पास वापस नहीं लौटती। यह ठीक है कि आदर्श रखना अनुचित नहीं और नारियों में भी आदर्शों का अभाव नहीं होता, किन्तु 'विकास क्रम में नारी पुरुष से आगे है।[1] यह नारी को मापने की कसौटी नहीं होनी चाहिए। नारी नारी भी है। उसके ऊपर बहुत से तथाकथित आदर्श सामंत-युगीन समाज ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए भी थोपे हैं। वे आज भी उसी तरह थोपे जाते रहें, यह सहज स्वाभाविक नारीत्व के प्रति सरासर अन्यायपूर्ण होगा। आदर्शवाद का ही एक विचित्र प्रभाव यह है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रेमी-प्रेमिकाओं में खुलकर प्यार नहीं होता, होता है तो

---

१. कर्मभूमि, पृ० २२२

विवाह नहीं होता। एक से विवाह और दूसरे से प्यार दिखाकर संभवतः वे अशरीरी प्रेम की महत्ता को स्थापित करना चाहते थे। इसीलिए वे चुपके से उनके कानों में यह गुरु-मन्त्र फूँक देते हैं। 'अब तक तुम अपने लिये जीती थीं, अब दूसरों के लिए जिओ।'[1] इसीलिए उनकी नारियाँ सतीत्व के बोझ से लदी हुई, पुरुष की यातनाओं को स्वीकारती हैं।

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द ने नारी के दुर्बल पक्ष को भी साहित्य में समादर दिया है, किन्तु वेश्या समस्या जैसी समस्याओं की जड़ में वे नहीं जा सके। 'वेश्या', 'दो कब्रें', 'आगा पीछा' आदि कहानियों में प्रेमचन्द ने वेश्याओं के पुनर्वास की समस्या उठाई है। 'सेवासदन' में मुख्य रूप से इस विषय की चर्चा की गई है। उनकी कहानी का एक पात्र[2] कहता है : 'चोर इसलिए चोरी नहीं करता कि चोरी में उसे विशेष आनन्द आता है बल्कि केवल इसलिए कि जरूरत उसे मजबूर करती है। जिन्दा रहना जितना ही कठिन होगा, बुराइयाँ भी उसी मात्रा में बढ़ेंगी। हमारा यह पहला सिद्धान्त होना चाहिए कि जिंदा रहना हरेक के लिए सुलभ हो।' इस कथन की सत्यता पर कोई अविश्वास नहीं कर सकता, किन्तु जिनके लिए जिन्दा रहना सुलभ न हो, वे सब चोर नहीं हो जाते। विशेषतः 'सेवासदन' की सुमन के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'मैं गाऊँगी, नाचूँगी पर अपने को भ्रष्ट नहीं होने दूँगी'—जो वेश्या यह कह सकती है उसे जीवन के अभावों ने वेश्या बनने के लिए बाध्य किया हो, यह नहीं माना जा सकता। और फिर सुमन के मुँह से यह कहलाकर क्या प्रेमचन्द यह कहलवाना चाहते हैं कि इस तरह से वे वेश्याओं को भ्रष्ट होने से बचा लेंगे! सुमन प्रेमचन्द की जिस भाषा में बोलती है उससे लगता है कि वह वेश्यावृत्ति के लिए समाज द्वारा बाध्य थी—सिद्धान्त रूप में इस बात में कोई विरोध नहीं, किन्तु उपन्यास में उसे जिन घटनाओं के बीच रखा गया है, उससे बात सिद्ध नहीं होती। इसी तरह वेश्याओं को शहर से बाहर रखो, उनके लिए सेवासदन खोलो, कन्याओं को शिक्षा या धार्मिक शिक्षा दो, उन्हें गृहिणी के आदर्श समझाओ, अनमेल विवाह न करो, दहेज न लो—अपने में ये हल बुरे नहीं, पर समस्या की जड़ भी नहीं। समस्या के आर्थिक और मनोवैज्ञानिक पहलू के वास्तविक स्वरूप पर संभवतः प्रेमचन्द ने यथोचित ध्यान नहीं दिया।

प्रेमचन्द को कुछ विषय बहुत प्रिय थे, उदाहरण के लिए विधवाएँ। उनका साहित्य विधवाओं से भरा पड़ा है। वागीश्वरी (कायाकल्प), कल्याणी (निर्मला), रेणुका (कर्मभूमि), गायत्री (प्रेमाश्रम), मानी (धिक्कार), कैलाशकुमारी (नैराश्यलीला), झुनिया (गोदान), सुभागी (सुभागी), भुलिया (अलगोमन्या), प्यारी (स्वामिनी), पूर्णा (प्रतिज्ञा), रतन (ग़बन) के नाम विशेष रूप से लिये जा

१. सेवासदन, पृ० २४०
२. रामेन्द्र, मानसरोवर भाग ४, पृ० ४६

सकते हैं। इनमें से कुछ को प्रेमचन्द ने सप्रयास विधवा बनाया है। 'निर्मला' का प्रारम्भ ही कल्याणी पर लादे गये वैधव्य से होता है। 'प्रतिज्ञा' में हम अमृतराय को विधवा से ही विवाह करने की प्रतिज्ञा करते पाते हैं। इसी प्रकार अमरनाथ विधवा-विवाह-विषयक भाषणों से प्रेरित होकर विधवाओं के लिए सेवा-व्रत धारण कर लेते हैं और विधवा पूर्णा पीपल के पेड़ के नीचे कृष्ण मन्दिर बनाकर भक्ति में लीन दिखाई देती है। 'ग़बन' की रतन वृद्ध-विवाह के कारण विधवा बनती है, जिसको प्रेमचन्द ने, अन्त में सम्बन्धियों द्वारा सम्पत्ति से वंचित होते दिखाकर विपत्तियों के शिखर पर पहुँचाया है और फिर निराश्रित करके कहा : 'आज उसके वास्तविक जीवन का प्रारम्भ हुआ।' 'प्रेमाश्रम' की गायत्री एक समर्थ पात्र है, किन्तु प्रेमचन्द उसके अन्तर्द्वन्द्व को प्रस्तुत नहीं कर पाये। 'नैराश्यलीला, की कैलाशी गायत्री की तरह मरती नहीं, किन्तु प्रेमचन्द उसका भी पुनर्विवाह नहीं करवा पाये। उसका सारा विद्रोह विवाह को 'स्त्री का बलिदान' मानने के कारण दुर्बल पड़ जाता है।

वैवाहिक जीवन को प्रेमचन्द ने आदर्शों की पवित्रता प्रदान की है। इस दृष्टि से केवल 'नया विवाह' कहानी प्रेमचन्द के लिए साहसपूर्ण रचना मानी जा सकती है, जिसमें नायिका रसोइये जुगल से प्यार करने लगती है। स्पष्टतः प्रेमचन्द के सामने पातिव्रत—लादे गये पातिव्रत—का खोखला आदर्श रहा होगा, जिसकी रक्षा स्थूल आवश्यकताओं को भुलाकार नहीं की जा सकती। किन्तु वास्तविक समस्या का हल न व्यभिचार में है, न संयम और भक्ति में। जहाँ अनमेल विवाह के कारण लेखक ने कुछ समस्याएँ प्रस्तुत की हैं, वे अपने में ही हास्यास्पद लगती हैं। उदाहरण के लिए 'निर्मला' का वृद्ध शक्की पति स्वयं अपने पुत्र पर आसक्त मान लेता है। इसमें संदेह नहीं कि असाधारण परिस्थितियों में यह असम्भव नहीं, किन्तु प्रेमचन्द उपन्यास में उसके लिए आवश्यक मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक धरातल प्रस्तुत करने में असफल रहे हैं। विवाह को आत्मिक बंधन मानकर चलना भी किसी समस्या का हल नहीं है। 'ग़बन' की रतन अपने बूढ़े वकील पति को 'पति सा प्रेम नहीं बल्कि पिता-सा स्नेह' करती हुई जालपा से कहती है : 'मुझे तो कभी यह खयाल भी नहीं आया बहन कि मैं युवती हूँ और ये बूढ़े हैं' प्रेमचन्द की यह सलाह अगर बूढ़े पतियों की नवयुवती पत्नियाँ मान लें तो अनमेल विवाह की समस्या रह ही कहाँ जाती है।

विधवा विवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि के समान ही छुआछूत प्रेमचन्द के युग की एक बहुत बड़ी समस्या थी। उस युग में राष्ट्रीय पुनर्जागरण की जो चेतना महात्मा गांधी ने फैलाई थी उससे नारी, हरिजन और किसान सबसे अधिक अनुप्राणित हुए। प्रेमचन्द ने समाज के चिर-उपेक्षित इन तीनों वर्गों के घाव दिखाये हैं और उन पर उस युग की गांधीवादी मरहम का प्रयोग किया है। हरिजनों

के लिए उन्होंने मन्दिर-प्रवेश, [illegible] आदि [illegible] मान ली। 'कर्मभूमि' में हरिजन [illegible] की सारी चेतना ऊपर से थोपी हुई है, जिसकी संयोजना सुखदा को नेतृत्व दिलाने के लिए की गई प्रतीत होती है। आन्दोलन सहज स्वाभाविक रूप से नहीं उभरता, वरन् ऊपर से टपका हुआ लगता है। 'दूध का दाम' जैसी कहानियों में दर्द अवश्य है, लेकिन आक्रोश नहीं।

जहाँ तक किसानों का प्रश्न है, प्रेमचन्द ने उनकी गरीबी, शोषण, नैतिक जीवन और मनोवैज्ञानिक स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है। 'रंगभूमि' और 'गोदान' इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचन्द औद्योगीकरण के विरोध में प्रतीत होते हैं। वे औद्योगीकरण को सम्भवतः देश की प्रगति का आधार स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उसे वे नैतिक पतन का माध्यम मानते हैं। आज की सभ्यता को महाजनी सभ्यता कहकर उन्होंने उस पर तीव्र व्यंग्य किये हैं। किसान को मजदूर में बदल देने वाले औद्योगीकरण के सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट थे : आप निस्सन्देह कई हजार कुलियों को काम पर लगा देंगे पर ये मजूर अधिकांश किसान होंगे। मैं किसानों को कुली बनाने का कट्टर विरोधी हूँ।''[1] इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु क्या इसलिए उद्योगों का विरोध किया जाना चाहिए। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने किसानों और जमींदारों का जो संघर्ष दिखाया है, उसमें कई तेजस्वी कृषक-चरित्र उभरते हैं। मायाशंकर की यह उक्ति 'भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है' प्रकट करती है कि प्रेमचन्द तभी ज़मींदारी-उन्मूलन के स्वप्न देखने लगे थे। उनकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि ज़मींदारी का विरोध करते हुए भी जमींदारों की चारित्रिक उपलब्धियों के प्रति उन्होंने सहसा आँख नहीं मूँदी। किसानों की आर्थिक समस्या के जलते-बलते सवाल 'गोदान' में उठाये गए हैं, जहाँ एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था का सजीव चित्रण है तो दूसरी ओर किसान और मज़दूर की निरन्तर घढ़ती हुई दीनता की दारुण यंत्रणा की पुकार। उसमें हाड़-माँस के अवशेष भारतीय किसान का जो चित्र प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किया, परिवर्तित जीवनदर्शन से प्रेरित होकर उस पर आदर्श का बोझा लादना संभवतः उन्हें सह्य न हुआ। इतनी लम्बी यात्रा करने के पश्चात् प्रेमचन्द को आश्रमों और सदनों की दीवालें खोखली नज़र आने लगीं।

प्रेमचन्द अपनी प्रारंभिक रचनाओं में शुद्ध गांधीवादी थे, किन्तु बाद में अन्तर इतना बढ़ता गया कि संभवतः किसी भी राजनैतिक वाद में उनकी आस्था न रह गई। उनकी प्रारंभ की कहानियाँ 'सुराजी' (स्वराज्यी) कहानियाँ हैं। ये राजनैतिक कहानियाँ कांग्रेस आन्दोलन, शराबबन्दी, पिकेटिंग, स्वदेशी, जेल, सांप्रदायिक दंगों आदि से सम्बन्धित हैं। आज की परिस्थितियों में ये आदर्शवादी और भावुकतापूर्ण

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० १२७-१२८

लगती हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द के राष्ट्रीय चरित्र चाहे वे कहानियों में हों या उपन्यासों में, दुर्बल हैं; विशेषतः स्त्री-चरित्र तो प्रेमचन्द की अपनी भावुकता की प्रतिमूर्तियाँ मात्र बनकर रह गये हैं। उनके स्त्री-पात्र अकस्मात् मैदान में आते हैं और आँधी की तरह मँडराकर चले जाते हैं। पुरुष पात्रों में देश-भक्ति की भावना के मूल में कहीं आवेश दिखाई देता है, कहीं विवशता।

राष्ट्रीय समस्याओं में हिन्दू-मुस्लिम एकता को विशेष महत्व देते हुए प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में समयोचित आदर्श प्रस्तुत किए। वे साम्प्रदायिकता के लिए संस्कृति की संकीर्ण व्याख्या को उत्तरदायी मानते थे। इसीलिए संभवतः हिन्दुओं को मुस्लिम संस्कृति से परिचित कराने के लिए उन्होंने 'कर्बला' नाटक लिखा, जिसमें हिन्दू पात्रों का समावेश भी किया; किन्तु उनके आदर्श आदर्श ही रहे—हिन्दू तो रहे, मुसलमान भी उनसे खुश न हुए ! प्रेमचन्द ने फिर भी आदर्श को ईमानदारी से अपने उपन्यासों में निभाया। उनमें हिन्दू मुसलमान एक-दूसरे को दिल-जान से दोस्त बनाते हैं, एक-दूसरे की मदद करते हैं और कर्त्तव्य निभाते हैं। प्रेमचन्द हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना से प्रेरित होकर विवाहित अमरकान्त को सकीना से प्यार करते हुए दिखाते हैं (पर विवाह नहीं करवाते),ठीक उसी तरह जिस तरह रंगभूमि' में ईसाई लड़की सोफिया विनय से प्यार करती है और तुष्टि के लिए ईसा और कृष्ण में समानता के आधार ढूँढ़ा करती है। यह उनकी विशेषता थी कि फकीरों, पंडों, पुरोहितों वाले हिन्दू समाज की सड़ाँध को देखकर उन्होंने नाक पर रेशमी रूमाल नहीं रखा, बल्कि उसके वीभत्स दृश्य दिखाते चले। मुसलमानों की दुर्बलताओं पर प्रहार करना उनका ध्येय नहीं रहा; फिर भी दोनों के धार्मिक आवेश को उन्होंने निष्पक्ष दृष्टि से देखा है। यह दूसरी बात है कि उनके मुसलमान पात्र आदर्शवादी हैं। 'मन्दिर और मस्जिद' नामक कहानी में चौधरी इशरत अली प्रातःकाल नित्य गंगा में स्नान करते हैं; गऊ के गोबर से घर लीपते हैं और उनके यहाँ बगीचे में एक पंडित बारहों महीने दुर्गा पाठ भी करते हैं। इसी प्रकार 'मुक्तिधन' कहानी का दाऊदयाल महाजन ज़िन्दगी भर के लिए एक मुसलमान का कृतज्ञ हो जाता है जो अपनी गाय को किसी कसाई को बेचने के बजाय पाँच रुपये कम में उसे बेच देता है। ऐसे चरित्र काल्पनिक ही हों, ऐसी बात नहीं, किन्तु वे अपने रंग-ढंग में साधारण मानव को पराये-से लगते हैं। जहाँ तक हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रश्न है, इस विषय पर आदर्शवादी ढंग से ही सोचा जा सकता है, जैसे कि 'कायाकल्प' में यशोदा नंदन की पत्नी बागेश्वरी सोचती है : "नित्य समझाती रही इन झगड़ों में न पड़ो। न मुसलमानों के लिए दुनिया में कोई दूसरा ठौर-ठिकाना है, न हिन्दुओं के लिए। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश में मरेंगे। फिर आपस में क्यों लड़ते-मरते हो ? मिल-जुलकर रहो, उन्हें बड़े होकर रहने दो, तुम छोटे ही होकर रहो।" यहाँ मिल-जुलकर रहने के सदुपदेश से किसी को विरोध नहीं हो सकता। हाँ, छोटे या बड़े होकर रहने पर आपत्तियाँ उठ सकती हैं।

कुल मिलाकर प्रेमचन्द 'गोदान' को छोड़कर आदर्शवादी ही रहे। यह सत्य है कि उनके आदर्श बदलते रहे और यदि वे अधिक जीवित रहते तो सम्भवतः उनमें वह क्षमता थी कि वे अपने साहित्य में कोई मौलिक जीवन-दर्शन दे पाते, फिर भी उन्होंने जो आदर्श प्रस्तुत किए, वे युग-चेतना और गांधीवादी विचारधारा की देन थे। गांधीवाद की सीमाओं के समान ही प्रेमचन्द के आदर्शों की एक परिधि है जिसके बाहर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी। धीरे-धीरे वादों का पर्दा उनकी दृष्टि के ऊपर से हटता जा रहा था, किन्तु उससे पहले ही उन्होंने आँखें मूँद लीं। फिर भी इस बात में कोई संदेह नहीं कि भारतीय समाज का ऐसा कोई चितेरा हिन्दी में नहीं हुआ है। 'भविष्य में शायद ग्रामों का इतिहास उनके उपन्यासों और कहानियों से ही पढ़ा जाय'—यह असंभव नहीं। किन्तु इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि इतिहास साहित्य नहीं, वह तथ्यों का समग्र रूप भले ही हो। स्थूल सामाजिक तथ्य की दृष्टि से प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का महत्व संभवतः काल भी नहीं हटा सकता, किन्तु किसी भी साहित्य की अमरता उसके ऐतिहासिक तत्व पर नहीं, वरन् शाश्वत मूल्यों पर निर्भर करती है। वैसे शाश्वत मूल्यों और सामयिक साहित्य के चिरंतन होने में कोई विरोध नहीं। सामाजिक और सामयिक ज्वलंत प्रश्नों पर लिखा गया साहित्य भी शाश्वत मूल्यों से परिपूर्ण हो सकता है। प्रेमचन्द ने भारतीय समाज के विशाल धरातल को कुरेदा है, किन्तु भावना के बीजवपन वे नहीं कर पाये। वस्तु जगत् से भाव जगत् की अंतरतम गहराइयों में अगर वे उतर पाते तो निश्चय ही उनके हाथ केवल चरित्र नहीं, बल्कि मानव-मूल्य आते। प्रेमचन्द में उस चिन्तन का अभाव है, जो साहित्य को अमरता प्रदान करता है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वे हिन्दी-साहित्य में कबीर, तुलसी जैसे महान् साहित्यकारों की लोक-मंगल की परम्परा में आते हैं। हम उनको प्रथम कोटि का साहित्यकार मानने को तैयार न हों, इसके लिए गुंजायश है; किन्तु उनकी विराट् मानवता, संवेदना और सदाशयता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता। एक बात और, प्रेमचन्द के साहित्य का सही मूल्यांकन उनके युग को सामने रखकर ही किया जा सकता है, क्योंकि युग की सीमाएँ ही प्रेमचन्द की सीमाएँ हैं।

●

: ११ :

प्रेमचन्द के उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

डॉ० निर्मला

प्रेमचन्द भारतेन्दु एवं प्रसाद की भाँति युग-प्रवर्तक एवं युग-नियामक साहित्यकार थे। उन्होंने हिन्दी-कविता के क्षेत्र में कोई योगदान नहीं दिया, किन्तु हिन्दी-उपन्यास एवं कहानी के क्षेत्र में उनका योगदान अभूतपूर्व है। उन्होंने हिन्दी-गद्य के विविध रूपों, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि पर लेखनी चलाई, किन्तु उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में उनकी विशेष रुचि एवं गति थी। उनके उपन्यासों ने हिन्दी-उपन्यास को जो नवीन मोड़ एवं गति प्रदान की, उसे लक्षित करके आलोचकों ने उन्हें उपन्यास-सम्राट् की उपाधि से विभूषित किया है। उपन्यास-क्षेत्र में उनकी इतनी ख्याति का कारण यह है कि उन्होंने अपने समय के भारतीय समाज को उसकी समस्त कटुताओं एवं विषमताओं सहित चित्रित किया, और साथ ही इन विषमताओं के निराकरण का मार्ग भी सुझाया।

प्रेमचन्द के उपन्यासों की आलोचना करते समय प्रायः आदर्श तथा यथार्थ की चर्चा हुआ करती है। उनके उपन्यासों की सुधारवादी प्रवृत्ति को लक्षित करके कतिपय आलोचक उन्हें आदर्शवादी उपन्यासकार मानते हैं। इसके विपरीत अन्य विद्वानों ने उनके उपन्यासों में यथार्थ एवं आदर्श का यथोचित समन्वय देखकर उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासकार कहा है। कोई भी श्रेष्ठ साहित्य न तो पूर्णतः यथार्थवादी होता है और न सर्वांशेन आदर्शवादी। इसी भाँति उपन्यास में भी यथार्थ अथवा आदर्श का अतिरंजित चित्रण वरेण्य नहीं हो सकता। प्रेमचन्द ने स्वयं उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र' कहा है, किन्तु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि नग्न यथार्थ समाज का पथ-प्रदर्शक न होकर उसका घातक है। उपन्यासकार का यथार्थ जीवनगत यथार्थ से स्पष्टतः भिन्न होता है। उपन्यासकार के यथार्थ में उसकी भावना, कल्पना तथा धारणा का स्पर्श रहता है। उपन्यास-लेखक एक कलाकार है, अतएव वह जीवन को उसके अनगढ़ एवं अनावृत रूप में चित्रित न करके उसमें

अपनी भावना के रंग भरकर उसे अधिक आकर्षक रूप में अंकित करता है। साहित्य में साहित्यकार का आदर्श जब यथार्थ का सहायक एवं पोषक होकर आता है, तभी वह समाज के लिए कल्याणकारी एवं ग्रहणीय हो सकता है; किन्तु जब यही आदर्श प्रमुख स्थान प्राप्त कर लेता है, तब वह अस्वाभाविक एवं अत्यधिक मुखर होने के कारण सहजग्राह्य नहीं बन पाता। लेखक की सफलता इसीमें है कि वह आदर्श एवं यथार्थ में ऐसा सहज सम्बन्ध स्थापित करे कि उसका आदर्श यथार्थ से अभिन्न होकर स्वाभाविक लगने लगे। प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य में इसी समन्वय की चेष्टा मिलती है।

आदर्श एवं यथार्थ के सम्बन्ध में अपने मत की अभिव्यक्ति करते समय प्रेमचन्द ने यह प्रतिपादित किया है कि मानव-चरित्र में उज्ज्वलता के साथ-साथ कालिमा भी रहती है और लेखक को मनुष्य के यथार्थ चित्रण के लिए उसके तमावृत्त पक्ष का उद्घाटन भी करना पड़ता है; किन्तु कालिमायुक्त पक्ष का आत्यन्तिक चित्रण अवांछनीय है, क्योंकि इससे समाज को कोई सत्प्रेरणा प्राप्त नहीं हो सकती। मानव-दुर्बलताओं के सार्वत्रिक एवं अतिरंजित वर्णन को उन्होंने नग्न यथार्थ की संज्ञा दी है और उसे मानवमात्र के लिए अहितकर मानकर साहित्य में उसका निषेध किया है। उदाहरणस्वरूप उनकी ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—"यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।"[१]

इन पंक्तियों के आलोक में कहा जा सकता है कि आलोच्य लेखक ने यद्यपि यथार्थवाद का निषेध नहीं किया है, फिर भी उन्हें यथार्थ का अतिचित्रण काम्य नहीं है। उनकी धारणा है कि इस प्रकार का यथार्थ हमारे हृदय में जीवन के प्रति आस्था एवं विश्वास उत्पन्न न करके हमें अनास्थावादी एवं निराशावादी बना देता है। 'कायाकल्प' में चक्रधर के द्वारा उन्होंने अपने इसी मन्तव्य की अभिव्यक्ति कराई है—'यथार्थवाद स्तुत्य है, परन्तु नग्न यथार्थता घृणित है।' वस्तुतः उनकी इस मान्यता से विरोध नहीं किया जा सकता। प्रेमचन्द मानव-दुर्बलताओं का उतना ही चित्रण पर्याप्त समझते हैं, जितने से मनुष्य की जीवन के प्रति आस्था एवं आशा बनी रहे। यथार्थ की भाँति आदर्श के प्रति भी उनका दृष्टिकोण अतिवादी नहीं है। उनकी स्थापना है कि—"यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्त्ति मात्र हों—जिनमें जीवन न हो।"[२] इस उक्ति से स्पष्ट है कि

---

१. कुछ विचार, प्रेमचन्द, पृ० ४३

१. वही, पृ० ४४

एक सफल लेखक को अपनी कृति में आदर्श एवं यथार्थ का समन्वय तो करना चाहिए, तथापि उसे इस विषय में सतर्क रहना चाहिए कि उसका आदर्श कल्पना की उड़ान-मात्र न होकर यथार्थ की ठोस भूमि पर आधारित हो और सहज विश्वसनीय हो। प्रेमचन्द की दृष्टि में वही स्थान सर्वोत्कृष्ट है, जिसमें आदर्श एवं यथार्थ का यथोचित समन्वय हो। ऐसी कृति उनके अनुसार 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कहलाएगी। उनके शब्दों में—"वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की दृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं हैं, वह दो कौड़ी का है।"[1] प्रेमचन्द का यह सिद्धान्त उनकी समन्वयात्मिका बुद्धि का परिचय देता है, और सिद्धान्ततः इस मत से विरोध भी नहीं किया जा सकता। साहित्यकार न तो प्रत्यक्ष उपदेष्टा ही हो सकता है और न ही वह आदर्श से पल्ला छुड़ाकर समाज का हित करने में सफल हो सकता है, अतएव जीवन के प्रति साहित्यकार का दृष्टिकोण न तो एकान्त वस्तुगत होना चाहिए और न ही सर्वथा व्यक्तिगत अथवा भावगत।

आलोचकों का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद विषयक मत

प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य की आलोचना करते समय हिन्दी के कतिपय समीक्षकों ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार विश्लेषण एवं विवेचन किया है, अतः यहाँ उनके एतद्विषयक मत को जान लेना अप्रासंगिक न होगा। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रेमचन्द द्वारा व्यवहृत 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' शब्द का स्पष्टतः विरोध करते हुए लिखा है—"कोई कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी ही। ये दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराएँ और कला-शैलियाँ हैं। इनका मिश्रण किसी एक रचना में संभव नहीं। साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती।...आदर्श और यथार्थ को मिलानेवाला कोई पृथकवाद नहीं है। यह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दो परस्पर विरोधी जीवन-दर्शनों और कला-परिपाटियों में एकत्व की कल्पना ही कैसे की जा सकती है।"[2] यह तो मान्य है कि आदर्शवाद एवं यथार्थवाद दो पृथक विचारधाराएँ हैं, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यथार्थ का चित्रण करनेवाला लेखक यथार्थ समस्याओं का आदर्शवादी सुझाव नहीं दे सकता और आदर्शवादी लेखक जीवन का वस्तुपरक अथवा यथार्थवादी चित्रण न करके सदैव उसका कल्पनापूर्ण अथवा आदर्शमय वर्णन

---

१. कुछ विचार, प्रेमचन्द, पृ० ४४

२. प्रेमचन्द—साहित्यिक विवेचन, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० २१

ही करेगा। किसी भी कृति में आदर्श एवं यथार्थ दोनों प्रमुख नहीं होंगे। इनमें से एक का चित्रण प्रमुख होगा तथा दूसरा उसके सहायक रूप में आएगा, किन्तु सदैव यह संभव नहीं है कि कोई रचना आत्यन्तिक रूप से केवल आदर्शवादी अथवा यथार्थवादी हो। अतः वाजपेयीजी की उक्त मान्यता से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता।

डॉ० नगेन्द्र की आदर्श एवं यथार्थ विषयक उक्ति इस प्रकार है—"सारांश यह है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है। वह कल्पना विलासी और स्वप्नद्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार जगत की समस्याओं के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है। वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है, व्यावहारिक आदर्शवाद है। परन्तु यथार्थवाद नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है, वह यथार्थ ही हो।"[1] इन पंक्तियों में प्रत्यक्ष रूप से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की व्याख्या नहीं की गयी है, किन्तु उस उक्ति से यह ध्वनि निकलती है कि जिसे प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है संभवतः उसे ही डॉ० नगेन्द्र ने व्यावहारिक आदर्शवाद की संज्ञा दी है, क्योंकि व्यावहारिक आदर्शवाद का निरूपण करनेवाला लेखक यथार्थ की एकान्त उपेक्षा नहीं कर सकता। अतः यह कथन असंगत न होगा कि डॉ० आदर्श एवं यथार्थ से सम्बद्ध मत एकांगी न होकर उनके स्वस्थ दृष्टिकोण का बोधक है। कतिपय अन्य आलोचकों ने भी स्वस्थ साहित्य के लिए किसी एक ही प्रवृत्ति के अतिवादी चित्रण का निषेध करके शब्द-भेद से प्रेमचन्द द्वारा कथित 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का समर्थन किया है। इस प्रयोग में डॉ० त्रिभुवनसिंह की यह धारणा पठनीय है—"किसी भी वाद की पराकाष्ठा साहित्य के लिए अक्षम्य है। यदि काल्पनिक आदर्शों तथा स्वप्निल तत्त्वों का ही एकमात्र प्रवेश साहित्य के अन्दर कर दिया जाय तो वह मानव सम्पर्क से इतनी दूर की वस्तु हो जायगी कि हम किसी भी प्रकार की प्रेरणा उससे न प्राप्त कर सकेंगे और न वह साहित्य ही अधिक दिन तक टिकाऊ हो सकता है। कोई भी साहित्य तभी स्थायी होगा जबकि उसका सम्पर्क मनुष्य के यथार्थ जीवन से होगा।"[2]

प्रेमचन्द के उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थ

प्रेमचन्द साहित्य के आलोचकों को सुविधा की दृष्टि से दो श्रेणियों में

१. काव्य-चिन्तन, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ९७
२. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, डॉ० त्रिभुवनसिंह, पृ० ११३

विभाजित किया जा सकता है – प्रथमवर्ग प्रेमचन्द को पूर्णतया आदर्शवादी उपन्यासकार मानता है, द्वितीय वर्ग के मतानुसार वह आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इस बात की घोषणा की है कि प्रेमचन्द आदर्शवादी लेखक हैं और उनके उपन्यासों की घटनाएँ तथा चरित्र सभी आदर्श-प्रेरित होते हैं। उदाहरणस्वरूप ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—"प्रेमचन्द के उपन्यासों में सबसे प्रमुख विशेषता है उनकी आदर्शवादिता। चरित्रों और उनकी प्रवृत्तियों का निर्देश करने में वे आदर्शोन्मुखी हैं। घटनावली का निर्माण और उपसंहार करने में आदर्श का सदैव ध्यान रखते हैं। उद्देश्य की अत्यधिक प्रमुखता प्रेमचन्द जी को उपदेशात्मक लेखक की श्रेणी में पहुँचा देती हैं।"[1] इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यासों के पात्र उपन्यास के अन्त में अपनी दुर्वृत्तियों का परित्याग करके आदर्शवादी बन जाते हैं और घटनाक्रम का झुकाव भी आदर्श की ओर होने लगता है, किन्तु उनके पात्र-नियोजन एवं समस्याओं के चित्रण में जो यथार्थता विद्यमान है उससे सहसा मुख नहीं मोड़ा जा सकता। आदर्श की प्रमुखता के कारण कहीं-कहीं प्रेमचन्द समस्याओं का व्यावहारिक एवं स्वाभाविक समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाए हैं, किन्तु उनके उपन्यासों में सर्वत्र सुधारवादी प्रवृत्ति ही लक्षित नहीं होती। कहीं-कहीं उनका आदर्शवाद यथार्थ का बाधक एवं अस्वाभाविक बनकर सामने आया है, इसी को लक्षित करके डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं—"अपने आदर्शवाद के कारण कहीं-कहीं वह समस्याओं का उचित निराकरण नहीं कर पाते; उनकी भावुकता उन्हें एक कल्पित समझौता ढूँढ़ निकालने के लिए बाध्य करती है। कहीं-कहीं समस्याओं को उनकी पूरी जटिलता के साथ वे पेश भी नहीं करते।"[2] प्रेमचन्द ने उपन्यासों के पूर्वार्द्ध में मानव-समाज एवं चरित्र का उसके समस्त गुणों तथा दुर्बलताओं सहित यथातथ्य अंकन किया है, किन्तु अंत तक पहुँचते-पहुँचते सदपात्रों के सम्पर्क से अथवा प्रभाव से असत् पात्र भी आदर्शपथ के पथिक बन जाते हैं, अथवा अपनी कुचेष्टाओं का प्रायश्चित करने के लिए आत्महत्या कर लेते हैं। समस्याओं का ऐसा पूर्वनियोजित आदर्शवादी समाधान आज के बुद्धिवादी पाठक एवं आलोचक की तर्कबुद्धि का समाधान नहीं कर पाता। उदाहरणार्थ प्रो० आनन्दनारायण शर्मा के 'प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' शीर्षक लेख का यह अंश द्रष्टव्य है—"गोदान को छोड़कर प्रेमचन्द के सभी उपन्यास शत-प्रतिशत आदर्शवादी हैं। यह ठीक है कि उनकी कथावस्तु नैतिक और यथार्थ जीवन-संग्रहीत है और उनके पात्र हमारे अतिपरिचय की सीमा में हैं; पर जिस विशेष ढंग से उनका नियोजन हुआ है, उसमें यथार्थवाद के लिए बहुत कम अवकाश रह जाता है। बल्कि कहीं-कहीं तो

१. प्रेमचन्द—साहित्यक विवेचन, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १४-१५
२. प्रेमचन्द, डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० १३

जानबूझकर प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में ऐसे अप्राकृतिक तत्वों का समावेश कर दिया है (जैसे 'कायाकल्प' और 'रंगभूमि' में) कि वे आदर्शवादी ही नहीं, अविश्वसनीय भी हो गई हैं। इसी एकान्त आदर्शवादी और काल्पनिक मनोराज्य के चित्रण के कारण प्रेमचन्द के अधिकांश प्रारम्भिक उपन्यास प्रभावहीन हो गए हैं और वे हमारी आलोचक बुद्धि को संतोष नहीं दे पाते।"[1] संक्षेपतः कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने घटना तथा पात्र के चित्रण में यथार्थवाद का अवलम्बन तो लिया है, किन्तु उन पर उनका सुधारवादी दृष्टिकोण ही हावी रहा है, जिसके फलस्वरूप यथार्थ को आघात पहुँचा है और वे मानव-चरित्र का यथावत् चित्र अंकित करने के स्थान पर उसका आदर्श एवं भावात्मक चित्र अंकित करने के लिए बाध्य हो उठे हैं। उनकी आदर्शवादी चिन्ताधारा कहीं-कहीं उनकी दुर्बलता भी बन गई है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्रेमचन्द सैद्धान्तिक रूप से 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के पोषक होते हुए भी व्यावहारिक रूप में आदर्शवादी उपन्यासकार हैं। इसके विपरीत आलोचकों का दूसरा वर्ग उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासकार मानने के पक्ष में है और उसकी स्थापना है कि प्रेमचन्द की रचनाएँ आदर्श एवं यथार्थ के समन्वित रूप को लेकर चली हैं और उनका आदर्श यथार्थ से असम्पृक्त न होकर उसी पर आधारित है। इस प्रसंग में डॉ० राजेश्वर गुरु, डॉ० त्रिभुवनसिंह तथा प्रो० जनार्दन झा की निम्नलिखित उक्तियाँ पठनीय हैं—

(अ) "प्रेमचन्द यथार्थ भी चाहते हैं और आदर्श भी। दोनों के बिना साहित्य उपयोगी नहीं होगा, लेकिन ये दोनों अतियों से अपने को बचाये रखना चहते हैं। अब सोचना यह है कि उनका जोर आदर्श और यथार्थ में से किस पर अधिक है। आदर्शोन्मुख यथार्थ की चर्चा करने के कारण जान पड़ता है कि प्रधानतः वे यथार्थ पर अपनी दृष्टि रखे हैं। यथार्थ को जीवन और समाजपोषी बनाने के लिए वे आदर्शों का संकेत करते चलते हैं।······साहित्यकर्म में प्रेमचन्द यथार्थ का चित्रण करते हुए यथार्थ समस्याओं का आदर्शवादी हल देने चले हैं।"[2]

(अ) "उनके सामने जीवन कैसा है, यह समस्या उतनी बड़ी नहीं थी जितनी कि जीवन कैसा होना चाहिए। यही कारण है कि प्रेमचन्द जी की दृष्टि यथार्थवादी होते हुए भी आदर्श की ओर उन्मुख थी।"[3]

(इ) "वास्तविकता के उपकरणों का चयन करते समय ये सदैव इस बात का ध्यान रखते हैं कि वे इनकी रचनाओं को अश्लील या कुरुचिपूर्ण बनानेवाले न हों। साथ ही, अपने आदर्शवाद को भी ये इतनी ऊँचाई पर रखकर नहीं चलते कि उसके साथ वास्तविकता का कहीं मेल न हो सके। 'है' और 'होना चाहिए' को

१. हिन्दी उपन्यास—सिद्धान्त और विवेचन, (संपादक श्री महेन्द्र) पृ० १११
२. प्रेमचन्द—एक अध्ययन, डॉ० राजेश्वर गुरु, पृ० ६४-६५
३. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद डॉ० त्रिभुवनसिंह, पृ० ११२

मिलाकर ही ये अपनी कला का निर्माण करते हैं। ये तथ्यवादी भी हैं आदर्शवादी भी।"[1]

इन उक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में ऐसे यथार्थ का निरूपण किया है जो समाज का पोषण करने में समर्थ हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हें यथार्थ में भावना एवं आदर्श का समावेश करना पड़ा है। जिस यथार्थ के द्वारा समाज में विकृति एवं कुरुचि का प्रसार हो वह यथार्थ उनकी दृष्टि में विगर्हणीय है। इसीलिए उन्होंने यथार्थ में यत्र-तत्र आदर्शवादी रंग भर दिए हैं। उनकी दृष्टि जितनी सामाजिक असंगतियों एवं विषमताओं पर केन्द्रित थी, उससे कहीं अधिक वह उन विषमताओं के उन्मूलन की ओर उन्मुख थी। यही कारण है कि उनके उपन्यासों का आदर्शवाद कहीं-कहीं उन्हें उपदेशक अथवा समाज-सुधारक के पद पर अधिष्ठित कर देता है और फलस्वरूप उनके कलाकार की हत्या होती जान पड़ती है। इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता कि प्रेमचन्द के उपन्यासों का आदर्श यथार्थ से एकदम विच्छिन्न अथवा असम्पृक्त नहीं है, फिर भी 'सेवासदन' में सेवासदन की स्थापना द्वारा वेश्यावृत्ति का अन्त, 'प्रेमाश्रम' में प्रेमाश्रम के निर्माण द्वारा किसान-जमींदार समस्या का हल आदि ऐसे काल्पनिक आदर्श थे जिनकी यथार्थता के विषय में सन्देह होना स्वाभाविक ही है। 'गोदान' के रचनाकाल तक पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्द को स्वयं भी ऐसे कल्पित आदर्शों की अनुपयोगिता का आभास हो चुका था, इसीलिए उन्होंने इस उपन्यास में किसी कल्पित आदर्श को उपस्थित करने का प्रयास नहीं किया। वस्तुतः उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अपने उत्कृष्टतम रूप में 'गोदान' में ही अभिव्यक्ति पा सका है और यदि प्रेमचन्द कुछ समय और जीवित रहते तो उनके 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का वही रूप रहता जो 'गोदान' में उपलब्ध होता है।

प्रेमचन्द अपनी कहानियों तथा उपन्यासों दोनों में ही 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' के रूप में दृष्टिगत होते हैं, किन्तु आरंभिक कृतियों में उनका आदर्शवादी स्वर प्रमुख रहा है। इस सम्बन्ध में किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व उनके कतिपय प्रमुख उपन्यासों के कथानक और चरित्र-विकास में आदर्श अथवा यथार्थ के निरूपण पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार कर लेना उपयोगी होगा। वरदान एवं प्रतिज्ञा—'वरदान' में एक ऐसे युवक एवं युवती की दुःखमय गाथा है, जो बाल्यावस्था में साथ-साथ खेलने के कारण परस्पर अनुरक्त हैं किन्तु सामाजिक स्थिति उनके विवाह में बाधक है। लड़की एक धनी के साथ ब्याह दी जाती है और फलस्वरूप विफल प्रेमी समाज-सेवा में अपने विफल प्रेम का समाधान ढूँढ़ लेता है। आरंभिक रचना होने के कारण इसमें कथावस्तु की शिथिलता, चरित्र-विकास का अभाव आदि दोष स्पष्टतः लक्षित किए जा सकते हैं। इस उपन्यास में लेखक ने

१. प्रेमचन्द की उपन्यास कला, जनार्दन झा, पृ० १४१

असफल प्रेमी को समाज सेवी बनाकर जो आदर्श उपस्थित किया है, वह सर्वथा व्यावहारिक एवं विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। 'प्रतिज्ञा' का रचनाकाल सन् १९०६ है। इसमें प्रेमचन्द ने विधवा-विवाह की समस्या को सुधारवादी ढंग से सुलझाने का प्रयास किया है। इस उपन्यास के प्रथम पक्ष में विधवा-जीवन का कारुणिक चित्र दिया गया है, और द्वितीय पक्ष में विधुर के इस निश्चय को व्यक्त किया गया है कि उसे एक विधवा से ही विवाह करना चाहिए। इस प्रकार इस उपन्यास में यथार्थ का आदर्शोन्मुख चित्रण मिलता है। इस प्रकार का आदर्श केवल काल्पनिक एवं अग्राह्य नहीं लगता, तथापि उपन्यास के अंत में कमलाप्रसाद नामक पात्र के स्वभाव में जो परिवर्तन दिखाया गया है, वह अस्वाभाविक लगता है।

सेवासदन—'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने सामाजिक समस्याओं के यथार्थपरक निरूपण के द्वारा सूक्ष्मान्वेषिणी दृष्टि का परिचय दिया है। इसमें उन्होंने पहले जीवन तथा समाज के कठोर सत्य को दिखाया है, फिर उसके स्थान पर जो आदर्श उन्हें काम्य था, उसकी ओर संकेत किया है। संक्षेप में 'सेवासदन' की कथा इस प्रकार है—पर्याप्त दहेज देने की असमर्थता के कारण सुमन नाम की लड़की का विवाह एक गरीब, अधेड़, दुहाजू से कर दिया जाता है। आर्थिक संघर्ष के कारण पति-पत्नी में नित्य झगड़ा होता है। सुमन घर से निकलकर वेश्या बन जाती है। पति स्वयं को पत्नी के वेश्या बनने के लिए दोषी मानता है। वह स्वयं साधु होकर घर से निकल पड़ता है। सुमन वेश्या रूप में भी संतुष्ट नहीं रह पाती। अन्त में सेवासदन की स्थापना के द्वारा प्रेमचन्द समाज द्वारा परित्यक्त वेश्याओं के सुधार का मार्ग खोजते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में मुख्य रूप से नारी-समस्या को लिया गया है। प्रथम समस्या विवाह की है। दहेज दे सकने में असमर्थ होने के कारण अनेक सुयोग्य तथा सुशिक्षित कन्याओं को भी कुपात्र के गले मढ़ दिया जाता है। ऐसी कन्याएँ अपनी परिस्थितियों से समझौता न कर पाने के कारण वेश्या बन जाती हैं। दूसरी समस्या है वेश्याओं की। इस समस्या पर लेखक ने विस्तार से विचार किया है और समाज को ही इसके लिए दोषी माना है। वे वेश्याओं को समाज का कलंक समझते थे और उनका अन्त चाहते थे, इसीलिए उन्होंने अन्त में सेवासदन की स्थापना द्वारा इस समस्या का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत किया है, किन्तु इस प्रकार का आदर्श व्यावहारिक आदर्श न होकर आरोपित आदर्श है, जो हमें अधिक स्पर्श नहीं करता। जितनी सफलता उन्हें समस्या के यथार्थ चित्रण में मिली है, उतनी समस्या के समाधान में नहीं। उपन्यास के अन्त में घटनाओं के साथ-साथ पात्र भी आदर्शोन्मुख दिखाई देते हैं। सुमन, गजाधर आदि ऐसे ही पात्र हैं। इन दोनों के चरित्र को उपन्यास के आरम्भ में पूरी ईमानदारी के साथ उपस्थित किया गया है, किन्तु आदर्श के आग्रह-वश इनके चरित्र में जो सुधार किया गया है 'वह तर्कशील पाठक की बुद्धि के लिए तो अग्राह्य है ही, उसके हृदय का भी स्पर्श नहीं

करता। उक्त विचारों के प्रमाणस्वरूप आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा श्री हंस-राज रहबर के मत उद्धरणीय हैं—

(अ) "गजाधर केवल साधु वेश ही नहीं धारण करता, सच्चा साधु भी बन जाता है। उसका सारा जीवन लोक-सेवा में व्यतीत होता है। साधारणतः यह परिवर्तन मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गजाधर के जीवन की पृष्ठभूमि इसके अनुरूप नहीं है। इसे हम प्रेमचन्द की आदर्शवादिता का ही परिणाम कह सकते हैं।"[1]

(आ) "सुमन के वेश्या बन जाने के बाद उसका जो दूसरा रूप हमारे सामने आता है, वह सहज विश्वासनीय नहीं है।············समाज ने जिन व्यक्तियों को इतना कुचल दिया हो, वे एकदम परिस्थितियों से इतना ऊँचा नहीं उठ सकते। सिर्फ एक सुधारवादी लेखक ही ऐसा सोच सकता है और गजाधर को गजा-नन्द बना सकता है।"[2]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए जो पथ-निर्देश किया है वह तर्कसंगत एवं ग्राह्य नहीं बन सका है।

प्रेमाश्रम—यह उपन्यास सन् १६१८-१६ के बीच में लिखा गया और सन् २२-२३ में प्रकाशित हुआ। इसमें भारत की कृषक समस्या को चित्रित किया गया है तथा इसका उद्देश्य परम्परागत समाज-व्यवस्था का उन्मूलन करके नये समाज की स्थापना करना है। इसमें किसान एवं जमींदार वर्ग का जो चित्रण किया गया है, वह कुछ अंशों में 'सेवासदन' के वर्णन से भी अधिक यथार्थ बन गया है। जमींदारी-प्रथा के कारण समाज में जो असमानता एवं अव्यवस्था फैली हुई है, उसका यथार्थ चित्रण करके लेखक ने उसका समाधान ढूँढ़ा है। इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी का लक्ष्य गाँव के तमसावृत्त वर्तमान का चित्रण करके उसके उज्जवल भविष्य की ओर संकेत करना है। प्रस्तुत उपन्यास में जमींदारों की तीन पीढ़ियों के चित्रण द्वारा सामन्तवाद, पूँजीवाद और समाजवाद का विवेचन किया गया है। प्रेमशंकर इस उपन्यास का आदर्श पात्र है जो अमेरिका से कृषिशास्त्र का अध्ययन करके लौटा है और भारत में आदर्श कृषक-समाज की स्थापना करना चाहता है। अन्त में वह इस उद्देश्य में सफल होता है। 'प्रेमाश्रम' की स्थापना के द्वारा वह दुष्ट पात्रों को भी सन्मार्ग पर ले आता है। प्रेमशंकर की सत्प्रेरणा से अनेक पात्रों के आचरण में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार 'प्रेमाश्रम' का आरम्भ यथार्थ से तथा उपसंहार आदर्श में हुआ है। उपन्यास के अन्त में अनेक दुष्ट पात्रों की या तो हत्या करा दी गई है या उनका सुधार कर दिया गया है। ज्ञानशंकर जैसे स्वार्थान्ध व्यक्ति में जो

---

१. प्रेमचन्द — साहित्यिक विवेचन, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३५
२. प्रेमचन्द, हंसराज रहबर, पृ० २२४

सुधार किया गया है, वह अस्वाभाविक है। लगता है यहाँ भी लेखक की आदर्शवादिता ने उन्हें पात्रों के हृदय-परिवर्तन के लिए बाध्य किया है। डॉ० राजेश्वर गुरु के शब्दों में—'प्रेमचन्द साहित्य उस दुकूलिनी के समान है जिसके इस ओर यथार्थ है, उस ओर आदर्श। इस छोर खड़े प्रेमचन्द उस छोर का स्वप्न सजाते हैं और समाज को उस तक पहुँचाने के लिए प्रेरित करते हैं।"[1]

निर्मला—'निर्मला' का रचनाकाल सन् १९२२-२३ है। इस उपन्यास की प्रमुख समस्या अनमेल विवाह है जिसके दुष्परिणामों को लेखक ने निर्लेप दृष्टि से न केवल देखा है, अपितु ज्यों का त्यों उपस्थित भी किया है। अन्य उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास में लेखक ने अनमेल विवाह की समस्या का कोई काल्पनिक आदर्शवादी हल देने का प्रयास नहीं किया है। इस उपन्यास में पर्याप्त दहेज न दे सकने के कारण निर्मल का विवाह एक ऐसे दुहाजू वकील (तोताराम) से कर दिया जाता है जो सम्पन्न तो है, किन्तु उसकी आयु निर्मला की आयु से तीन गुना है। तोताराम के तीन पुत्र हैं जिनके प्रति यथासंभव स्नेहपूर्ण व्यवहार करके भी निर्मला 'विमाता' शब्द के साथ जुड़े कलंक को नहीं धो सकती। उधर वृद्ध तोताराम अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी पत्नी का स्नेह प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। अन्त में हम देखते हैं कि अनमेल विवाह के परिणामस्वरूप सारा घर नष्ट हो जाता है। तोताराम के दो पुत्र मर जाते हैं और तीसरा घर से भाग जाता है। तोताराम स्वयं भी भाग जाते हैं और निर्मल घुल-घुलकर प्राण दे देती है। इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने यथार्थ को अत्यन्त उभारकर उपस्थित किया है। इसी आधार पर आलोचकों ने 'निर्मला' को प्रेमचन्द की यथार्थवादी कृति माना है। उदाहरणस्वरूप डॉ० राजेश्वर गुरु तथा श्री रामदीन गुप्त की ये उक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

(अ) " 'निर्मला' घोर यथार्थवादी रचना है। उस अर्थ में यथार्थवादी नहीं जिस अर्थ में इस शब्द का अर्थ आज समझा जाता है। आज के ढंग की यथार्थवदिता तो तब होती, जब निर्मला और मंशाराम के प्रेम का चिपचिपाता हुआ वर्णन उसमें होता। एक ओर प्रेमचन्द यथार्थवाद में भी संयम, संस्कृति और आदर्श का पल्ला कभी छोड़ते नहीं हैं। दूसरी ओर बहुत कुछ कथनीय वे संकेत से, संक्षेप में कहकर छोड़ देते हैं।"[2]

(आ) "निर्मला प्रेमचन्द की प्रथम यथार्थवादी त्रासदी (ट्रेजेडी) है जिसमें उन्होंने समस्या का कोई आदर्शवादी आश्रमपरक समाधान नहीं सुझाया है। निर्मला के लेखक ने समाधान की अपेक्षा समस्या के विश्लेषण पर ही अपना ध्यान केद्रिन्त रखा है। यही कारण है कि उपन्यास की कथा आदर्शवाद की भूल-भुलैया में न भटक

---

१. प्रेमचन्द—एक अध्यनन, डॉ० राजेश्वर गुरु, पृ० १६५

१. वही पृ० १७२

कर तीव्रगति से अपने निर्मम, किन्तु तर्क संगत निष्कर्ष की ओर आगे बढ़ती है और नायिका निर्मला की हृदय विदारक मृत्यु के साथ ही उसका अन्त होता है।"[१]

'निर्मला' के अन्त में प्रेमचन्द ने कोई आदर्श स्वप्न नहीं देखा और न ही कथा प्रवाह को आदर्श की ओर मोड़ा है, तथापि नायिका की अन्तिम उक्ति में लेखक के उद्देश्य का संकेत अवश्य मिल जाता है। निर्मला अपनी पुत्री के विषय में कहती है—"चाहे क्वांरी रखियेगा, चाहे विष देकर मार डालियेगा, पर कुपात्र के गले न मढ़ियेगा। इतनी ही मेरी आपसे विनय है।"[२]

'निर्मला' में यद्यपि लेखक के यथार्थवादी दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्ति मिली है, तथापि लेखक ने समस्या के समाधान की ओर संकेत अवश्य कर दिया है, और उनकी यह संकेतात्मकता अधिक मार्मिक, स्वाभाविक व सुन्दर बन पड़ी है।

रंगभूमि—प्रस्तुत उपन्यास का रचनाकाल सन् १९२४-२५ है। आकार की दृष्टि से यह प्रेमचन्द का सबसे बड़ा उपन्यास है। इसमें देशी राज्यों के आन्दोलन तथा गाँवों में औद्योगिक सभ्यता के प्रवेश की कथा वर्णित है। इसमें एक ओर गाँव के परम्परागत जीवन का वर्णन किया गया है, जिसमें सहकारिता तथा पंचायत का विशेष महत्व है। दूसरी ओर औद्योगीकरण है जो गाँव के परम्परागत जीवन को परिवर्तित कर देता है। डॉ० राजेश्वर गुरु के शब्दानुसार—"रंगभूमि कोरमकोर यथार्थ चित्रण है, जिसमें कोई सेवा सदन नहीं, कोई प्रेमाश्रम नहीं। यहाँ संस्थावाद के बजाय व्यक्ति के आन्तिरिक गौरव का महत्व है। मानो प्रेमचन्द कहना चाहते हैं कि समाज की कमजोरियों को दूर करने का यह संस्थावादी ढंग असफल भी हो सकता है। यदि संस्था का संचालक ठीक व्यक्ति न हुआ तो संस्था अपने आदर्श और उद्देश्य से च्युत हो जाएगी।[३] इन पंक्तियों के आलोक में कहा जा सकता है कि समस्याओं के संस्थावादी अथवा आश्रमपरक हल की अव्यवहारिकता से प्रेमचन्द भी अवगत थे। इसीलिए उन्होंने निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प आदि में इस प्रकार के समाधान प्रस्तुत नहीं किए। 'रंगभूमि' में लेखक ने वर्तमान समाज के सभी स्तरों का यथातथ्य चित्रण किया है। यद्यपि प्रेमचन्दजी स्वयं औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं है, फिर भी रंगभूमि में उन्होंने औद्योगीकरण की सफलता दिखाई है। औद्योगीकरण की सफलता के विपरीत यदि वे सूरदास के आदर्शवाद की विजय दिखाते तो वह शायद अधिक स्वाभाविक न होता। पात्रों के चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द की आदर्शवादिता लक्षित की जा सकती है। सूरदास प्रेमचन्द के आदर्शवाद का प्रतीक है। वह ऐसा व्यक्ति है जो परिस्थितियों की विषमताओं के आगे घुटने नहीं टेक

---

१. प्रेमचन्द और गांधीवाद, रामदीन गुप्त, पृ० २२३

२. निर्मला, प्रेमचन्द, पृ० १९९

३. प्रेमचन्द, एक अध्ययन, डॉ० राजेश्वर गुरु, पृ० १७९

देता, अपितु उनसे लड़कर यथासंभव उन्हें अपने अनुकूल बनाने की सामर्थ्य रखता है। वह औद्योगीकरण का विरोधी तथा परम्परागत सरल भारतीय जीवन का समर्थक है। सोफिया भी आदर्श चरित्र है। वह मानवता में तथा मनुष्य के कर्मों में विश्वास है और अपना सम्पूर्ण जीवन मानवीय गुणों के विकास में ही लगाए रखती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'रंगभूमि' की घटनायें यथार्थवादी है और उनका उपसंहार भी किसी आदर्श संस्था की स्थापना के साथ नहीं होता, किन्तु इस उपन्यास के पात्रों में आदर्श के दर्शन किए जा सकते हैं। इस उपन्यास के द्वारा लेखक ने यह संदेश देना चाहा कि भारतीय जनता को औद्योगीकरण एवं पूँजीवाद का डटकर विद्रोह करना चाहिए।

कायाकल्प—प्रस्तुत उपन्यास की रचना सन् १९२८ में हुई। इसकी कथा के तीन भाग हैं—एक का सम्बन्ध हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य से, दूसरा कृषक प्रजा तथा राजा से और तीसरे का राजा के अन्त:पुर से है। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के माध्यम से लेखक ने तत्कालीन दूषित सामाजिक स्थिति पर दृष्टिपात किया है और सांप्रदायिक वैमस्य की भावना को मानव-प्रेम से जीतने का प्रयास किया है। कथा का दूसरा भाग देशी राजाओं तथा उनकी कृषक प्रजा की वास्तविक दशा का चित्रण करके उनका सुधारवादी हल प्रस्तुत करते की चेष्टा निहित है। राजाओं के अत्याचार के कारण प्रजा में असन्तोष फैलता है और यह उसका विद्रोह करती है। इस विद्रोह का नेतृत्व चक्रधर करता है। विद्रोह में निरस्त्र जनता मारी जाती है, चक्रधर कैद होता है। कैद से छूटने के उपरान्त वह गाँवों की वस्तुस्थिति का अध्ययन करके उन्हें सुधारने के प्रयत्न में गाँव जाता है, किन्तु यहाँ आकर उसकी सद्वृत्ति में भी परिवर्तन होने लगता है। शीघ्र ही वह इन दुर्वृत्तियों से मुक्ति पा लेता है और वैराग्य धारण कर लेता है। 'कायाकल्प' की कथा के तीसरे भाग का संबंध रानी देवीप्रिया के अन्त:पुर से है। इस कथा भाग में प्रेमचन्द ने अनेक अस्वाभाविक एवं काल्पनिक तत्वों का समावेश किया है। 'कायाकल्प' में दो प्रकार के कल्प मिलते हैं—एक वह जो रानी देवप्रिया नित्य नये भोगों के लिए कराती है और दूसरा वह जो धन के प्रभाव में आकर प्रत्येक व्यक्ति का हो जाता है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द आदर्श का उचित निर्वाह नहीं कर पाये हैं। चक्रधर जो एक आदर्श पात्र है अपने आदर्श को व्यवहारिक रूप नहीं दे पाता और अज्ञातवास करने के लिए चला जाता है।

गबन—गबन का रचनाकाल सन् १९३१ के आसपास है। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज की प्रदर्शन प्रियता का संजीव एवं मार्मिक चित्रण किया गया है। गबन की कथा के दो भाग हैं—प्रथम भाग का सम्बन्ध इलाहाबाद से तथा द्वितीय का सम्बन्ध कलकत्ता से है। पूर्वार्द्ध में मध्यवर्गीय परिवार की कथा है तथा द्वितीय में पुलिस के कार्यों का विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया है। मुंशी दीनदयाल की पुत्री जालपा दयानाथ के पुत्र रामनाथ से ब्याही जाती है। विवाह में अत्यधिक खर्च

करने से दयानाथ पर बहुत-सा कर्ज हो जाता है। दयानाथ तथा रामनाथ जालपा को घर की वास्तविक स्थिति न बताकर उसके समक्ष अपना बड़प्पन बनाए रखते हैं। जब वे विवाह में बनवाए गहनों का कर्ज नहीं दे पाते तो बहू के गहने चुरा कर कर्ज उतारते हैं। रामनाथ जालपा के लिए उधार गहने लाता है और बाद में कर्ज उतारने के लिए गबन करता है और फिर बचने के लिए कलकत्ता भाग जाता है। अपनी दुर्बलता के कारण वह पुलिस के चंगुल में फँस जाता है। पुलिस वाले उसे झूठी गवाही देने के लिए सरकारी गवाह बना देते हैं। रमानाथ के भागने के उपरान्त जालपा के चरित्र का विकास होता है। वह कलकत्ता पहुँचती है। वह रमानाथ को नैतिक पतन से बचाने में लग जाती है। लेकिन रमानाथ पाप पथ से से नहीं लौटता। जालपा जब उसकी बड़ी भर्त्सना करती है, तब कहीं जाकर रमानाथ की विवेक बुद्धि जागृत होती है और वह झूठी गवाही न देकर सच्ची गवाही देता है। जिससे निरपराध व्यक्तियों को छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि यहाँ भी प्रेमचन्द का यथार्थवाद छूटा नहीं है। अन्त में वे पात्रों का हृदय-परिवर्तन कराके अपनी आदर्शवादी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं।

गबन में प्रेमचन्द ने आदर्श का स्थूल रूप में वर्णन न करके पात्रों के क्रिया कलापों द्वारा उसे ध्वनित किया है, इसलिए कतिपय आलोचक गबन को उनका यथार्थवादी उपन्यास मानते हैं। डॉ० राजेश्वर गुरु की स्थापना के अनुसार 'गबन' में प्रेमचन्द ने जीवन का यथावत् चित्रण किया है। इस उपन्यास में किसी भी चरित्र पर अस्वाभाविक ढंग से आदर्शवाद आरोपित नहीं किया गया। इसलिए इस वृत्ति में उन्हें आदर्शवाद दिखाई नहीं देता। यद्यपि प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में समस्या का कोई काल्पनिक समाधान नही ढूँढ़ा है, तथापि अन्त तक पहुँचते-पहुँचते जालपा एवं रमानाथ के चरित्र का जो उत्कर्ष एवं सुधार दिखाया है, वह उनकी आदर्शोन्मुखी विचारधारा का ही द्योतक है। किन्तु यह आदर्शोन्मुखता सेवादान एवं प्रेमाश्रम की भाँति अविश्वसनीय नहीं है।

कर्मभूमि—इस उपन्यास की रचना सन् १९३२ में हुई। इसमें आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की मात्रा कहीं अधिक है। इस उपन्यास में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम में लड़नेवाले वीर पुरुषों और स्त्रियों की कथा है। कर्मभूमि में दो आन्दोलन हैं—एक नगर का, दूसरा ग्राम का। नगर का आन्दोलन म्यूनिसिपल कमेटी के विरोध में है तथा गाँव का जमीदार के विरोध में। नगर के आन्दोलन के साथ जनता की अजेय शक्ति है, जिससे परास्त होकर म्यूनिसिपल कमेटी उसके समक्ष झुक जाती है। इसके विपरीत गाँव के आन्दोलन का दमन कर दिया जाता है। पन्य उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास में भी एक आदर्श पात्र है—अमरकान्त, जो एक कमेटी की स्थापना के द्वारा किसानों की शोषित दशा के सुधार का प्रयास करता है। इसमें

१. देखिए, 'प्रेमचन्द एक अध्ययन', डॉ० राजेश्वर गुरु, पृ० २००

अछूतोद्धार की समस्या को भी लिया गया है। जे० शान्तिकुमार अछूतों को संगठित करके उनके प्रति होनेवाले अत्याचार के विरुद्ध क्रान्ति कराते हैं। उनका दमन किया जाता है किन्तु जनता डटकर सामना करती है और प्राणों की आहुति दे देती है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने अव्यावहारिक आदर्शवाद की स्थापना न करके उसके व्यवहारिक रूप का प्रतिपादन किया है। यद्यपि आदर्श को उन्होंने एकदम त्यागा नहीं है, किन्तु उनका अधिक बल यथार्थ पर ही है 'कर्मभूमि' में अमरकान्त और डा० शान्तिकुमार के परस्पर संवाद द्वारा प्रेमचन्द के एतद्विषयक विचारों को समझा जा सकता है—

"तुम आदर्श की धुन में व्यावहारिकता का बिल्कुल विचार नहीं करते। कोरा आदर्शवाद ख्याली पुलाव है।

अमर ने चकित होकर कहा—मैं तो समझता था, आप भी आदर्शवादी हैं।

शान्तिकुमार ने मानो इस चोट को ढाल पर रोक कर कहा—मेरे आदर्शवाद में व्यावहारिकता को भी स्थान है।

इसका अर्थ यह है कि आप गुड़ खाते हैं गुलगुले से परहेज करते हैं।

जब तक मुझे रुपये कहीं से मिलने न लगें, तुम्हीं सोचो मैं किस आधार पर नौकरी का परित्याग कर दूँ। पाठशाला मैंने खोली है। इसके संचालन का दायित्व मुझ पर है। इसके बन्द हो जाने पर मेरी बदनामी होगी। अगर तुम इसके संचालन का कोई स्थायी प्रबन्ध कर सकते हो तो मैं आज इस्तीफा दे सकता हूँ लेकिन बिना किसी आधार के मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं इतना पक्का आदर्शवादी नहीं।...... मुझे संसार का तुम से ज्यादा तजरबा है, मेरा इतना जीवन नए-नए परीक्षणों में ही गुजरा है। मैंने जो तत्त्व निकाला है, यह है कि हमारा जीवन समझौते पर टिका हुआ है। अभी तुम मुझे जो चाहे समझो, पर एक समय आवेगा, जब तुम्हारी आँखें खुलेंगी और तुम्हें मालूम होगा कि जीवन में यथार्थ का महत्त्व आदर्श से जौ भर भी कम नहीं है।"[1]

वस्तुतः 'कर्मभूमि' की रचना के समय तक प्रेमचन्द के समक्ष समस्याओं के काल्पनिक सुधारों की अयथार्थता स्पष्ट हो चुकी थी। यही कारण है कि 'कर्मभूमि' में उन्होंने जीवन को उसकी समस्त अच्छाइयों एवं बुराइयों सहित चित्रित किया है। सत्यपक्ष की अथवा आदर्शपक्ष की विजय न दिखाकर उन्होंने यही सिद्ध किया है कि जीवन में सदैव आदर्श पक्ष की विजय नहीं होती, अपितु उसे भी सबल पक्ष के समक्ष किसी न किसी रूप में झुकना ही पड़ता है। यह वस्तुतः प्रेमचन्द के कलाकार की पराजय न होकर विजय है।

गोदान—'गोदान' को अधिकांश आलोचकों ने प्रेमचन्द की यथार्थवादी कृति के रूप में मान्यता दी है। उनकी धारणा है कि लेखक ने इस उपन्यास में आद्योपान्त

१. कर्मभूमि, पृ० ११०-१११

जीवन के कटु सत्य का मार्मिक एवं सजीव चित्रण किया है और अन्त में यथार्थ का कोई आदर्शवादी हल प्रस्तुत नहीं किया अतः इस दृष्टि से यह उनकी यथार्थवादी रचना कहलाएगा। इस प्रसंग में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी तथा श्री हंसराज रहबर के मत उद्धरणीय हैं —

(अ) "प्रेमचन्दजी ने इस उपन्यास में कोई मार्ग-निर्देश नहीं किया है। अपने अन्य उपन्यासों में प्रेमचन्द जी ने आदर्शात्मक चर्चा की है और कुछ उपन्यासों में तो सामाजिक सुधार के लिए किसी संस्था विशेष की स्थापना भी करा दी है। उन उपन्यासों में प्रेमचन्द जी का सुधार-सम्बन्धी वाद झलक भी उठता है, पर गोदान में किसी भी वाद की स्पष्ट सूचना नहीं दी गई है। ऐसी अवस्था में हम गोदान को न तो समाजवादी कृति कह सकते हैं और न किसी अन्य वाद से ही उसका सम्बन्ध निर्धारित कर सकते हैं।"[1]

(आ) "कर्मभूमि में उन्होंने आदर्शवाद का सहारा लिया है जरूर; लेकिन उसमें वे यथार्थवादी पहले से कहीं अधिक दिखाई देते हैं। 'गोदान' में तो इसका दामन झटक कर एकदम यथार्थवादी बन जाते हैं।"[2]

वस्तुतः गोदान के अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि प्रेमचन्द ने गोदान में किसी स्थूल आदर्श की अभिव्यक्ति नहीं की है और पात्रों एवं घटनाओं के चित्रण में वे यथार्थवादी रहे हैं, किन्तु होरी की मृत्यु दिखाकर उन्होंने अलक्षित रूप से यह सिद्ध किया है कि वर्ग-भेद, शोषित वर्ग की हीनावस्था आदि सामाजिक विषमताओं के लिए वर्ग-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष ही उत्तरदायी नहीं है, अपितु समस्त समाज व्यवस्था इसके लिए दोषी है। इस समाज-व्यवस्था के स्थान पर किसी आदर्श समाज की स्थापना के द्वारा ही सामाजिक स्थिति में सुधार सम्भव है और यही संकेत इस उपन्यास की आदर्शोन्मुखता है।

आदर्शवाद के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसका स्पष्ट रूप से उल्लेख किया ही जाय। लेखक उसके प्रति संकेत भी कर सकता है। 'गोदान' का आदर्शवाद भी वर्णित न होकर ध्वनित है। पूर्ववर्ती उपन्यासों में लेखक का आदर्शवाद के प्रति विशेष आग्रह रहा है और उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से इसका उल्लेख भी किया है, किन्तु 'गोदान' में उनका आग्रह यथार्थ के प्रति ही दृष्टिगत होता है। सैद्धान्तिक रूप से प्रेमचन्द जीवन-पर्यन्त 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के समर्थक रहे हैं, तथापि उनकी कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उनके आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का रूप सभी कृतियों में एक-सा नहीं रहा। उनके दृष्टिकोण में उत्तरोत्तर गंभीरता एवं परिपक्वता आती गई है, फलस्वरूप उनकी अन्तिम कृतियों में उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण अधिक

१. प्रेमचन्द—साहित्यिक विवेचन, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० १५१
२. प्रेमचन्द, हंसराज रहबर, पृ० २६७

मुखरित हुआ है। 'गोदान' में प्रेमचन्द सर्वत्र वस्तुपरक उपन्यासकार के रूप में दिखाई देते हैं। इसमें उन्होंने एक ओर ग्रामीण जीवन तथा दूसरी ओर नागरिक जीवन का ऐसा चित्र खींचा है जिसमें चित्रकार की ओर से 'फिनिशिंग टचेस' (finishing touches) देकर उसकी कमियों को ढँकने का प्रयास लक्षित नहीं होता।

: १२ :

प्रेमचन्द के उपन्यासों में नारी-चित्रण

डॉ० गीता लाल

भारतीय नारियों में उत्थान और जागरण की भावना बीसवीं शती में आई। कहने को उसे लक्ष्मी, देवी, माता—बड़ी-से-बड़ी पदवियाँ दी गई थीं, किन्तु उसकी स्थिति दासी से कुछ अच्छी न थी। उसे सामाजिक, राजनैतिक, साम्पत्तिक आदि कोई अधिकार प्राप्त न था। सब प्रकार से उसे पुरुष से हीन और उसकी आश्रिता बनाकर रखा गया। सहस्रों वर्षों से अधिकार-वंचित, उपेक्षित, पराधीन 'अबला' इस शताब्दी में अपने अधिकारों के प्रति सचेष्टा हुई। राजनैतिक आन्दोलन के साथ-साथ भारत में नारी आन्दोलन भी चला। महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू जैसे महानुभावों का समर्थन नारी को प्राप्त हुआ। आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के संघात ने भी इसमें योग दिया। आहतों, पीड़ितों और दलितों को वाणी देनेवाले उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द का रचना-काल भी बीसवीं शती का पूर्वार्द्ध ही है। अतः उन्होंने पुरुष की तुलना में नारी की हीन स्थिति का सविस्तार चित्रण किया है और ज़ोरदार शब्दों में उसका पक्ष लिया है। 'प्रेमा' 'सेवासदन', 'निर्मला' 'प्रतिज्ञा' और 'ग़बन' उपन्यास तो पूर्णरूप से नारी-जीवन को उदाहृत करते ही हैं, उनके अन्य उपन्यासों में भी जो नारी-पात्र आये हैं, उनका पूर्ण विकसित रूप मिलता है। वे सभी प्रेमचन्द के नारी-सम्बन्धी आदर्शों से परिचित कराते हैं।

प्रेमचन्द महात्मा गांधी के समान नारी को उसकी महानता और दैवी गुणों के कारण पुरुष से श्रेष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार सेवा, त्याग और वात्सल्य नारी की मूल प्रकृति है और प्रेम उसके जीवन का आधार। 'शान्ति' नामक कहानी में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'नारी को जीवन में प्यार न मिले तो उसका अन्त हो जाना ही अच्छा।'[1] सामान्यतः प्रेमचन्द की नारी पुरुष की ओर उसके सद्गुणों के

---

१. मानसरोवर, भाग १ (इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०) पृ० ४२

कारण आकृष्ट होती है अथवा इसे यों कह सकते हैं कि अपने अन्दर के सद्भावों को पुरुष में देखकर नारी अपना प्रेम, अपना हृदय उसे समर्पित करती है। अतः नारी पहले पुरुष की भक्ति करती है, उसका सम्मान करती है, बाद में परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं तो उसकी यह श्रद्धा प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। 'वरदान' उपन्यास में माधवी को प्रताप के प्रति प्रेम उसके सद्‌गुणों की प्रशंसा सुनते-सुनते होता है। 'रंगभूमि' में सोफिया विनय के अनुपम त्याग, सेवा-भाव, कर्मठता और आदर्श-जीवन के कारण उससे प्रेम करती है। 'कायाकल्प' में मनोरमा चक्रधर से, उसके सादे आदर्श जीवन, त्याग, सेवाशीलता और न्यायप्रियता के कारण 'भक्ति' करती है। यही भक्ति धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण करती है। 'कर्मभूमि' की सकीना का अमर के प्रति और नैना का डॉ० शान्तिकुमार के प्रति प्रेम भी श्रद्धामूलक है। 'गोदान' की डॉ० मिस मालती प्रोफेसर मेहता की ओर इसीलिए आकृष्ट होती है कि वे उसे अपने परिचितों में सर्वाधिक विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न जान पड़ते हैं।

प्रेमचन्द की यह मान्यता है कि प्रेम के ऊँचे आदर्श का पालन नारियाँ ही कर सकती हैं, पुरुष नहीं, क्योंकि वे प्रेम को प्रायः वासना से पृथक नहीं रख पाते। प्रेमचन्द ने अपने नारी चरित्रों में भी यह दृढ़ता दिखलाई है कि विवाह के पूर्व वे भावात्मक प्रेम करती हैं, शारीरिक सम्बन्धों से बहुत दूर रहती हैं। यदि दुर्भाग्यवश प्रेमी से विवाह न हुआ, तो भी उनकी नारी प्रेम में अपने को भूल नहीं जातीं, सामाजिक मर्यादा का सदैव ध्यान रखती है। 'वरदान' उपन्यास की वृजरानी और प्रताप में बाल्यावस्था से प्रेम है, किन्तु कमलाचरण से विवाह-बन्धन में बँध जाने के बाद वृजरानी पति के प्रति अपने कर्त्तव्यों को समझती है और प्रताप को भूल जाने की चेष्टा करती है। 'प्रतिज्ञा' की प्रेमा अमृतराय की वाग्दत्ता है और दोनों एक-दूसरे को प्रेम भी करते हैं। बाद में जब प्रेमा का विवाह दाननाथ से हो जाता है तो प्रेमा के लिए अमृतराय केवल एक स्वप्न की भाँति हो जाते हैं। 'रंगभूमि' में सोफिया और विनय में प्रेम है एवं दोनों इस सत्य से परिचित हैं कि वे एक-दूसरे के नहीं हो सकते, उनके विवाह में धार्मिक और सामाजिक बाधाएँ हैं। किन्तु, इस विश्वास पर कि वे विशुद्ध, वासना-रहित प्रेम करते हैं, प्रेम-मार्ग पर निःशंक बढ़ते जाते हैं। उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है कि वासना-रहित प्रेम करना आसान नहीं है। आध्यात्मिक प्रेम केवल धर्म-जगत की वस्तु है, स्त्री और पुरुष में पवित्र प्रेम का निर्वाह करना अत्यंत कठिन है। फिर भी, वासना सोफिया को विचलित नहीं कर पाती। बाद में जब सोफिया और विनय एक छोटी-सी पहाड़ी बस्ती में जाते हैं और साथ-साथ एक झोंपड़ी में रहते हैं, उनके पवित्र प्रेम का वासनात्मक प्रेम में परिवर्तित हो चलना स्वाभाविक है। विनय तो सदैव लालसा प्रदीप्त नेत्रों से सोफी को देखते हैं, किन्तु सोफिया अपनी मर्यादा और स्थिति समझती है और उसकी दृढ़ता दोनों प्रेमियों को कर्त्तव्य-भ्रष्ट होने से बचा लेती है।

'कायाकल्प' की मनोरमा समाजसेवी चक्रधर से प्रेम करती है, किन्तु, बूढ़े राजा विशालसिंह की छठी रानी बनना स्वीकार कर लेती है कि रानी होने पर वह चक्रधर के सेवा-कार्य में धन से सहायता कर सकेगी। विवाहोपरान्त चक्रधर और राजा साहब दोनों के प्रति कर्त्तव्य पूरा करने में उसके जीवन का बलिदान हो जाता है। चक्रधर और मनोरमा एक-दूसरे से आजीवन प्रेम करते हैं, किन्तु उनका प्रेम किसी भी प्रकार कलुषित नहीं कहा जा सकता। मनोरमा का दाम्पत्य जीवन भी पूर्ण सुखी है।

'कर्मभूमि' की मुस्लिम युवती सक़ीना के प्रेम में भी संयम और कर्त्तव्य-परायणता है, वासना की छाया भी नहीं है। इसी उपन्यास की मुन्नी, जो खून के मुकदमे में बरी होने के बाद घर नहीं लौटती और चमारों की बस्ती में पहुँच जाती है; अमर के वहाँ पथिक रूप में आने पर उससे प्रेम करने लगती है। उसका प्रेम भी पवित्र है। अमरकान्त उसे समझ नहीं पाता और उससे कहीं भाग चलने का प्रस्ताव करता है। मुन्नी कह उठती है, "बस, और कुछ न कहना। मर्द सब एक-से होते हैं। मैं क्या कहती थी, तुम क्या समझ गए। मैं तुमसे सगाई नहीं करूँगी, तुम्हारी रखेली भी नहीं बनूँगी। तुम मुझे अपनी चेरी समझते रहो, यही मेरे लिए बहुत है।"[१]

'गोदान' में मेहता के प्रति मालती का प्रेम अवर्णनीय है। वह उन्हें इसीलिए विवाह-बन्धन में आबद्ध करना नहीं चाहती कि यह उनकी समाज-सेवा, त्याग और महत्तर जीवन में बाधक सिद्ध होगा। 'वरदान' की माधवी भी इसीलिए विवाह नहीं करती। दोनों ही आजन्म अविवाहित रहना पसन्द करती हैं, किन्तु प्रेमी के विकास-मार्ग का रोड़ा नहीं सिद्ध होतीं। इस दृष्टि में उनका त्याग और आत्मसमर्पण अनुपम है। वस्तुतः प्रेमचन्द की नारी में प्रेम और कर्त्तव्य आपस में इस प्रकार घुल-मिल गए हैं कि दोनों में कोई अन्तर भी है, यह समझना कठिन है।

प्रेमचन्द के अनुसार नारी को जब सच्चा प्रेम मिलता है तो उसका सहज ही सुधार होता है। वे नारियाँ भी, जिनका अस्तित्व समाज में तितलियों की भाँति है और जो अपने रूप-रंग के आकर्षण से जहाँ-तहाँ प्रेम-मधु-पान करती रहती हैं, अथवा वे नारियाँ जो प्रेम की हाट सजाती हैं, यदि कभी विशुद्ध प्रेम के सम्पर्क में आती हैं, तो उनकी आत्मा भी उसके प्रकाश से निर्मल हो जाती है। फिर तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि ये वे ही नारियाँ हैं जो प्रेम का व्यवसाय किया करती थीं। 'ग़बन' की वेश्या जोहरा और 'गोदान' की तितलीनुमा 'सोसायटी लेडी' मिस मालती ऐसी ही नारियाँ हैं। किन्तु, वे भी प्रेम और विश्वास का बदला प्रेम और विश्वास से देती हैं। प्रेम और विश्वास पाकर उनके जीवन में एक नया मोड़ आ जाता है। उनका जीवन विलासिता और छल-कपट के बदले तप और व्रत, सेवा

१. **कर्मभूमि (बनारस, सन् १९४६ ईस्वी), पृ० १५८**

और कर्त्तव्य, त्याग और क्षमा से परिपूर्ण हो जाता है। उनके जीवन का मिथ्या अंश मिट जाता है। वे इसीलिए तितलियाँ थीं, वारांगनाएँ थीं, क्योंकि प्रेम के इस दिव्य स्वरूप से वे अनभिज्ञ थीं।

प्रेमचन्द की दृष्टि में नारी सुन्दर और उदात्त भावों की साक्षात् मूर्ति है। विकास के क्रम में वह पुरुष से आगे है। सेवा, वात्सल्य और त्याग की भावनाएँ उसमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं, क्योंकि प्रकृति ने उसे माता बनाया है। इसके विपरीत पुरुष में हिंसा, प्रभुत्व और शासन की भावनाएँ जन्मजात होती हैं, वह विद्या और बुद्धि से ही इनका परिष्कार कर सकता है। 'गोदान' के बुद्धिवादी और दार्शनिक पात्र मेहता कहते हैं, "मैं प्राणियों के विकास में स्त्री के पद को पुरुषों के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ, उसी तरह जैसे प्रेम और त्याग और श्रद्धा को हिंसा और संग्राम और कलह से श्रेष्ठ समझता हूँ।...स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है। जितना प्रकाश अँधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा और त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी उस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है। पुरुष धर्म और अध्यात्म और ऋषियों का आश्रय लेकर उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सदियों से जोर मार रहा है, पर सफल नहीं हो सका।"

यही कारण है कि सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए प्रेमचन्द स्त्री और पुरुष दोनों से सेवा और त्याग की माँग करते हुए भी नारी से अपेक्षाकृत अधिक त्याग, धैर्य और सेवा की आशा करते हैं। उनकी नारी प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पति के प्रति अपने मन में विद्रोह, शत्रुता और प्रतिहिंसा को स्थान नहीं देती। वह रोती है, जलती है, कुढ़ती है, किन्तु पति से अलग होने की कल्पना तक नहीं कर सकती। उसका अहित नहीं सोच सकती। बाद में, ऐसी ही नारी का पति अपने किए पर लज्जित होता है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की प्रेमा ऐसी ही धैर्यशील नारी है। 'कायाकल्प' में राजा विशालसिंह अपनी छठी पत्नी (मनोरमा) पर सन्देह करते हैं कि उसीने उनकी पाँचवीं पत्नी (रुक्मिणी) को विष दे दिया होगा और फलस्वरूप उससे घृणा करने लगते हैं, जबकि पहले उसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते थे। फिर, उनका एक मात्र नाती (शंखधर), जो राज्य का उत्तराधिकारी है, पाँच वर्षों से ग़ायब है, अतः वे पुत्र के लिए सातवें विवाह की तैयारियाँ शुरू करते हैं। निरपराध मनोरमा का महल, सवारी, सजावट के सामान, सभी नई रानी के वास्ते ले लिये जाते हैं। किन्तु, मनोरमा पर इन सब बातों की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। उसकी ज़बान पर शिकायत का एक शब्द भी नहीं आता। वह पति के सभी अत्याचार धैर्य और शान्ति से, मुस्कराती हुई, सहती है। महल के जिस हिस्से में पहले महरियाँ रहती थीं, अब वह उसीमें रहती है। किन्तु, उसे पति पर क्रोध नहीं है, उसे तो इस बात का दुःख है कि वह उनसे पूरी तरह सहानुभूति नहीं

कर रही है। बाद में, राजा साहब मनोरमा के सामने अपनी भूल स्वीकार करते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं।

'गोदान' में गोविन्दी आदर्श पत्नीत्व का उत्कृष्टतम उदाहरण है। खन्ना गोविन्दी की अवहेलना और अपमान करता है, स्वयं शराबी और परस्त्रीगामी है, किन्तु गोविन्दी प्रेम और निष्ठा से उसकी सेवा करती है। खन्ना के क्रोध में अपशब्द कहने पर गोविन्दी अपने कमरे में बैठकर रोती है, परन्तु पति से पृथक अस्तित्व की कल्पना भी नहीं करती। आज खन्ना पर कोई विपत्ति आ जाय तो वह अपने को उन पर न्यौछावर कर देगी। खन्ना अन्धे या कोढ़ी हो जायँ तो भी उसकी वफ़ादारी में फर्क न आएगा। गोविन्दी का धैर्य और त्याग, शील और प्रेम अनुपम है। डॉ० मेहता जिस नारीत्व को आदर्श मानते हैं, गोविन्दी उसकी सजीव प्रतिमा है। और, गोविन्दी कोई अपवाद नहीं है। मेहता गोविन्दी से कहते हैं, "प्रकृति ने हमारे साथ कितना बड़ा अन्याय किया है कि आप जैसी कोई दूसरी देवी नहीं बनाई।" गोविन्दी हसरत-भरे स्वर में उत्तर देती है. "नहीं मेहताजी आपका भ्रम है। ऐसी नारियाँ यहाँ आपको गली-गली में मिलेंगी।"[1] गोविन्दी का यह कथन सामान्य हिन्दू नारी के लिए युक्तियुक्त है, जो त्याग, सेवा और पवित्रता की प्रतिमा होती है और अपने व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में मिला कर उसका एक अंग हो जाती है।[2]

सामाजिक मान्यताओं की अवहेलना कर पति-पत्नी-सम्बन्ध रखने वाले दम्पति, विशेषतः स्त्री, से प्रेमचन्द सेवा, आत्मसर्पण, विश्वास एवं उत्सर्ग का उदाहरण ही उपस्थित कराते हैं। 'कायाकल्प' की लौंगी यद्यपि ठाकुर हरिसेवक

---

१. गोदान (बनारस, सन् १९४६ ईस्वी), पृ० २५३

२. 'गोदान' में डॉ० मेहता ने एक स्थान पर कहा है, "मेरे जेहन में औरत वफ़ा और त्याग की मूर्ति है, जो अपनी बेज़बानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिलकुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है।······संसार में जो कुछ सुन्दर है, उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ, मैं उससे यह आशा रखता हूँ कि मैं उसे मार ही डालूँ तो भी प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आए, अगर मैं उसकी आँखों के सामने किसी स्त्री को प्यार करूँ तो भी उसकी ईर्ष्या न जागे।" (पृष्ठ १८९)

डॉ० मदान के नाम लिखे अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने, आदर्श नारीत्व के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था, वह मेहता के विचारों से साम्य रखता है, "मेरा नारी का आदर्श है एक ही स्थान पर त्याग, सेवा और पवित्रता का केन्द्रित होना। त्याग बिना फल की आशा के हो, सेवा सदैव बिना असन्तोष प्रकट किए हुए हो और पवित्रता सीज़र की पत्नी की भांति ऐसी हो, जिसके लिए पछताने की आवश्यकता न पड़े।"

—प्रेमचन्द : एक विवेचना (डॉ० इन्द्रनाथ मदान), परिशिष्ट २, पत्र २

सिंह की उपपत्नी है, फिर भी ठाकुर साहब उसे पत्नी ही समझते हैं और वह भी उन्हें अपना पति समझती है। लौंगी पहले ठाकुर साहब के घर में लौंडी थी, किन्तु उनकी पत्नी की मृत्यु के बाद अपनी सेवा, त्याग और सहिष्णुता से ठाकुर साहब की दासी न रहकर गृहिणी का रिक्त पद प्राप्त कर लेती है और उसे कुशलता एवं निष्ठा से निभाती है। ठाकुर साहब बहुत क्रूर और भयंकर जीव हैं, उन्हें किसी पर दया नहीं आती। नौकरों को वे साल-साल भर वेतन नहीं देते। लौंगी के साथ भी उनका व्यवहार अच्छा नहीं है, उस पर बार-बार झुँझला पड़ते हैं, उसे मारने उठते हैं, दो-एक बार मारा भी था। किन्तु वह अपनी सेवा, विनय और सहिष्णुता से ऐसे क्रोधी, अविनयशील पुरुष को भी नियंत्रण में रखती है। यह उसके त्याग और धर्य का ही परिणाम है कि ठाकुर साहब चपरासी से दीवान होते हैं। लौंगी के तीर्थयात्रा करने चले जाने पर ठाकुर साहब अनियमित जीवन व्यतीत करने लगते हैं और मरणासन्न हो जाते हैं, किन्तु उनके प्राण तब तक नहीं निकलते जब तक किसी अव्यक्त प्रेरणा से लौंगी निश्चित अवधि के पहले ही लौट नहीं आती। ठाकुर साहब अपनी सारी जायदाद लौंगी के नाम वसीयत कर जाते हैं। 'गोदान' में सिलिया चमारिन और मातादीन ब्राह्मण के अवैध पति-पत्नी-सम्बन्ध का अन्त भी सिलिया की सेवा, त्याग, आत्मसमर्पण और क्षमा-भावना के कारण सुखकर होता है।

दाम्पत्य जीवन में सेवा, त्याग और सहिष्णुता को महत्त्व देने के कारण ही प्रेमचन्द तलाक को वांछनीय नहीं मानते। तलाक वहीं होता है जहाँ प्रेम, त्याग और आत्मसमर्पण का अभाव होता है और भोग-विलास, असंतोष तथा प्रतिहिंसा की प्रधानता होती है।[1] और, प्रेमचन्द पुरुष हो स्त्री, उसके मन में प्रतिकार या विद्रोह

---

[1] (क) डॉ मदान के नाम लिखे गए एक पत्र में प्रेमचन्द ने तलाक का विरोध किया था, "अपने श्रेष्ठतम रूप में विवाह भी एक प्रकार का समझौता और समर्पण ही है। यदि कोई सुखी होना चाहते हैं तो उन्हें एक दूसरे के लिए गुंजाइश रखनी चाहिये। वैसे ऐसे भी लोग हैं जो अच्छी-से-अच्छी परिस्थिति में भी सुखी नहीं रह सकते। स्वच्छन्द प्रेम और सभी प्रकार के सम्बन्धों की छूट होने पर भी अमेरिका में तलाक कम हों, ऐसी बात नहीं हैं।...जब इस बात का निश्चय ही नहीं है कि तलाक हमारी वैवाहिक बुराइयों को दूर करेगा, मैं इसे समाज पर लादना नहीं चाहता।"

डॉ इन्द्रनाथ मदान 'प्रेमचन्द: एक विवेचना' परिशिष्ट २, पत्र एक (ख) 'गोदान' में मेहता तलाक के 'पक्के' विरोधी हैं। मेहता कहते हैं, "विवाह को मैं सामाजिक समझौता मानता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।" (पृ० ७७)

की भावना का उत्पन्न होना बुरा समझते हैं। ऐसे लोगों के प्रति उनके हृदय में दया है, सहानुभूति है, किन्तु श्रद्धा नहीं है। स्त्रियों द्वारा प्रतिकार को तो वे उनके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल मानते हैं। पति के प्रति मन में दुर्भावना रखने का तात्पर्य है कि स्त्री ने अपनी सहज कोमलता, स्नेह, सहिष्णुता और त्याग-भावना को ही नहीं छोड़ दिया, बल्कि वह अपने पति को अपने से अलग भी समझने लगी। पुरुष यदि अपनी स्त्री की इज्जत नहीं करता, उसका अपमान करता है, तो स्त्री को उचित है कि उसे अपने जीवन का एक अंग समझकर क्षमा कर दे और अपने दैवी गुणों के बल पर पुरुष की अमानवीय प्रवृत्तियों पर विजय पाये, यही नहीं कि पशु के साथ पशु हो जाय। जो स्त्रियाँ ऐसा नहीं करती, वे दुःखी होती हैं। 'कर्मभूमि' में डॉ० शान्तिकुमार सुखदा से कहते हैं कि पुरुष में थोड़ी-सी पशुता होती है, जिसे वह इरादा करके भी हटा नहीं सकता। वही पशुता उसे पुरुष बनाती है। विकास के क्रम में वह स्त्री से पीछे है। जिस दिन वह पूर्ण विकास को पहुँचेगा, वह भी स्त्री हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है, और यह स्त्रियों के गुण हैं। अगर स्त्री इतना समझ ले, तो फिर दोनों का जीवन सुखी हो जाय। स्त्री पशु के साथ पशु हो जाती हैं, जभी दोनों दुःखी होते हैं। 'रंगभूमि' की इन्दु 'कर्मभूमि' की सुखदा, 'गोदान' की झुनिया और मीनाक्षी अपने पति को क्षमा करना नहीं जानती और मन में प्रतिक्रियात्मक भावों को प्रश्रय देती हैं, अत: उनका दाम्पत्य जीवन दुःखमय है।

प्रेमचन्द ने नारीत्व का चरमोत्कर्ष मातृत्व में माना है, क्योंकि माता के रूप में ही नारी अपना 'अहं' भूल पाती है और अपना समस्त स्नेह, वात्सल्य, सेवा और त्याग-भाव लुटाती है 'गोदान' के प्रो० मेहता कहते हैं, "नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। एक शब्द में उसे लय कहूँगा, जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।"[1] यही कारण है कि प्रेमचन्द ने मातृत्व के आगे नारीत्व को झुकते दिखाया है। 'निर्मला' की कल्याणी पति द्वारा अपमानित होने पर इरादा करके भी घर नहीं छोड़ पाती। बच्चों की ममता उसे रोक लेती है। बच्चों के सुख के लिए वह निरादर, जली-कटी, खोटी-खरी, घुड़की-झिड़की सब कुछ सहने-सुनने को तैयार है। 'गोदान' की गोविन्दी एक दूसरी स्त्री (मालती) के कारण पति द्वारा निर्दयतापूर्वक पीटी जाने पर दुःखी हो कर, घर से निकल पड़ती है, तो राह में उसकी भेंट डॉ० मेहता से हो जाती है और अन्त में उसका नारीत्व भी मातृत्व के आगे पराजित हो जाता है और वह घर लौट जाती है। बच्चों से मिलकर उसे अपूर्व शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता है।

---

१. 'गोदान, पृ० २५७

स्त्रीत्व की चरम परिणति मातृत्व में है, किन्तु प्रेमचन्द सच्चे अर्थों में उसी नारी में मातृत्व मानते हैं, जो दूसरे के बच्चों को भी मातृ-भाव से देखती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में दूसरे के बच्चों को मातृवत् प्यार करनेवाली नारियों की परंपरा मिलती है। 'वरदान' में सुवामा का वृजरानी के प्रति; 'प्रेमाश्रम' में श्रद्धा का मायाशंकर के प्रति; 'कायाकल्प' में वागेश्वरी का अहल्या के प्रति, लौंगी का मनोरमा और गुरुसेवक के प्रति तथा मनोरमा का शंखधर के प्रति; 'ग़बन' में जग्गो खटकिन का रामनाथ के प्रति और 'गोदान' में मालती का मंगल के प्रति प्रेम ऐसा ही है।

अब नारी के अधिकारों—स्वतंत्रता, पुरुषों के साथ समानता और शिक्षा संबंधी—के प्रश्न पर विचार करें। पश्चिम की नारियाँ आज जितनी शिक्षित स्वतंत्र और अधिकार-सम्पन्न दिखलाई पड़ती हैं, उतनी पहले नहीं थी। उन्नीसवीं शताब्दी में वे भी पुरुषों से हीन समझी जाती थीं और परवश थीं। पति की आज्ञाकारिणी होते हुए भी ऐसे बहुतेरे अधिकारों से वंचित थीं, जिनका उपभोग पुरुष करते थे। नारियों के अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने को हेय दृष्टि से देखा जाता था और उनके कर्त्तव्यों पर ही ज़ोर दिया जाता था। उन्नीसवीं शती के मध्य से, विशेषतः जॉन स्टुअर्ट मिल के नेतृत्व में, पश्चिम की नारियाँ अपने अधिकारों—सामाजिक, राजनैतिक, साम्पत्तिक, आदि—के प्रति सचेष्ट हुई और उन्होंने हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ समानता के अधिकार के लिए आन्दोलन किया। औद्योगिक क्रान्ति के कारण नारियों के लिए आय के स्वतंत्र रास्ते खुल ही गए थे; इसमें शिक्षा ने भी योग दिया। पश्चिम की नारी तेजी से उन्नति-पथ पर बढ़ चली। किन्तु, फिर भी अपनी सभ्यता की विशेषता के कारण अथवा पुरुषों से विद्रोह करने के प्रयास में, उसने अपने नारीत्व को त्यागकर पुरुष के गुणों और कार्यों का ही अनुकरण करना अपने जीवन का चरम और परम लक्ष्य समझ लिया। आज पश्चिम की नारी पुरुष की भाँति स्वच्छन्द, विलासिनी, कठोर और पुरुष के साथ हर क्षेत्र में अपनी योग्यता प्रदर्शित करने को उत्सुक है। वह पुरुष की सहयोगी नहीं, प्रतिद्वन्द्वी है।

भारत में नारियों की शोचनीय स्थिति में परिवर्तन लानेवाले तत्त्व ईसा की १९वीं सदी से ही सक्रिय थे, किन्तु २० वीं सदी भारतीय नारियों के लिए नवजागरण का संदेश लेकर आई। प्रेमचन्द ने इसी शती के पूर्वार्द्ध में अपने उपन्यास और कहानियाँ लिखी थीं, अतः उन्होंने संघर्षशील नारी-पात्रों को उनमें स्थान दिया है और जोरदार शब्दों में उसकी वकालत की है। वैवाहिक कुप्रथाओं में, जिसका कुफल मुख्यतः नारियों को ही भुगतना पड़ता है, सुधार होना चाहिए—ऐसा उन्होंने

बार-बार चित्रित किया है।[1] नारियों के साम्पत्तिक अधिकार—पिता और पति की सम्पत्ति में नारियों का हिस्सा—का भी प्रेमचन्द ने समर्थन किया है।[2] 'हिन्दू-नारी-साम्पत्तिक अधिकार' कानून (१४ अप्रैल, सन्, १९३७ ईस्वी को पारित) का प्रस्ताव प्रेमचन्द की जीवितावस्था में ही लोकसभा में आ चुका था। प्रेमचन्द ने इसके प्रस्ताव ८ को बधाई दी थी।

साम्पत्तिक अधिकारों से वंचित होने के कारण स्त्री पुरुष पर अवलम्बित होती थी। वह माता-पिता के घर में विवाह के बाद मेहमान के रूप में ही दो-चार महीने रह सकती थी और पति के घर पर उसका कोई अधिकार न था। 'प्रतिज्ञा' में सुमित्रा अपने कृपण, निर्दय पति के दुर्व्यवहारों से तंग आकर मायके जाना चाहती है, किन्तु वहाँ वाले उसे बुलाने के बदले उपदेश देते हैं। वह बेचारी जलती-कुढ़ती रहती है और निराश्रित होने के दुःख का अनुभव करती है। 'मंगलसूत्र' में प्रेमचन्द ने दिखलाया है कि पत्नी पति के घर में इसीलिए किसी प्रकार के अधिकार का दावा नहीं कर सकती, क्योंकि वैधिक दृष्टि से उसे एकदम निरीह बना दिया गया है। संतकुमार अपनी पत्नी से कहता है, "जो स्त्री पुरुष पर अवलंबित है, उसे पुरुष की हुकूमत माननी पड़ेगी।"[3] पुष्पा उत्तर देती है, "अगर मैं तुम्हारी आश्रिता हूँ, तो तुम भी मेरे आश्रित हो। मैं तुम्हारे घर में जितना काम करती हूँ, उतना ही काम दूसरों के घर में करूँ, तो अपना निर्वाह कर सकती हूँ या नहीं बोलो[4]—तब मैं जो कुछ कमाऊँगी, वह मेरा होगा। यहाँ मैं चाहे प्राण भी दे दूँ, पर मेरा किसी चीज़ पर अधिकार नहीं। तुम जब चाहो, मुझे घर से निकाल सकते हो।" 'सेवासदन' में तो गजाधर सुमन को घर से निकाल ही देता है। निम्न जातियों में जहाँ स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति नौकरी या रोजगार से पैसे कमाती हैं, उन्हें कानूनी सहारा नहीं रहने के कारण, पुरुष उनके पैसे भी छीन लेता है और

१. 'सेवासदन' और 'निर्मला' उपन्यासों में प्रेमचन्द ने वैवाहिक कुप्रथाओं की व्यापकता और जटिलता का चित्रण किया है।

२. 'बेटों वाली विधवा' कहानी में कुमुद का विवाह उसके पिता की मृत्यु के बाद उसके भाई इसीलिए तो एक वृद्ध के साथ कर देते हैं कि वे योग्य वर के लिए तिलक के रुपये नहीं निकालना चाहते थे; और पुत्री का अधिकार एक सम्मिलित परिवार में केवल विवाहित होने भर का था। स्वयं कुमुद की विधवा माता (फूलमती) अपने ही घर में, चार-चार पुत्रों के रहते हुए भी, अनाथिनी हो जाती है, इसीलिए तो कि पति की कमाई में स्त्री का कुछ हिस्सा नहीं होता था, पुत्र ही उसके अधिकारी होते थे।

'ग़बन' उपन्यास के लखपति वकील की विधवा (रतन) की भी फूलमती वाली ही दशा होती है।

३-४ मंगलसूत्र (इलाहाबाद), पृ० १०,१२

घर से निकाल भी देता है। 'अभिलाषा' कहानी में एक पानवाला अपनी स्त्री के साथ ऐसा ही करता है।

यही कारण है कि स्त्रियों की पुरुषों से इस असमानता और दयनीय दशा से परिचित होने पर भी आर्थिक स्वतंत्रता के लिए प्रेमचन्द स्त्रियों के नौकरी करने के पक्ष में नहीं थे। वैधव्य, अनाथावस्था अथवा पारिवारिक आवश्यकताओं के कारण विवश होकर काम करना या थोड़े समय के लिए साहित्यिक अथवा समाज-सेवा का काम करना एकदम दूसरी बात है। प्रेमचन्द की दृष्टि में आवश्यकता इस बात की है कि नारियों को पुरुषों के बराबर सभी अधिकार कानूनी तौर पर मिल जायँ, साथ ही उनकी शिक्षा की भी व्यवस्था हो, ताकि वे अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझ सकें और उनका अपने हित में उपयोग कर सकें।[1] महात्मा गांधी भी यही कहते थे—'मैं इसे नियम के रूप में नहीं मानता कि पत्नी अपने पति से स्वतंत्र होकर कोई धंधा अपनाएगी। उसके लिए यही काफ़ी है कि वह बच्चों की देख-भाल करे और घर सँभाले। सुव्यवस्थित समाज में परिवार चलाने का अतिरिक्त भार उन पर नहीं होना चाहिए। पुरुष का धर्म है कि वह गृहस्थी चलाए और स्त्री घर का प्रबन्ध करे और इस प्रकार दोनों एक दूसरे के कार्य में योग तथा सहायता देते रहेंगे। इस प्रकार स्त्री के अधिकारों का न तो हनन होता है और न उसकी स्वतंत्रता ही छीनी जाती है।'[2]

जब प्रेमचन्द नारियों को वे सब अधिकार, जो पुरुषों को मिले हुए हैं, देने को कहते हैं, तो वे राजनैतिक, सामाजिक, साम्पत्तिक आदि सभी क्षेत्रों में उसे पुरुषों के तुल्य अधिकार मिलने की माँग करते हैं। उदाहरणतः, पुरुष भी नारी की तरह एकपत्नी व्रत का पालन करे। उसका कई विवाह करना, वेश्यागामी होना अथवा उप-पत्नी रखना अवैधानिक ठहराया जाए। यदि पुरुष दुराचारी, व्यभिचारी, शराबी और निर्दय हो तो स्त्री के लिए यह मजबूरी नहीं होनी चाहिए कि वह उसके तलवे सहलाए। प्रेमचन्द ने नारी द्वारा नीच पति की खुशामद न करने की दृढ़ता दिखलाई है। 'कुसुम' कहानी की कुसुम, 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की सुमित्रा, 'रंगभूमि' की इन्दु, 'प्रेमाश्रम' की विद्या, 'ग़बन' की जालपा, 'निर्मला' की सुधा, 'कर्मभूमि' की सुखदा आदि नारियाँ ऐसी ही हैं।

प्रेमचन्द नारी में आत्माभिमान तो देखना चाहते थे, किन्तु प्रतिहिंसा या विद्रोह को बुरा समझते थे।[3] प्रतिहिंसा में उसके नार्योचित गुणों के नष्ट होने की

---

१. 'प्रेमचन्द : घर में' शिवरानी देवी पृ० १९२-१९३

२. गांधी : महिलाओं से, (बनारस, सन् १९४९ ईस्वी) पृ० २५

३. 'गोदान' में रायसाहब की पुत्री (मीनाक्षी) अपने दुराचारी पति से छुटकारा पाने के लिए मायके में आराम से रह सकती थी, उसका मायका सम्पन्न था और पिता ने बुलाया भी था। तब शायद कभी उसे पति-सुख मिल जाता। किन्तु,

आशंका हो जाती है। पश्चिम की नारी ने पुरुष के अत्याचार का ऐसा ही उत्तर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वह भी पुरुष की भाँति कठोर और हिंसात्मक हो गई है। उसमें नारीत्व का लोप हो रहा है और पुरुषत्व की वृद्धि हो रही है। वह पुरुष की भाँति नौकरी करती है, उन्हीं के समान स्वच्छन्द और विलासिनी हो गई है और इसलिए कि उसे पुरुष के अधीन होकर रहना और गृहस्थी के लिए अपनी स्वतन्त्रता और विलासिता का कुछ त्याग करना पड़ेगा, विवाह से घबराती है; और यदि विवाह कर भी लिया तो सन्तान के उत्तरदायित्व से भागती है। वह कार, शराब, होटल और थियेटर को पारिवारिक सुख और शान्ति से अधिक महत्त्व देती है। उसमें सहनशीलता सेवा और त्याग का, जो नारीत्व के विकास के लिए आवश्यक हैं, अभाव हो रहा है, जिससे पाश्चात्य देशों में अविश्वास है, विवाह-विच्छेद है, तलाक है। इस प्रकार विद्रोह और प्रतिक्रिया से प्रेरित होकर पाश्चात्य नारी अपना सर्वनाश कर रही है और पुरुष की सहयोगी और पूरक न होकर प्रतिद्वन्द्वी हो गई है। भारत की कुछ उच्च शिक्षित, पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित नारियों पर भी उसका प्रभाव पड़ रहा है।

'गोदान' की मिस मालती ने इंगलैंड से डाक्टरी की उच्च शिक्षा प्राप्त की है और चिकित्सक है। उसमें पुरुषों का अनर्थमय अनुकरण करनेवाली आधुनिक शिक्षा-सम्पन्न नारी के सभी गुण-अवगुण विद्यमान हैं। वह अत्यंत सुन्दरी है, फिर भी शृंगार में उसके प्राण बसते हैं। वह अभी तक अविवाहित है और उसके दर्जनों प्रेमी हैं। पुरुषों के समाज में वह चहकती है। उसमें निर्लज्जता, उद्दंडता, स्वच्छन्दता, बाह्याडंबर प्रियता, हृदय-हीनता, विलासिता और पुरुष से प्रतिद्वन्द्विता के भाव हैं और प्रेम, सेवा, त्याग और सहनशक्ति का अभाव है। वह ग़रीबों को अपने चिकित्सालय में घंटों बिठाती है, किन्तु कार वालों का द्वार तक आकर स्वागत करती है। पुरुषों वाली स्वार्थपरता और कठोरता उसमें भी है। मालती का परिचय प्रेमचन्द ने व्यंग्यपूर्ण भाषा में दिया है—"आप (मालती) नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल पर चपलता कूट-कूट कर भरी हुई, झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-

---

नई रोशनी के प्रभाव में आकर जब वह पति पर क्रोधित हो गुजारे का दावा करती है, तो वह कहीं की नहीं रह जाती। उसका पति उलटा उसी पर बदचलनी का आरोप करता है। उसका क्रोध और बढ़ता है और यद्यपि उसके पति का दावा ख़ारिज हो जाता है और वह उन पर गुजारे की डिग्री पाती है, किन्तु इस घटना के बाद पति-पत्नी एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे हो जाते हैं। उनके फिर कभी मिलने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। (पृ० ४२१-४२३)

भाव; मनोद्गारों पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया हो।"[1] मेहता के सम्पर्क से मालती में परिवर्तन होने के बाद ही प्रेमचन्द उसके नारीत्व को सार्थक होते चित्रित करते हैं और तब मालती की सारी शिक्षा-दीक्षा का उपयोग परिवार और समाज के कल्याण में होता है।

'गोदान' में मेहता अपने भाषण में स्त्रियों की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा और बड़े-से-बड़े अधिकार का समर्थन करते हुए भी यह कहना नहीं भूलते कि स्त्री अपनी उच्च शिक्षा और शक्तियों का प्रयोग पुरुष के साथ सहयोग में करे, संघर्ष में नहीं। उसका प्रधान कार्य-क्षेत्र घर हो, कारखाने और दफ्तर वह पुरुष के लिए छोड़ दे—"मैं नहीं कहता, देवियों को विद्या की जरूरत नहीं है। है और पुरुषों से अधिक। मैं नहीं कहता, देवियों को शक्ति की जरूरत नहीं है। है और पुरुषों से अधिक; लेकिन वह विद्या और वह शक्ति नहीं, जिससे पुरुष ने संसार को हिंसा-क्षेत्र बना डाला है। अगर वही विद्या और वही शक्ति आप भी ले लेंगी तो संसार मरुस्थल हो जाएगा। आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है।...कौन कहता है कि आप क्षेत्र संकुचित है और उसमें आपको अभिव्यक्ति का अवकाश नहीं मिलता। हम सभी पहले मनुष्य हैं, पीछे और कुछ। हमारा जीवन हमारा घर है। वहीं हमारी सृष्टि होती है, वहीं हमारा पालन होता जाता है।× × ×जिस कारखाने में मनुष्य और उसका भाग्य बनता है, उसे छोड़कर आप उन कारखानों में जाना चाहती हैं, जहाँ मनुष्य पीसा जाता है, जहाँ उसका रक्त निकाला जाता है।

नारियों में पुरुषों के साथ प्रतिद्वन्द्विता आ जाने से उनमें नारीत्व की जो कमी प्रेमचन्द देखते हैं, इसे आज के नारी-मनोविज्ञान के विशेषज्ञ भी मानते हैं और वे एक ऐसे समाज की आवश्यकता समझते हैं, जहाँ नारी पुरुष की प्रतिद्वन्द्वी न हो। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति का, पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में, अधिक मनोविज्ञान सम्मत आधार है। अतः भारतीय नारी को पाश्चात्य नारी के अनुकरण की आवश्यकता नहीं, वह तो अनेक क्षेत्रों में पाश्चात्य नारी का नेतृत्व कर सकती है। एक अमरीकी लेखिका ने, हेलेन ड्यूश के 'नारी-मनोविज्ञान' के आधार पर, भारतीय नारी को स्त्रीत्व-प्रधान नारी माना है और पाश्चात्य नारी में प्रतिद्वन्द्विता के भाव के कारण स्त्रीत्व की न्यूनता पर चिन्ता प्रकट की है, साथ ही भारतीय नारी को इस दृष्टि से पथ-प्रदर्शिका भी माना है। वह लिखती हैं :—

"It is interesting to note the similarity between the Hindu feminine woman and what Helene Deutsch has called the 'feminine passive' woman, a rare type in our Western culture. She describes traits of this type of feminity as narcissism (self-loving, wanting to

---

१. गोदान, पृष्ठ ७०.

be loved), passivity (activity directed in ward), and intensification of masochism. From her clinical experience she has found this type to have a positive relationship with her mother, to be overwhelmingly monogamous, to be prove to feelings of solitude, nostalgia, and brooding, and to have a great capacity for real love (in contrast to 'being in love'), These points seem to fit Hindu Woman as a general norm. It is further pertinent that Dr. Deutsch attributes many of the neuroses of Western woman to the effects of competition. She found that the above type, rare in Western socieiy, had not tried to compete. Unmindful of Hindu society, she suggests that a new form of society, less competitive, might be desirable. It would certainly seem that India, a very old society, has much to demonstrate on this point.''[1]

'गोदान' में मेहता अपने भाषण में कहते हैं, "बेशक पुरुषों ने अन्याय किया है, लेकिन उसका यह जवाब नहीं हैं। अन्याय को मिटाइए, लेकिन अपने को मिटा कर नहीं।...मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई है। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के अधिकार से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है।"[2]

इस प्रकार नारी-स्वातंत्र्य, नारी-शिक्षा और पुरुषों के समान ही नारी के अधिकारों को मानते हुए भी प्रेमचन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय नारी पश्चिम की नारी से सर्वथा भिन्न, भारतीय आदर्शों के अनुरूप ही अपनी शक्तियों का उपयोग करे। समानता के नाम पर प्रतिद्वन्द्विता, शिक्षा के नाम पर विलासिता तथा स्वतन्त्रता के नाम पर स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता भारतीय नारी के ध्येय नहीं होने चाहिएँ। प्रेमचन्द नारी को पुरुष की सहचरी के रूप में देखना चाहते हैं; वे भारतीय नारी को न तो पुरुष की अनुचरी (जैसी कि आज असंख्य भारतीय नारियाँ हैं) के रूप में देखना चाहते हैं, न पुरुष की प्रतियोगिनी के रूप में (जैसी पश्चिमी की या नई सभ्यता से प्रभावित आधुनिक भारतीय नारियाँ हैं)। वे नारी को अपनी सारी शिक्षा और शक्तियों को गृहस्थी के संचालन और बच्चों के पालन-पोषण में लगाने को कहते हैं। किन्तु, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह उसे घर की चारदीवारी में बन्द होने को कहते हैं। इसके विपरीत वे चाहते हैं कि नारी को अवकाश मिले और वह आवश्यकता समझे, तो अपने ज्ञान और शक्ति की परिधि परिवार से विस्तृततर करे। साधारण भारतीय नारी में यह विशेषता है भी। उसने जब गांधीजी के आह्वान पर देश की स्वतन्त्रता को गृहकार्य से अधिक महत्त्व दिया,

१. मारगरेट कारमैक; 'द० हिन्दू वुमन', पृ० २०४

२. गोदान, पृ २०६-२१००

तो स्वातंत्र्य-संग्राम में घर से बाहर निकल कर पुरुष की सहायता की। प्रेमचन्द ने भी स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने वाली प्रत्येक नारी का श्रद्धापूर्वक चित्रण किया है। इसी प्रकार प्रेमचन्द का विचार था कि समाज की उन्नति तब तक नहीं हो सकती, जब तक नारी समाज-कल्याण में योग नहीं देती।[1] यद्यपि प्रेमचन्द ने किसी ऐसी विवाहित नारी का (स्वातंत्र्य-संग्राम में भाग लेने वाली नरियों को छोड़कर) चित्रण नहीं किया है जो पारिवारिक क्षेत्र में पुरुष की सहयोगी होते हुए भी राष्ट्र-कल्याण या समाज-कल्याण का काम करे, तथापि 'गोदान' की मालती के परिवर्तित रूप में विवाहित और अविवाहित दोनों प्रकार की नारियों का वह आदर्श रूप मिलता है जो प्रेमचन्द चाहते हैं। समाज की रीतियों के अनुसार मालती विवाहित भले ही न हो, किन्तु वह मेहता से विवाह करते-करते रुक जाती है और यदि आत्मसमर्पण को विवाह माना जाय तो दोनों एक-दूसरे को आत्मसमर्पण कर भी चुके हैं।

विवाह के लिए दूसरी बात यह आवश्यक है कि पारिवारिक जिम्मेवारियाँ हों। मालती मेहता और अपने माता-पिता तथा बहन का उत्तरदायित्व लेकर सुगृहिणी है ही। उसके जीवन का (पाश्चात्य सभ्यता और उससे प्रभावित भारतीय नारियों के विपरीत) उद्देश्य है—सेवा, त्याग और वात्सल्य, जो नारीत्व के अनुकूल, अतः भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। वह घर में भी और बाहर भी, सेवा में निमग्न है। वह नारी जाति की अधोगति, किसानों की ग़रीबी और निरीहता तथा बालकों की अस्वस्थता और बीमारी को दूर करने का संकल्प करती है। उसकी इस सेवा-भावना में कहीं भी पुरुषों का वह अनर्थमय अनुकरण, प्रतिद्वन्द्विता, हिंसा, अधिकार-भावना, विलासिता और आत्म-सेवा नहीं है जिसे प्रेमचन्द ने पश्चिम की नारी में देखकर उसकी निन्दा की है। मालती के इस भारतीय रूप की, जो पुरुष से प्रतिद्वन्द्विता का नहीं, बल्कि नारीत्व का विकास करते हुए पुरुष के साथ सहयोग का है, अभ्यर्थना मारगरेट कारमैक ने अपनी पुस्तक 'द हिन्दू वुमन' में लेडी अबला बोस, सरोज नलिनी और रामाबाई रानाडे के जीवनोद्देश्य द्वारा की है।[2] जीवन के अन्त में मालती-जैसी नारी की कल्पना कर लेना प्रेमचंद-जैसे सचेत और सच्चे साहित्यकार का ही काम था।

वस्तुतः प्रेमचन्द की नारी-भावना का निर्माण नारी के व्यक्तित्व-विकास के साथ-साथ समाज-कल्याण को भी ध्यान में रखकर हुआ है।

---

१. शिवरानी देवी : 'प्रेमचन्द : घर में', पृ० १२५
२. मारगरेट कारमैक : 'द हिन्दू वुमन', पृ० १३८, १४१, १४२

: १३ :

प्रेमचन्द् और उनकी नायिकाएँ

डॉ० सुरेश सिनहा

मानव-समाज की मूल पृष्ठभूमि में नारी विद्यमान है । मानव-सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास वस्तुतः नारी के स्थिति को विकास से ही प्रतिबिंबित होता है । समाज प्रेरणा, शक्ति, प्रेम एवं विश्वास सभी कुछ नारी से ही प्राप्त करता है । जीवनगत स्थिरता को समाप्त कर मानव समाज की परिवर्तित परिस्थितियों तथा सामाजिक मानव-मूल्यांकन के साधनों में नारी सर्वप्रमुख है । समाज में नारी और पुरुष का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं । वह समाज में पुरुषों से कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखतीं । प्रायः सृष्टि के प्रारम्भ से ही हम देखते आ रहे हैं कि मानव जब भी जीवन-संघर्ष में असफल हुआ है, जब भी वह सभ्यता की दौड़ में पिछड़ा है, जब भी मानसिक अशांति से वह आक्रान्त हुआ है, और जब भी वह पीड़ा तथा अवसाद की लहरों पर डूबता उतराता रहा है, नारियों ने सदैव पुरुषों को सहायता प्रदान कर परिस्थितियों को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है । पुरुष ने अकेले ही निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण नहीं की है । सत्य तो यह है कि पुरुष अराजकता उत्पन्न कर सभ्यता की लम्बी दौड़ में वास्तविक संस्कृति को जन्म देने में सदैव असफल रहा है ।[1] इसके विपरीत नारियों ने पुरुषों को बराबर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा दी है । पुरुषों को अपना ममत्व, अपना आत्म-विश्वास तथा अपनी जीवन-संवेदना प्रदान कर वे सभ्यता के विकास का प्रयत्न करती हैं, क्योंकि पुरुष केवल अपने जीवन की व्यक्तिगत बातों के सम्बन्ध में ही सोचता है और वास्त-

1. "Woman must realise that man has uttenly failed in the long process of civilisation to produce true culture. Anarchy, chaos and discontent are the achievements of the man, because he has not understood the true importance and value of human being."

—वाई० एम० रीग : व्हीदर वुमन, (१९३८), लन्दन, पृ० २७५

विक मूल्यों की जीवन में अवहेलना करता है। पुरुषों का जीवन निर्दोष तथा श्रेष्ठ कभी नहीं स्वीकृत किया गया। वास्तव में पुरुषों में थोड़ी पशुता होती है, जिसका निराकरण वह पूर्ण निश्चय करके भी नहीं कर पाता। वह पशुता ही उसे पुरुष का रूप प्रदान करती है। विकासक्रम में वह नारी से कहीं पीछे है। जिस दिन वह विकास के चरमोत्कर्ष को स्पर्श कर लेगा, वह भी पूर्णतया नारी रूप हो जाएगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है और ये नारियों के सर्वप्रधान गुण हैं।[1] यही नहीं, नारी वफ़ा और त्याग का सजीव प्रतिबिम्ब है, जो अपने मूक त्याग से अपने अस्तित्व को पूर्णतया मिटाकर अपने पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। तन पुरुष का रहता है, पर आत्मा वस्तुतः नारी को ही होती है। पुरुष अपना अस्तित्त्व इसलिए नहीं मिटाता कि उसमें इसकी सामर्थ्य ही नहीं है। यदि वह अपने को मिटाएगा तो शून्यता की स्थिति में पहुँच जाएगा।[2] नारी की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः स्पष्ट है कि मानव-जीवन की पूर्णता नारी को लेकर ही है। नारी के अभाव में समाज अपूर्ण है, मानव जीवन अपूर्ण है, यह सृष्टि मूल्यहीन है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का वास्तविक रूप प्रेमचन्द के आगमन के पश्चात् ही निखरा। मानव-जीवन के साथ उपन्यास का निकटतम सम्बन्ध तभी स्थापित हो पाया था और तभी उपन्यासों में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब सत्य अर्थों में प्रस्तुत किए जाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ था। अतः प्रेमचन्द के आगमन के पश्चात् एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। इस नये युग में नारी के ऊपर से उस भोंडे, कृत्रिम और अविश्वासपूर्ण आवरण को उतारकर जिसे प्रेमचन्द पूर्व काल के उपन्यासकारों ने अपनी तथा कथित आदर्शवादिता एवं सुधरवादिता के जोश में आकर पहना दिया था और जिसके फलस्वरूप नारी का स्वरूप बोझिल ही नहीं हो गया था, आडम्बर-पूर्ण और अविवेकपूर्ण-सा प्रतीत होने लगा था। नारी की आत्मा को उसकी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ प्रेमचन्द ने पहली बार यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। इस काल में नारी समाज के सम्मुख एक भीषण प्रश्न चिन्ह के रूप में उपस्थित थी। दहेज प्रथा, अपने भयंकर रूप में सामाजिक अभिशाप बन कर नारियों के सुखमय जीवन में विष घोल रही थी। वैधव्य और वेश्यावृत्ति की भयानक छायाएँ नृत्य कर रही थीं, जिसकी आवाज़ में नारी की कल्पनाएँ, उनके सुनहरे भविष्य और सुख-सन्तोष की भावनाएँ डूबकर निष्प्राण हो गई थीं। समाज अट्टहास कर रहा था और नारियाँ अनमेल विवाह का शिकार बन अभिशप्त जीवन व्यतीत कर रही थीं। यद्यपि शिक्षा का प्रसार नारियों में हो रहा था, पर उसे वह गति नहीं प्राप्त हो रही थी जो प्राप्त होनी चाहिए थी। नारी की आर्थिक परतन्त्रता

---

१. प्रेमचन्द : कर्मभूमि, (१९३२) बनारस, पृ० २०९

३. प्रेमचन्द : गोदान, (१९३६), बनारस, पृ० १५४

ज्यों-की-त्यों विद्यमान थी और वे पुरुषों के आश्रित थीं। परिवार टूटते जा रहे थे और उस विशृंखला में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उभर रहा था। इन समस्याओं को प्रेमचन्द ने अपने विभिन्न उपन्यासों में चित्रित करने का प्रयत्न किया। पर उनके चित्रण में दुर्भाग्य से यथार्थवादी छाया कम है, आदर्शवादी लेप अधिक। हाँ, यह बात अवश्य है कि पिछले काल की तुलना में यह आदर्शवादी लेप अत्यन्त न्यून मात्रा में था और केवल समस्याओं के समाधान तक ही सीमित था, समस्याओं को उन्होंने यथार्थवादी ढंग से ही प्रस्तुत किया था।

इस न्यून मात्रा में प्रयुक्त आदर्शवाद ने भी नायिकाओं के स्वरूप को यथेष्ट मात्रा में प्रभावित किया और यदि विकासक्रम की दृष्टि से परिलक्षित किया जाए तो प्रेमचन्द की नायिकाएँ पिछले काल की नायिकाओं से, जहाँ तक आदर्शवाद का प्रश्न है, कुछ विशेष भिन्न नहीं हैं। यदि कोई अन्तर है, तो मात्र इतना ही कि उनका स्वरूप काफी जाना-पहचाना-सा प्रतीत होता है, और यदि उन्हें यांत्रिक न बनाया गया होता, तो कदाचित् वे साहित्य की अमर नायिकाएँ होतीं। यहाँ यह समझ लेना ज़रूरी है कि प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में नायिकाएँ नहीं हैं। चार-पाँच उपन्यासों को छोड़कर उनके सभी उपन्यासों में प्रधान नारी पात्र ही चित्रित की गई हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ नायिकाओं के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

उपन्यास में पात्र-योजना कथावास्तु के अनुसार की जाती है। उपन्यास की कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक होगी, तो उसकी पात्र-योजना भिन्न प्रकार की होगी। सामाजिक उपन्यासों की पात्र-योजना और प्रकार की होगी। उपन्यास में यदि नारी-समस्या को उठाया जाएगा तो उसकी पात्र-योजना भिन्न होगी। इस पात्र-योजना में नारी पात्रों की प्रमुखता हो या पुरुष पात्रों की, उनका परस्पर अनुपात क्या हो यह कथानक के स्वरूप पर निर्भर करता है। पर प्रायः होता यही है कि उपन्यसों में पुरुष पात्रों के साथ नारी पात्रों को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया जाता है। शायद ही कोई ऐसा उपन्यास हो, जिसमें मात्र पुरुष पात्र ही हों और उनमें नारी पात्रों का पूर्णतया बहिष्कार हो। इसके कारण स्पष्ट हैं। हम यह स्वीकृत करते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज की सीमाओं में ही टूटता-बनता है। उसकी आस्थाएँ, मान्यताएँ और विचारधाराएँ सामाजिक परिवेश में जन्म लेती हैं, विकसित होती हैं या विच्छिन्न होकर बिखरती हैं। उसकी कल्पनाएँ समाज में प्राण पाती हैं और उसके स्वप्नों तथा उसकी आकांक्षाओं की साकारता भी समाज में ही सिद्ध होती है। अर्थात् मनुष्य और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। बिना मनुष्यों के समाज कैसा और बिना समाज के मनुष्य क्या और उसका महत्त्व क्या ? इस समाज में केवल पुरुष ही नहीं, नारियाँ भी हैं। दोनों से मिलकर ही समाज की रचना पूर्ण होती है। फिर उपन्यास तो हमारे मानवीय जीवन के

प्रतिबिम्ब होते हैं। हम जो जीवन जीते हैं वही उपन्यास में चित्रित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए जब उपन्यासों की पात्र-योजना निश्चित की जाती है 'तो उसमें नारी-पात्रों को भी समान भाग दिया जाता है।

नारी-पात्रों में नायिका का प्रमुख स्थान होता है। यहाँ नायिका का वही अर्थ ग्रहण किया गया है जो अंग्रेजी में Heroine शब्द का है। उपन्यास में नायिका ही सर्वप्रमुख नारी पात्र होती है। सामान्यत: उपन्यास के नायक की प्रेयसी अथवा पत्नी ही नायिका कहलाती है। पर यह प्रत्येक अवस्था में आवश्यक नहीं है और न कोई अनिवार्य नियम ही। नायिका की सर्वथा भिन्न सत्ता हो सकती है और वह इस रूप में चित्रित की जा सकती है कि नायक से उसका कोई विशेष सम्बन्ध न हो। उपन्यास में नायक और नायिका दोनों का होना भी अनिवार्य नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि उपन्यासकार उपन्यास में नायिका को महत्त्व प्रदान करे और अनिवार्य रूप से उसकी सृष्टि करे। यहाँ स्वभावत: प्रश्न उठता है कि नारी पात्रों में नायिका का स्थान किसे प्रदान किया जाए? अर्थात् नायिका की परिभाषा क्या हो? उपन्यास के नारी पात्रों में कोई-न-कोई नारी ऐसी होती है जो कथानक का नेतृत्व करती हुई उसे अन्तिम उद्देश्य तक ले जाती हुई प्रतीत होती है। उसका व्यक्तित्व शेष सभी नारी पात्रों के सामान्य स्तर से ऊपर उठा हुआ प्रतीत होगा। वह पाठकों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित करती चलती है और पाठकों को यह अनुभव होता है कि उनन्यासकार किसी विशेष दृष्टिकोण से उस नारी पात्र को प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही वह उसके चरित्र चित्रण की ओर उसके व्यक्तित्व को निखारने, सँवारने में विशेष रूप से प्रयत्नशील रहता है। उपन्यास का जो भी उद्देश्य होता है, उसका अन्त इसी प्रमुख नारी पात्र से सम्बन्धित होता है। उपन्यास और फलागम की स्थिति इसी प्रमुख नारी पात्र को प्राप्त होती है। इसी प्रमुख नारी पात्र को नायिका कहते हैं और उसकी परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है: नायिका का उपन्यास के कथानक के विकास क्रम में सर्वप्रमुख स्थान होता है और उपन्यास के फलागम की स्थिति उसे ही प्राप्त होती है।

हम इसी आधार पर प्रेमचन्द के उपन्यासों में नायिकाओं की परीक्षा करेंगे। प्रेमचन्द का नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट था। वे चाहते थे, 'साहित्य जीवन की आलोचना और व्याख्या करे।'[1] उनका सारा साहित्य इसी उद्देश्य की अभि-व्यक्ति है। अपने साहित्य में उन्होंने नारियों को इसीलिए प्रमुख स्थान दिया है, क्योंकि जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, बिना नारियों के जैसे यह मानव जीवन अपूर्ण है वैसे ही साहित्य भी। प्रेमचन्द ने जिस समय साहित्य-रचना आरम्भ की थी, भारत में नारियों की स्थिति विशेष अच्छी न थी। उनकी दयनीय स्थिति थी। वे हेय और पति के चरणों की दासी समझी जाती थीं।

१. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य। (१९४६) पृ० १०४

पुरुष उनका शोषण करते थे और स्वयं प्रेमचन्द के अनुसार 'पुरुष ने नारी का शोषण करने के लिए कायदे-कानून बनाये हैं। उसी तरह जैसे ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने हम लोगों को। जैसे हम लोगों के मूर्ख होने से सरकार को लाभ है वैसे ही स्त्रियों को मूर्ख बनाने से पुरुषों का।'[१] प्रेमचन्द ने जितनी भी नायिकाओं की परिकल्पना की है। उनकी पृष्ठभूमि में यह दृष्टिकोण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वे नारियों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर उन्हें ऊपर उठाना और उसे समाज में श्रद्धा की पात्री बनाना चाहते थे। इसीलिए उनके अधिकांश नारी-पात्र आदर्श रूप में चित्रित किए गए हैं। वास्तव में इसका कारण यही था कि प्रेमचन्द का सारा साहित्य आदर्शवाद से अनुप्राणित था। उनके विचार से नारी पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है। शान्ति-सम्पन्न और सहिष्णु है। नारी में यदि पुरुष के गुण आ जाएँ तो वह कुलटा हो जाएगी। पुरुष और नारी के कर्म-क्षेत्र अलग-अलग हैं। नारियों का पुरुषों के कर्म-क्षेत्र में पदार्पण करना अनुचित है। प्राणियों के विकास में स्त्री का पद पुरुषों के पद से श्रेष्ठ है। क्योंकि नारी में प्रेम, त्याग, श्रद्धा एवं वात्सल्य है। पुरुष इससे वंचित है। पुरुष की हिंसा, द्वेष एवं कपट-व्यवहार मानवता को निम्न स्तर पर ला पटकते हैं। इसीलिए नारियाँ पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ हैं जितना प्रकाश अँधेरे से। इसके कारण स्पष्ट हैं। उनके अनुसार नारियाँ केवल माँ हैं। और कुछ नहीं। इसके अतिरिक्त वे जो कुछ भी करती हैं, उसी मातृत्व का उपक्रम मात्र है। प्रेमचन्द के अनुसार मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, त्याग एवं महान् विजय है। नारियों को अपने जीवन का, व्यक्तित्व का एवं नारीत्व का लय कर देना चाहिए। यही उसकी महानता है।

प्रेमचन्द नारियों के आदर्श प्रेम में विश्वास रखते थे। विवाह-पूर्व शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होना अथवा अन्य घृणित कार्यों को वे परम्परा-विरुद्ध मानते थे। उनकी जितनी भी नायिकाएँ या प्रधान नारी मात्र प्रेमिकाओं के रूप में चित्रित की गई हैं। सभी में आदर्श प्रेम है। वे कभी अपने कर्त्तव्यपथ से च्युत नहीं होतीं और न अपनी आत्मा का हनन कर आत्म-प्रवंचना का शिकार होती हैं। चाहे वह 'रंगभूमि' की सोफ़िया हो या 'गोदान' की मालती या 'वरदान' की विरजन—सभी में प्रेम का उच्च रूप मिलता है। हालाँकि ये सभी प्रधान नारी पात्र ही हैं, नायिकाएँ नहीं। सोफ़िया का विनय से प्रेम आध्यात्मिक स्तर पर था। प्रेमचन्द ने 'जमाना' के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम को एक पत्र में लिखा था कि, 'मैंने सोफ़िया का चरित्र मिसेज़ ऐनी बिसेण्ट से लिया है। यह सच है।' सोफ़िया मिसेज़ ऐनी बिसेण्ट की तरह एक विश्व धर्म (Cosmopolitanism) में विश्वास करती है। प्रेमचन्द की धारणा थी कि प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं।

---

१. शिवरानी देवी : प्रेमचन्द : घर। (१९५६) पृ० २६

ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिए हैं, जिसका अन्त विवाह है ; उस प्रेम के लिए नहीं, जिसका अन्त बलिदान है। यद्यपि सोफ़िया की परिकल्पना का एक और उद्देश्य हिन्दू-क्रिश्चियन एकता का चित्रण भी था। ठीक उसी प्रकार 'कर्म-भूमि' में अमरकांत और सकीना का प्रेम चित्रित कर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को दृढ़ करने का प्रयत्न किया था।

प्रेम की पवित्रता 'कायाकल्प' (१९२६) की नायिका मनोरमा के चरित्र में भी लक्षित होती है। मनोरमा अत्यन्त भावुक है और एक प्रकार से भावना के आधार पर ही जीवित रहना चाहती थी। वह प्रारम्भ से ही चक्रधर के प्रति एक विशेष भाव रखती है जिसका निर्णय वह स्वयं नहीं कर पाती कि वह चक्रधर के प्रति प्रेम है अथवा अध्यापक होने के नाते मात्र श्रद्धा। पर धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट होती जाती है और वह चक्रधर से मन-ही-मन सचमुच प्रेम करती है। वह तीव्र चेतना सम्पन्न है। उसमें तर्क की शक्ति है और अपनी बात को अधिक प्रभाव-शाली ढंग से कहने का एक विशिष्ट ढंग है। अपने मन की धारणा वह कई बार जाने-अनजाने में चक्रधर के सम्मुख स्पष्ट भी करती है। पर चक्रधर बराबर उसकी उपेक्षा करता है। किन्तु इस अपेक्षा में मनोरमा की भावना मरती नहीं। उसके प्रेम की प्यास अधिक तीव्र होती जाती है। उसका कोई विशेष सार्वजनिक जीवन नहीं है। वह चक्रधर की भाँति खुले रूप से आन्दोलनों में भाग नहीं लेती। जुलूसों का नेतृत्व नहीं करती। हाँ, सहानुभूति अवश्य रखती है। पर वह भी चक्रधर के ही कारण। वह दीन-जनों की सहायता भी करना चाहती है, तो केवल अपने प्रेम के कारण। वह प्रेम की एक जलती हुई ज्योति है। प्रारम्भ में वह चपल है, वाचाल है और तरह-तरह से चक्रधर पर अपना प्रेम प्रदर्शित करती है। जब चक्रधर उसे समझ नहीं पाता तो उसका प्रेम श्रद्धा में परिणत हो जाता है। वह बचपन से ही मातृ-स्नेह से वंचित रहती है। इसलिए चक्रधर को देखते ही उसकी स्नेह-भावना उमड़ पड़ती है और जैसे वह अपने मन का सारा पवित्र दुलार चक्रधर पर उँड़ेल देना चाहती है। पर इसमें असफल रहती है, तो धीरे-धीरे एक अव्यक्त विद्रोह उसके मन में जन्म लेने लगता है। उसकी गहन मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उसकी चेतना पर होती है और उसका स्वभाव परिवर्तित होने लगता है। वह एक दार्शनिक की भाँति जटिल एवं दुर्बोध बन जाती है।

जब राजा विशालसिंह से विवाह का प्रश्न आता है, तो वह अपनी आत्मिक शक्ति का दमन करती है। वह किसी भी रूप में राजा साहब से विवाह नहीं करना चाहती थी। पर उसने अपनी इच्छा, अपनी भावना और अपने सपनों को जबर्दस्ती कुचल दिया। यद्यपि वह पहले से सोचा करती थी कि, 'जो विवाह लड़की की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है। वह विवाह ही नहीं है।[1] पर इसके बावजूद वह केवल

१. प्रेमचन्द : कायाकल्प (१९२६) (बनारस) पृ० ४६

पारिवारिक मर्यादा एवं सामाजिक परम्परा के निर्वाह के लिए विवाह करने को तैयार हो जाती है । वह न तो अपनी परम्परा को समाप्त करना चाहती थी और न चक्रधर के प्रभाव को ही । इसलिए उसने बीच का रास्ता अपनाया । वह जानती थी कि चक्रधर की कार्य-प्रणाली में धन की सबसे बड़ी कमी है । उसने सोचा कि राजा विशालसिंह से विवाह कर चक्रधर के मार्ग का रोड़ा दूर किया जा सकता है । एक स्थल पर वह इसे स्वीकार भी करती है, "...जब मैंने देखा कि आपकी परोपकार कामनाएँ धन के बिना निष्फल हुई जाती हैं, जो कि आपके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है, तो मैंने उसी बाधा को हटाने के लिए यह बेड़ी अपने पैरों में डाली। मैं जो कुछ कह रही हूँ, इसका एक-एक अक्षर सत्य है । मैं यह नहीं कहती कि मुझे धन से घृणा है । नहीं, मैं दरिद्रता को संसार की विपत्तियों में सबसे दुःखदायी समझती हूँ । लेकिन मेरी सुख-लालसा किसी भले घर में शान्त हो सकती थी । उसके लिए मुझे जगदीशपुर की रानी बनने की जरूरत न थी । मैंने केवल आपकी इच्छा के सामने सिर झुकाया है ।'[1]

पर इससे मनोरमा को क्या मिला ? कुछ भी नहीं । वह सुखी नहीं हो सकी । राजा साहब के यहाँ किसी बात की कमी नहीं थी । स्वयं मनोरमा में ईर्ष्या द्वेष तथा वस्त्राभूषणों से प्रेम न था । वह चक्रधर के प्रभाव में आकर पूर्णतया सादगी का जीवन व्यतीत करती थी । उसके पास बुद्धि, दूरदर्शिता थी और राजा विशालसिंह ने रियासत के प्रबन्ध का सारा उत्तरदायित्व एक प्रकार से उस पर डाल दिया था । पर इतना होने के बावजूद, 'कविता' में सब रस थे पर शृंगार रस नहीं था । वह राजा साहब के यहाँ पहले वाली मनोरमा न रह गई थी । उसमें असीम धैर्य था । उसका हृदय अत्यन्त विशाल था, त्याग की अनुपम भावनाएँ थीं, करुणा थी । पर विशालसिंह के यहाँ जैसे वह अपने जीवन से निराश हो जाती है, उसकी इच्छाएँ मिट जाती हैं । वह अपमानित होती है, पर उसका नारीत्व नहीं समाप्त होता । उन विषम परिस्थितियों में भी वह अपना अस्तित्व बनाये रखने का भरसक प्रयत्न करती है । वह एक दम से वहाँ बदल जाती है । इस प्रकार मनोरमा का चरित्र एक भावना से प्रारम्भ होता है और एक भावना से ही समाप्त होता है । वह अन्त में चिड़िया पालने के शौक को जन्म देती है, मानों अपने तन-मन के साथ एक दिन उन्हीं पक्षियों की भाँति कहीं दूर गगन की छाँव में शान्ति के लिए उड़ जाना चाहती है । मनोरमा की परिकल्पना का उद्देश्य धनी वर्ग और निर्धन वर्ग की विषमता के परिप्रेक्ष्य में नारी के त्याग, आदर्श एवं मर्यादा का चित्रण करना ही था ।

गृहस्थ जीवन की सफलता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अनमेल विवाह है ।

---

१. प्रेमचन्द : कायाकल्प (१९२६) 'बनारस' पृ० १९५

ऐसी नारियाँ जीवन भर दारुण दुःख सहती हैं। समाज में ऐसी नारियों का बाहुल्य पहले भी था, आज भी है और कदाचित् आगे आनेवाले उस युग तक रहेगा, जब तक वर्तमान मान्यताओं और व्यवस्था में पूर्ण रूप से परिवर्तन नहीं हो जाता। पर उपन्यासों में ऐसी नारियों के चित्रण के प्रयास बहुत ही कम क्या, नहीं के बराबर हुए हैं। प्रेमचन्द के 'निर्मला' (१९१२-१३) की नायिका निर्मला एक ऐसी ही नारी के रूप में चित्रित की गई है जो अपने अनमेल विवाह के कारण जीवनभर करुणा एवं दुःखग्रस्त रहती है। इस असंगति के कारण एक भरा-पूरा हँसता परिवार विनाश की कालिमा के नीचे ढक जाता है और उसकी सुख-शान्ति समाप्त हो जाती है। निर्मला के पिता का देहान्त हो जाता है और विपत्तियों का पहाड़ यहीं से शुरू होता है। उसकी माँ कल्याणी द्वारा अच्छा दहेज न दे सकने के कारण उसका विवाह तोताराम से हो जाता है, जिसके पहले ही तीन पुत्र हैं। सबसे बड़े पुत्र मनसाराम की आयु सोलह वर्ष की है और निर्मला इससे छोटी है। भाग्य की विडम्बना और समाज की क्रूर परम्पराओं ने बेचारी निर्मला को अपने से अधिक आयुवाले पुत्र की माता बना दिया। निश्चित था कि विवाह के पश्चात् निर्मला और तोताराम के जीवन में असन्तोष उत्पन्न हो, कटुता उत्पन्न हो और परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि दोनों उससे बच न सके। निर्मला की परिस्थितियों का लेखक ने बड़ा ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, "वह अपना रूप और योवन उन्हें न दिखाना चाहती थी क्योंकि वहां देखने वाली आँखें न थीं। वह इन्हें इन रसों का आस्वादन करने के योग्य न समझती थी। कली प्रभात समीर के ही स्पर्श से खिलती है। दोनों में समान सारस्य है। निर्मला के लिए वह प्रभात समीर कहाँ था?"[1]

निर्मला के पास सौन्दर्य की कमी न थी। वह एक खिलती हुई कली थी और उसके मुखमण्डल पर एक स्वर्गीय आभा प्रदीप्त रहती थी। वह जब कभी भी अपने आभूषण पहनती, शृंगार करती और दर्पण के सम्मुख खड़ी होती, तो जल उठती। उस अनमेल विवाह में एक सुन्दर युवती की मनोरम कल्पनाएँ, दुल्हन बनने के सपने, सुख-सन्तोषपूर्ण जीवन की इच्छाएँ और अपनी संतानों को पाल-पोस कर ऊँची शिक्षा देने की सारी हरसतें जलकर राख हो गई थीं। और यही नहीं, समस्या सिर्फ विवाह तक ही सीमित न थी। उसके चारों तरफ की परिस्थितियाँ भी विचित्र थीं। यदि वह अपनी सौत के पुत्रों को प्यार देती है, अपने मन का सारा दुलार उन पर उँड़ेलती है, ममता देती है, तो पति की संशयावस्था का कारण बनती है और यदि ऐसा नहीं करती, तो समाज की प्रताड़नाओं का शिकार बनती है। ऐसी बिषम परिस्थितियों में मानसिक सन्तुलन बनाए रखना बड़ा कठिन होता है और निर्मला के मानसिक अन्तर्दन्द्व के कुशल मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण ही

१. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३) 'बनारस' पृ० ३८

निर्मला का चरित्र इतना स्वाभाविक और प्रभावशाली बन पड़ा है।

निर्मला के चरित्र की दो बातें मुख्य हैं। उसके एक ओर कर्त्तव्य है, दूसरी ओर प्रेम। धैर्य एवं सहनशीलता के साथ अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई वह कर्त्तव्य की ओर उन्मुख होती है। बाबू तोताराम के यहाँ वह गृहस्थी का भार सँभाल लेती है और अपना कर्त्तव्य-पथ पहचानने की कोशिश करती है। और एक बार जब वह अपना कर्त्तव्य-पथ पहचान लेती है, तो बराबर उस पर चलती है। हाँ, वह पत्नीत्व के धर्म का पालन करने में असमर्थ रहती है। बाबू तोताराम के प्रति जो आकर्षण उसमें होना चाहिए, उसका अभाव हमें आरम्भ से ही मिलता है। "अबतक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी, अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी।"[1] मनसाराम को लेकर वह पति के सन्देह का कारण बनती है पर निर्मला सहनशील है, सहिष्णु है। मनसाराम को लेकर किये गए सन्देह को वह केवल इसलिए सन्देह रहने देना चाहती है कि सफाई देने की चेष्टा में पति का सन्देह कहीं और दृढ़ न हो जाए! वह कभी अपनी परिस्थितियों की विषमता से दूर नहीं भागती, साहस और आत्मविश्वास नहीं खोती। जब तक वह जीवित रही, अपनी सहनशीलता को चरमसीमा पर ले जाती है। उसमें कही भी कटुता, आक्रोश, ईर्ष्या या द्वेष का चिन्ह तक हम नहीं पाते।

निर्मला का चरित्र सचमुच बहुत ही आकर्षक है, मार्मिक है और आँखें खोलनेवाला है। वह एक 'टाइप' (Type) है, जो समाज में नारियों के इस वर्ग की प्रतिनिधि बनकर आती है, जो दहेज की कुप्रथा, अनमेल विवाह और असंगतियों के कारण जीवनभर असंतोष, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और विषम परिस्थितियों से संघर्ष करती रहती हैं और अन्त में उसी में मर जाती हैं। निर्मला के रूप में हम उस नारी को पाते हैं, जो कर्त्तव्य-पथ पर चलकर अपना जीवन समाप्त करती है। उसका न तो अपना अहं है, न अपनी लालसा, सभी कुछ ऐसा है, जैसे वह कर्त्तव्य एवं साहिष्णुता की पुतली बन गई हो। निर्मला की परिकल्पना का स्रोत भारतीय नारियों की गौरवशाली परम्पराओं में निहित है, जिनमें नारी परिवार और पति के लिए ही जीती है और मरती है। साथ ही विवाह की वह कुप्रथा भी जिसमें नारियों को विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता न प्राप्त थी। दहेज का कुप्रभाव और नरियों की आर्थिक परतन्त्रता आदि समस्याओं ने मिलकर निर्मला की रचना की प्रेरणा दी और प्रेमचन्द ने उसे पूर्ण सफलता के साथ प्रस्तुत भी किया। निर्मला का चरित्र समाज की उन सारी कुरीतियों को गहराई से कुरेदकर रख देता है,

---

१. प्रेमचन्द : निर्मला, (१९२२-२३) 'बनारस' पृ० ३७

जिसमें नारी अपना अस्तित्व खोती जा रही थी। प्रेमचन्द के मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रतिभा निर्मला के रूप में ही मुखरित हुई है और प्रथम बार हिन्दी उपन्यास-जगत में एक ऐसी नायिका का स्वरूप प्राप्त हुआ जिससे आन्तरिक भावों एवं विवशतापूर्ण परिस्थितियों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर समझने में पाठक सफल हुआ। यह एक नए विकास क्रम का सूचक था, जिसका विकास उत्तर-प्रेमचन्दकाल में हुआ। वास्तव में प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं और उनका उपन्यास 'निर्मला' हिन्दी का प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यास है, यह असंदिग्ध है। प्रेमचन्द को इस गौरव से वंचित करना दुराग्रह-मात्र है। निर्मला के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद बड़ी सफलता से स्पष्ट हुआ है।

भारतीय नारियों के जीवन में आभूषणों का अत्यधिक महत्त्व पहले से ही बहुत अधिक रहा है और आज इतनी प्रगतिशीलता के बावजूद वह कम नहीं होने पाया है। हर नारी की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि उसके पास आधुनिकतम फैशन के अधिकाधिक आभूषण हो जाएँ और समाज की, पास-पड़ौस की अन्य नारियों के सम्मुख उसका मस्तक गौरव से ऊँचा हो सके। समाज में ऐसी नारियों की कमी नहीं है, जो अपने पति की आर्थिक स्थिति भली-भाँति न समझकर आभूषणों पर जान दिए रहती हैं, पति से रूठती रहती हैं, अपना असंतोष प्रकट करती हैं, जिससे परिवार की सुख-शाँति नष्ट हो जाती है। 'गबन' (१९३०) की नायिका जालपा इसी प्रकार की नारी है। वह सामन्ती व्यवस्था में पालित-पोषित युवती है और पुरुष से इस बात की बांछा रखती है कि वह सही ढंग से उसका निर्देशन करे, पर जब पति इसमें असमर्थ रहता है, तो वह भी ग़लत मार्ग पर चलती है। पर एक बार जब वह वास्तविकता से परिचित हो जाती है, तो आभूषणों के प्रेम को त्याग देती है और अपने पति को पूर्णतया विनाश के गर्त में गिरने से रोकने और उसे परिस्थितियों से ऊपर उठाने का प्रयास करती है। यहाँ कदाचित् निर्मला आत्मव्यथा में ही घुल-घुलकर जान दे देती, मुँह से कुछ भी न कहती; पर जालपा आधुनिक युग की नारी के रूप में चित्रित की गई है। इसलिए उसमें क्रियाशीलता है। उसके चरित्र के परिवर्तन को कुछ आलोचकों ने अस्वाभाभिक बताया है, पर यदि जालपा के इस चरित्र-परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाए तो सारे आरोप भ्रान्तिभूलक सिद्ध होंगे। जालपा के चरित्र में बाल्यावस्था में केवल एक ही अवरोध है, उसका आभूषणों का प्रेम। उसके अवचेतन (unconsciors) मन पर उसकी गहरी प्रतिक्रिया अंकित रहती है और अवचेतन (unconsciors) मन की यह कुण्ठा उसके चरित्र को पूर्णतया विकसित नहीं होने देती। उसका बहका हुआ मन एक आलम्बन चाहता था, जिसके आश्रय से वह आगे बढ़ सकती। रमानाथ में उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई क्योंकि वह स्वयं ही दृढ़ इच्छा-शक्ति का न था पर जब जालपा के मन की यह ग्रंथि खुल जाती है, उसकी कुण्ठा दूर हो जाती है,

फिर तो वह अपनी स्वाभाविक राह चलती है। उसका यह चरित्र-परिवर्तन अत्यन्त स्वाभाविक एवं याथार्थ परिस्थितियों में हुआ है। उसके सम्बन्ध में भ्रांतियाँ इसीलिए होती हैं क्योंकि प्रेमचन्द 'मनोविज्ञान से शून्य' कथाकार समझे जाते हैं और उन्होंने बाद के दूसरे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की भाँति मनोविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली का अपने उपन्यासों में प्रयोग नहीं किया है।

विवाहोपरान्त नारियों के ऊपर अनेक गहन उत्तरदायित्व आ जाते हैं, जिनमें गृहस्थ जीवन का कुशलता से संचालन एवं उसकी सफलता का प्रमुख स्थान होता है। इसके लिए विवाह-पूर्व केवल पुस्तकीय शिक्षा ही उसके लिए पर्याप्त नहीं होती अपितु व्यावहारिक शिक्षा की भी बड़ी आवश्कता होती है। उसके अभाव में गृहस्थ जीवन की असफलता प्रायः निश्चित रहती है। इसके दुष्परिणाम भी होते थे। पति क्रोध में आकर पत्नी को घर से निकाल देता था और उसके सामने दो ही मार्ग रह जाते थे—या तो वह आत्महत्या कर ले या वेश्यावृत्ति अपनाले। 'सेवासदन' (१९१६) में सुमन का चरित्र उसी आधार पर विकसित होता है। वह उपन्यास की नायिका है। इस उपन्यास की प्रमुख समस्या वेश्या-समस्या नहीं है। इसमें प्रमुख रूप से नारी समस्या को लिया गया है, अर्थात् उस समय भारतीय समाज में नारी कितनी पराधीन थी। वैसे इसमें वेश्या-समस्या भी आ जाती है, पर सुमन वेश्याओं की प्रतिनिधि नहीं, इसी पीड़ित नारी वर्ग की प्रतिनिधि है। मात्र वेश्या जीवन का चित्रण करना प्रेमचन्द का उद्देश्य न था। वह तो सुमन के चरित्र का एक भाय था, इसलिए उसके चरित्र के अन्य पहलुओं पर विचार प्रकट करते हुए उन्होंने इस पर भी अपने विचार प्रकट किए थे। वास्तव में सुमन के माध्यम से प्रेमचन्द यह बताना चाहते थे कि लड़कियों की व्यावहारिक शिक्षा कितनी आवश्यक होती है, जिसके अभाव में उसकी नियति अत्यन्त भयंकर होती है। वे नारी-शिक्षा के दोनों पहलुओं के हिमायती थे और बराबर उसकी वकालत करते थे, इस दृष्टि से उन्हें सफलता प्राप्त हुई है।

'गोदान' में धनिया 'या मालती' 'कर्मभूमि' में सुखदा, 'रंगभूमि' में सोफिया तथा 'प्रेमाश्रम' में श्रद्धा या गायत्री नायिकाएँ नहीं हैं, प्रधान नारी पात्र ही हैं, पर इनके चरित्र-चित्रण में अन्ततोगत्वा एक बात स्पष्ट होती हैं कि भारतीय परम्पराओं एवं आदर्शों के उपयोगी तत्वों का तिरस्कार प्रेमचन्द नहीं चाहते थे। हाँ, रुढ़ियाँ उन्हें नापसन्द थीं। वे नारी-शिक्षा चाहते थे, तो व्यावहारिक शिक्षा भी जिससे कि गृहस्थ जीवन सफल हो। वे नारी की स्वतन्त्रता और वैवाहिक स्वतन्त्रता चाहते थे, पर इस रूप में नहीं कि वह उच्छृंखल बने। वे उसे हर दृष्टि से प्रगतिशील बनाना चाहते थे, पर भारतीय समाज के विरोधी स्तर पर नहीं। प्रेमचन्द की नायिकाएँ इसकी गवाह हैं।

●

: १४ :

प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास कला

—डॉ० जयकिशन प्रसाद

प्रेमचन्दजी और वर्माजी का साहित्यिक उद्भव एवं विकास एक ही साथ हुआ है फिर भी दोनों का व्यक्तित्व एकदम भिन्न है। साहित्यकार के व्यक्तित्व का उसके साहित्य पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए इन दोनों महान् लेखकों की उपन्यास-कला में भी एकदम भिन्नता है। क्या विषय, क्या कथोपकथन, क्या चरित्र-चित्रण क्या वातावरण और क्या भाषा-शैली, सभी बातों में दोनों लेखक एक दूसरे से भिन्न हैं। यहाँ हम दोनों की उपन्यास कला की तुलना उपन्यास के तत्वों के आधार पर करेंगे।

उपन्यास का प्रमुख एवं प्रथम तत्त्व कथावस्तु है। विषय की दृष्टि से प्रेमचन्द जी वर्मा जी से एकदम दूर हैं। प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा सामयिक-राजनैतिक परिस्थितियों का चित्रण किया हैं। इसमें भी उनको ग्राम्य जीवन से ही विशेष प्रेम है। उनके ग्राम्य जीवन के चित्रण में किसान और जमींदार तथा अन्य ग्रामीण वर्गों का समग्र चित्रण मिलता है। एक किसान के जीवन का संबंध ग्रामीण वातावरण में जितने वर्गों से हो सकता है उन सबका चित्रण प्रेमचन्द जी ने किया है। उनके कुछ उपन्यास केवल सामाजिक समस्याओं का चित्रण करते हैं। जैसे सेवासदन में उन्होंने केवल वेश्या-समस्या का चित्रण किया है। इस उपन्यास की केन्द्रीय समस्या वेश्या बनने का कारण, उनके द्वारा समाज में फैलनेवाली बुराइयों तथा इन गन्दे कीटाणुओं को समाज से दूर करने के उपायों का विश्लेषण है। साथ ही वेश्याओं के उद्धार का भी प्रयत्न 'सेवासदन' खोलने के रूप में प्रदर्शित है। इस समस्या के साथ ही लेखक ने ब्रिटिश पुलिश पद्धति की भी निन्दा की है—और इस प्रकार ब्रटिश सरकार की निन्दा करके अपनी राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति की है। इसी प्रकार 'निर्मला' उपन्यास में वृद्ध विवाह के दोष दिखाए हैं। इसमें युगों से दबी हुई नारी की दर्द-भरी कहानी है। केन्द्र में दहेज और दोहेजा विवाह को रखा है, किन्तु वैसे नारी की सभी अन्य

समस्याओं का समावेश भी कर दिया है। 'गबन' उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने मध्यवित्त वर्ग के समाज के ढकोसलों के बीच आदमी को ईमानदारी छोड़कर बेईमानी का रास्ता अपनाते हुए दिखाया है। प्रेमचन्द जी ने इस उपन्यास में समाज के ढकोसलों, पतिव्रत्य, दान तथा लीडरी के आडम्बरों की पोल खोली है। प्रेमाश्रम में प्रेमचन्द जी ने ग्रामीण जीवन का करुणापूर्ण चित्र उपस्थित करके जमींदार द्वारा जमींदारी का उन्मूलन ही ग्राम्य जीवन की समस्या के हल के रूप में प्रस्तुत किया है। गांधीवाद से प्रभावित होकर प्रेमचन्द जी ने इसमें आदर्श ग्राम्य जीवन अथवा रामराज्य का चित्रण किया है। सन् १९२४ में प्रेमचन्दजी ने 'रंगभूमि' उपन्यास में भारतीय समाज का विस्तृत प्रतिपालन करने का प्रयत्न किया। असहयोग आन्दोलन के असफल होने से जो सामाजिक और मानसिक वातावरण उत्पन्न हुआ उसी का आशावादी चित्रण इस उपन्यास में है। इसमें गांधीवाद के तरीकों के प्रति आस्था प्रकट की गई है। इस उपन्यास का सूरदास नामक पात्र भारत के स्वराज्य की कुञ्जी लेकर आया है। वस्तुतः इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी का मन असहयोग के आदर्शों के प्रति पूर्ण आस्था प्रकट करता है। 'कायाकल्प' में प्रेमचन्दजी ने जमींदारी प्रथा को ब्रिटिश शासन की एक अत्याचार-पद्धति के रूप में चित्रित किया है। सन् १९३० के बाद लिखी गई 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द जी ने ग्राम्य जीवन को आधार रूप में स्वीकार करके स्वराज्य का एकमात्र रास्ता अछूतोद्धार ग्राम्य-जीवन-निर्माण और राजनीतिक जाग्रति को बताया है। यह गांधीजी की स्वराज्य की कर्मभूमि है। इसमें सत्याग्रह के साथ ही ग्रामोद्धार एवं अछूतोद्धार का व्यवहारिक हल भी प्रस्तुत है। ग्राम्य-जीवन-निर्माण इसके केन्द्र में है।

'गोदान' की चर्चा करने से पहले प्रेमचन्द जी के प्रारम्भिक प्रयत्नों 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' की बात भी कह लें। 'वरदान' में प्रेमचन्द जी ने आदर्शों की सृष्टि की है किन्तु वे इस आदर्श सामाजिक उपन्यास में यथार्थ से बहुत दूर है। 'प्रतिज्ञा' में मानव-हृदय के सूक्ष्म मनोभावों का चित्रण है। प्रेमचन्द जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' है। यह एक महाकाव्यात्मक उपन्यास है। इसमें ग्राम्य जीवन और नगर-जीवन के सभी वर्गों का चित्रण है। गाँव में अगर किसान, महाजन, जमींदार, कारिन्दे, पटवारी, साहू, सहुआइन, ग्वाला, ग्रामीण जवान छोकरे, पंडित, दरोगा आदि सभी वर्ग का चित्रण है तो सम्पूर्ण शहरी जीवन के सभी वर्गों का चित्रण भी है। शहर में जमीदार (रईस), सम्पादक, अफ़सर, मिल मालिक, एसेम्बली के मेम्बर, प्रोफेसर, वकील, इंश्योरेंस के एजेन्ट, टल्लेनवीस आदि सभी वर्ग के पात्र अपने-अपने वर्गों का चित्रण करते हैं। इस उपन्यास के केन्द्र में होरी नाम का किसान है और ग्राम्य-सुधार एवं निर्माण की समस्या है। फिर भी

तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। सारांश यह है कि प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण जीवन का समग्र चित्र गांधीवाद और स्वराज्यवाद की भूमिका में चित्रित किया है। इस विषयवस्तु में प्रेमचन्दजी की दृष्टि आदर्शवाद की ओर रही है। उन्होंने अपनी उपन्यासकला को आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद की भूमिका पर प्रतिफलित किया है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा वर्तमान युग के उत्कृष्ट उपन्यासकार हैं। इन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे हैं। लेकिन यह अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिक सफल हुए हैं। हिन्दी-उपन्यास साहित्य में वर्मा जी ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। आपके ऐतिहासिक उपन्यास हैं—गढ़ कुंडार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी, मुसाहिबजू, छत्रसाल, सत्तर सौ बत्तीस, शाह गफूर, आनन्दमाधव, ललितादित्य, राणा साँगा, माधव जी सिंधिया, टूटे काँटे, मृगनयनी, कचनार। आपके सामाजिक उपन्यास नौ हैं—कुण्डलिचक्र, प्रत्यागत, हृदय की हिलोरें, प्रेम की भेंट, कभी न कभी, लगन, अचल मेरा कोई, शबनम, सोना। ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण पाँच हैं—गढ़ कुंडार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी, मृगनयनी और कचनार। सामाजिक उपन्यासों में तीन प्रसिद्ध हैं—लगन, अचल मेरा कोई और सोना।

वर्माजी को प्राचीन इतिहास और विशेषकर बुन्देलखंड के इतिहास से विशेष प्रेम है। इसलिए आपके उपन्यासों में बुन्देलखंड प्रदेश के कुंढार की गढ़ी, चन्देरी का किला, छतरपुर की टौरिया, झाँसी का किला, नरवर का किला, धामोनी की गढ़ी आदि को विशेष स्थान मिला है। आपने बुन्देलखण्ड के पहाड़ी और जंगली प्रदेशों, जंगली नदियों एवं प्राकृतिक चित्रों के प्रति अपना विशेष अनुराग प्रकट किया है। इसके साथ ही आपने इन प्रदेशों की सांस्कृतिक अवस्था का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है और उनमें रोमांस का मिश्रण करके अपूर्व रोचकता ला दी है। आपने अपने ऐतिहासिक कथानकों का गम्भीर प्रामाणिक अध्ययन किया है और फिर उन्हें सजीवता प्रदान करने के लिए सत्य की ओर संकेत करनेवाली परम्परा का मिश्रण कर दिया है। 'कचनार' के परिचय में वर्मा जी ने स्पष्ट लिखा है कि विदेशियों ने हमारे इतिहास का रूप विकृत करके प्रस्तुत किया है। आपने उसकी सच्चाई का गहराई से अध्ययन किया। उनका कथन इस प्रकार है—"परदेशियों के तोड़-मरोड़ कर लिखे हुए इतिहास, पटके खाए हुए उस चमकते हुए टीन के कनस्तर के समान हैं; जिसमें सुन्दर से सुन्दर चेहरा, अपने को कुरूप और विकृत पाता है। परन्तु परम्परा अतिशयता की गोद में खेलती हुई भी, सत्य की ओर संकेत करती है। इसलिए मुझको परम्परा इतिहास से भी अधिक आकर्षक जान पड़ती है।"

वर्माजी ने अपने ऐतिहासिक कथानकों में रोमांस, युद्ध, आखेट, सामाजिक

संघर्ष एवं राजनीतिक परिस्थितियों और वातावरण का चित्रण किया है। साथ ही इन्होंने कुछ आदर्श पात्रों की सृष्टि की है और कुछ ऐतिहासिक पात्रों का आदर्श रूप चित्रित किया है और उनमें त्याग, संयम, निष्ठा, दृढ़ता, स्वाभिमान, देश-प्रेम आदि महान् मानवीय गुणों का समावेश किया है। वर्माजी का क्षेत्र इस प्रकार प्रेमचन्द जी से बिल्कुल अलग हो जाता है। किन्तु अपने सामाजिक उपन्यासों में वर्माजी ने प्रेमचन्द जी की भाँति कुछ सामाजिक समस्याओं का स्वरूप तथा हल प्रस्तुत किया है किन्तु उन्होंने अपने इन सामाजिक उपन्यासों में भी वर्तमान जीवन को न लेकर कल्पित प्राचीन इतिहास को ही माध्यम बनाया है। 'सोना' नामक सामाजिक उपन्यास में कल्पित राजा-रानी का किस्सा है जिसके बीच में दहेज एवं लड़की के विवाह की समस्याओं का संकेत है। इस प्रकार इनके सामाजिक उपन्यासों के पात्र प्रेमचन्द जी के पात्रों की भाँति न होकर हमारे अपने समाज से दूर हैं। वर्माजी के उपन्यासों का वातावरण हमें बीते युग में ले जाता है। उनमें हम वर्तमान जीवन एवं परिस्थितियों की झलक न पाकर एक सांस्कृतिक वातावरण की झलक पाते हैं। 'लगन' उपन्यास में वर्माजी ने दहेज की समस्या का चित्रण किया है। इसी प्रकार अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में भी वर्माजी ने कुछ सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है। सारांश यह है कि कथावस्तु में प्रेमचन्द और वर्माजी दो भिन्न प्रकार के कथानक लेकर चलते हैं। दोनों की रुचि और सहानुभूति भिन्न है। वर्माजी को इतिहास के पुराने खण्डहरों से प्रेरणा मिलती है, स्मृति में एक गुदगुदी-सी पैदा हो जाती है और कल्पना कीं सहायता से वे इतिहास के मृत जीवन को सजीव बना देते हैं। प्रेमचन्द जी का मन भारत के दीन-दुःखी किसानों के जीवन में रुचि रखता है और गांधीवाद का सिद्धान्त ही उनके लिए आदर्श है। उन्होंने देश-प्रेम एवं स्वतन्त्रता को अपने उपन्यासों में कहीं विस्मृत नहीं किया। वे ग्रामीण जीवन के महान चितेरे हैं जबकि वर्माजी इतिहास के विस्मृत, सांस्कृतिक जीवन के सूक्ष्म, रोमांटिक एवं सजीव दृश्य प्रस्तुत करनेवाले सिद्धहस्त कलाकार।

जहाँ तक चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, वर्माजी ने कुछ ऐतिहासिक और कुछ कल्पित पात्रों में अपनी आदर्शकारी मनोवृत्ति और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का प्रयोग किया है। इनके पुरुष-पात्रों से स्त्री-पात्र अधिक आदर्श एवं सबल हैं। स्त्री को इन्होंने पुरुष और समाज का नेतृत्व करनेवाली शक्ति के रूप में चित्रित किया है। 'कचनार' उपन्यास की कचनार महान् नारी है। महन्त के मुख से लेखक ने अपना मत यों प्रकट किया है—"स्त्रियां मनुष्य की अपेक्षा अधिक बुद्धिमती और चतुर होती हैं। तथा तुम्हारी सरीखी स्त्रियाँ हमारे समाज में हो जायं तो घर-घर में उजाला छा जाय।" इस प्रकार वर्माजी ने अपने उपन्यासों में नारी पात्रों का उत्कर्ष दिखाया है। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई पूर्णतः ऐतिहासिक पात्र हैं, पर

लेखक ने अपनी लेखनी के आदर्शवादी स्पर्श से उन्हें आदर्श की प्रतिमा बना दिया है, उनमें दुर्बलता कहीं दिखाई ही नहीं पड़ती और यही नहीं, उनके सम्पर्क में आने वाले स्त्री पुरुष भी अधिकतर आदर्श ही हैं। इसी प्रकार 'मृगनयनी' की निन्नी, 'गढ़ कुंडार' की तारा, 'विराटा की पद्मिमनी' की पद्मिनी आदि आदर्श चरित्र हैं जिन्हें पुरुषों से अधिक उत्कर्ष प्रदान किया गया है। लेखक का स्त्री-पात्रों के प्रति सहानुभूति और उनका उत्कर्ष दिखाने का सबसे अच्छा उदाहरण उनके उपन्यासों का स्त्री पात्रों के नाम पर नामकरण होना है। कचनार, झाँसी की रानी, मृगनयनी, विराटा की पद्मिनी आदि उपन्यासों का नामकरण प्रमुख पात्री के नाम के आधार पर ही है। पुरुष पात्रों में भी कुछ आदर्श पात्र हैं जैसे 'कचनार' में दिलीप सिंह। लेकिन लेखक ने अपने पुरुष पात्रों को प्रारम्भ में साधारण मनुष्य दुर्बलताओं से भरा मानव के रूप में चित्रित करके उपन्यास के उत्तरार्द्ध में उनका उत्कर्ष दिखाया है। फिर भी, ऐसे आदर्श पुरुष पात्रों का नेतृत्व भी नारी ही करती है। इनके ऐतिहासिक तथा अन्य पात्र अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाले सजीव व्यक्ति हैं, टाइप या वर्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाले नहीं। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में प्रायः पात्र टाइप या वर्गगत विशेषताएँ लिये हुए हैं। लेकिन कुछ पात्र अमरत्व के गुणों से सम्पन्न तथा साहित्य की महान् निधि हैं। जैसे 'सेवासदन' की सुमन, 'गोदान' का होरी, 'कायाकल्प' का चक्रधर, 'रंगभूमि' का सूरदास, 'निर्मला' की निर्मला, 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर और 'कर्मभूभि' का अमरकान्त। प्रेमचन्द जी के पात्र उनकी आंदर्शवादी बने रहे हैं। प्रेमचन्द जी की स्त्री पात्र सामाजिक अन्याय को सहने वाली, उसकी आग में जलने वाली नारी हैं, किन्तु उनमें वर्मा जी के समान महान् आदर्शवादी नारी का रूप नहीं मिलता। वर्मा जी की कचनार, झाँसी की रानी, मृगनयनी, तारा महान् आदर्श को प्रस्तुत करती हैं।

वर्मा जी और प्रेमचन्द जी के चरित्र-चित्रण की एक विशेषता उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। वर्माजी ने ऐतिहासिक पात्रों को सजीवता प्रदान की, कुछ कल्पित पात्रों के सजीव चित्र प्रस्तुत किए—अपनी मनोवैज्ञानिक अन्तरदृष्टि के बल पर। उन्होंने मानव स्वभाव को रूप देने वाले अन्तर्मन का सूक्ष्म अध्ययन किया है। इसीलिए उनके पात्र इतने सजीव हैं कि वे हमें कल्पित नहीं जान पड़ते। 'मृगनयनी' में निन्नी और लाखी का चरित्र-चित्रण उनके आन्तरिक मनोभावों की पीठिका पर हुआ है। उनके कार्य कलाप, उनका स्वभाव, उनका जीवन उनके अन्तर्मन से सम्बन्धित है। निन्नी और लाखी के द्वारा व्यक्ति और समाज के संघर्ष का चित्रण है। वर्मा जी के सामाजिक उपन्यास 'अचल मेरा कोई' में उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि अधिक उभरी है। अचल, कुन्ती और सुधाकर इन प्रमुख पात्रों की मानसिक हलचल का, क्रिया-प्रक्रियाओं का कथानक में विकास के प्रमुख स्थान है। इस

उपन्यास में वर्माजी ने प्रेम-भाव का मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है। 'कचनार' उपन्यास की 'कचनार' का चरित्र वर्माजी की मनोवैज्ञानिक अन्तरदृष्टि का उत्कृष्ट नमूना है। कचनार के चरित्र द्वारा लेखक ने नारी-हृदय की गहराई और उसके हृदय की पीड़ा का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। 'कचनार' में दलीपसिंह के चरित्र द्वारा लेखक ने मानव स्वभाव की गुत्थियों पर भी प्रकाश डाला है। वस्तुतः इस उपन्यास में सभी पात्रों का चरित्र पूर्णतया: मनोवैज्ञानिक है। कलावती के ही चरित्र को लें, वर्माजी ने एक स्थान पर उसकी मनस्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है---"वैधव्य का साधारण चित्र कलावती की आँखों में जब तक आँसू ले आता था; मन के रिक्त स्थान में मानसिंह का चित्र विविध रूपों में आ जाता था, परन्तु उस रिक्त स्थान में मानसिंह को चिरकाल के लिए आसीन कर देने में सामाजिक बाधायें थीं। अपने भीतर उस साहस की कमी अवगत करके विधवा की परिस्थिति का चित्र कलावती के विवेक को झकझोर डालता था और इसीलिए वह देती थी।" इन पंक्तियों में नारी जीवन की विवशता, कलावती के रोने का असली कारण, उसके अन्तःकरण में दलीपसिंह की मृत्यु से होने वाली क्रिया प्रतिक्रिया का चित्रण लेखक की मनोवैज्ञानिक अन्तरदृष्टि का परिचायक है। अपनी इसी मनः-स्थिति और मानसिंह के प्रति प्रेमभाव के कारण कलावती ने मानसिंह से पुर्नविवाह कर लिया। किन्तु "कचनार बहुत कम रोई; वह चलती-फिरती संगमरमर की मूर्ति की तरह हो गई थी। कलावती को समझाते-समझाते वह अपने भीतरी मन को समझा बुझा लेती थी।" और यह स्वाभाविक ही था क्योंकि कचनार के हृदय में मानसिंह जैसे अन्य पुरुष की कल्पना ही नहीं थी। वह दलीपसिंह (अपने सच्चे प्रेमी) की मृत्यु के बाद अपना समय पूजा-पाठ, धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन में लगाने लगी। दूसरी ओर 'खेलने खानेवाली ललिता' है। "ललिता कलावती से भी अधिक रोती थी। वह स्वयं नहीं जानती थी कि क्यों। वह रो-रोकर कलावती को समझाती और अन्त में स्वयं कलावती को उसे सांत्वना देनी पड़ती।" इन पंक्तियों में ललिता की मनःस्थिति का सुन्दर चित्रण है। इस प्रकार वर्माजी के सभी उपन्यासों के पात्रों के चरित्र-चित्रण में उनकी मनोवैज्ञानिक अन्तरदृष्टि मुखरित हुई है।

प्रेमचन्द जी ने भी हमें पात्रों के अन्तर्जगत से परिचित कराया है। 'वरदान' से लेकर 'गोदान' तक उन्होंने बहुत से अमर पात्र दिए हैं। 'सेवासदन' की सुमन और 'निर्मला' की निर्मला का चरित्र पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' के मनोहर, बलराज और कादिर मियाँ के जीवन में लेखक ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम लिया है। इसीलिए इनके पात्र सजीव हैं। वस्तुतः जब तक हम पात्रों की मनःस्थिति का चित्रण नहीं पाते हम उनके क्रिया-कलाप

को ठीक तरह नहीं समझ पाते और तब हमें लेखक के वे कल्पित पात्र कल्पित ही लगते हैं । उनके प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत नहीं होती । जितनी पैनी उपन्यासकार की मनोवैज्ञानिक अन्तरदृष्टि होगी उतना ही वह अपने पात्रों को सजीव रूप में प्रस्तुत करने में सफल होगा । प्रेमचन्दजी के उपन्यासों के पात्रों की सजीवता के मूल में उनकी मानव-स्वभाव को परखनेवाली सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अन्तरदृष्टि ही है। इसीके बल पर वे ग्रामीण जीवन के विविध पहलुओं का, ग्रामीण मनुष्यों के जीवन की गुत्थियों का दिग्दर्शन कराने में सफल हुए हैं। उन्होंने शहरी जीवन का छिछलापन और उद्देश्यहीनता का भी संकेत किया है। अपने गांधीवाद के प्रति प्रेम को प्रेमचन्द जी ने मनोवैज्ञानिक भूमिका पर पात्रों के जीवन में उतारा है। 'गोदान' का होरी ग्रामीण जीवन की सारी बुराइयों और अच्छाइयों को अपने चरित्र में आत्मसात् किये हुए है। स्थान-स्थान पर होरी के कार्य कलापों के पीछे छिपी उसकी मनःस्थिति का चित्रण करके लेखक ने पाठक की सहानुभूति को उभारा है।

वर्माजी के ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यासों में कथोपकथन बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचन्द जी अपने उपन्यासों में अधिकांशतः वर्णन-प्रधान शैली को लेकर चलते हैं, वर्माजी ने अभिनयात्मक शैली को महत्त्व दिया है। इसीलिए वर्माजी के उपन्यासों में संवाद विशेष स्थान रखते हैं। इनके संवाद छोटे-छोटे तथा कथानक का विकास और पात्रों के चरित्रों का अभिनयात्मक दिग्दर्शन कराने में पूर्णतया समर्थ हैं। कहीं-कहीं रोमांस के प्रसंगों में यह संवाद बहुत सरस हो गए हैं। संवादों की योजना से वर्मा जी के उपन्यासों में सजीवता आ गई है। इन्होंने दार्शनिकता पूर्ण वार्तालाप एवं बड़े-बड़े भाषणों को स्थान नहीं दिया है। इनके कथोपकथनों में मुहावरों का, विशेषकर बुन्देलखंडी स्थानीय मुहावरों का सुन्दर प्रयोग है। पात्र यथा विषय के अनुकूल स्वाभाविकता उपयुक्तता और चुस्ती है। वार्तालाप में व्यर्थ तथा सारहीन शब्दों एवं वाक्यों की भरती नहीं की गई। 'कचनार' में कचनार और दिलीपसिंह का निम्नलिखित वार्तालाप बढ़ा व्यंग्य पूर्ण, मार्मिक एवं सारगर्भित है—

"दिलीपसिंह ने पानी पीकर कहा, 'मैं राजकाज में तुम्हारी सलाह सम्मति लिया करूँगा। तुम बहुत चतुर हो।'

कचनार के ओठों के एक कोने पर व्यंग की क्षीण मुस्कराहट आई। बोली, 'अभी तो आपने मुझको बातूनी कहा था।'

दिलीपसिंह—'चतुर लोग ही तो बहुत बात कर सकते हैं।'

कचनार—"मैं अभी तक यह सुनती आई थी कि चतुर लोग चुप अधिक रहते हैं।"

दिलीपसिंह चुप हो गया। कचनार धरती की ओर देखने लगी। थोड़े क्षण उपरान्त दिलीपसिंह ने कहा, 'बिना भाँवर के भी बहुत-सी सुन्दर स्त्रियाँ बड़े-बड़े राजा महाराजाओं के रनवास में जन्म भर बनी रहती हैं।''

कचनार बिना किसी भय या संकोच के बोली, 'ऐसी स्त्रियों का नारीत्व नष्ट हो गया होगा और वैसे राजा महाराजाओं को मैं तो बड़ा नहीं कह सकती।'

'तो क्या वे सब नीच हैं ?'

'मैं आपकी चाकरनी होकर क्या उत्तर दे सकती हूँ।' ''

उक्त कथोपकथन में कचनार के चरित्र का दलीपसिंह से उत्कर्ष स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कचनार में दृढ़ता है, स्वाभिमान है, हाजिरजबाबी है और व्यवहार-कुशलता है। दिलीपसिंह उससे तर्क में हार जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्माजी के उपन्यासों में उनके सीधी सरल भाषा में व्यक्त कथोपकथन बड़े मार्मिक एवं सजीवता लिये हुए हैं। वे पात्रों के चरित्र के विविध पहलुओं को हमारे सम्मुख चित्र की भाँति उपस्थित करते हैं और कथासूत्र को भी आगे बढ़ाते चलते हैं। उनमें भावों को उचित रूप में व्यक्त करने के सभी गुण हैं, जैसे वीर रस को व्यक्त करनेवाले सवांद ओजपूर्ण हैं और प्रेम प्रसंग की अभिव्यक्ति करने वाले भावुकतापूर्ण और मृदु।

प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में कथोपकथन का इतना महत्त्व नहीं है। उसके कथोपकथन अधिकतर साहित्यिक हैं। कहीं-कहीं कथोपकथन बहुत अधिक दार्शनिकता-पूर्ण और लम्बे हो गए हैं। अपने उपन्यासों में उन्होंने जहाँ लम्बे-लम्बे भाषणों की योजना की है वहाँ उनके संवाद नीरस हो गए हैं। लेखक कथा के प्रवाह को भूल कर भाषाओं में रम जाता है और कथा का प्रवाह रुक जाता है। 'गोदान' में प्रोफेसर मेहता के कथोपकथन एवं भाषण ऐसे ही हैं। उपन्यास में कथोपकथनों की योजना से जो अभिनयात्मकता एवं सजीवता आ जाती है वह लम्बे एवं दार्शनिकता-पूर्ण संवादों से नष्ट हो जाती है। किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में मार्मिक संवादों की भी कमी नहीं है। उन्होंने अपने संवादो में अपने पात्रों का चित्र ही नहीं प्रस्तुत किया, वरन् कथानक को भी विकसित किया है। मानसिक भावों का चित्र उपस्थित करनेवाले उनके संवादों का एक गोदान का उदाहरण देखिए—

'होरी ने भर्राई हुई आवाज में कहा—'मैंने पाई-पाई लगान चुका दिया। वह कहते हैं तुम्हारे ऊपर दो साल की बाकी है.........'

गोबर ने पूछा—'तुम्हारे पास रसीद तो होगी ?'

'रसीद कहाँ देता है ?'

'तो तुम बिना रसीद लिये रुपये देते ही क्यों हो।' '' इस वार्तालय में होरी

की सरलता और गोबर की चतुराई स्पष्ट झलकती है। सीधी सादी भाषा ग्रामीणों का वार्त्तालाप प्रेमचन्द की संवाद-योजना की विशेषता है।

वर्माजी ने अपने उपन्यासों में वातावरण तथा देशकाल का भी सुन्दर चित्रण किया है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक देशकाल को सजीव रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसी काल की भाषा, रीति-रिवाज, वेष-भूषा की योजना की है। अपनी कल्पना शक्ति से वर्माजी ने प्राचीन राजाओं के जीवन, उत्सव, त्यौहार, जनता के प्रति व्यवहार का सजीव चित्रण किया है।

'झाँसी की रानी' उपन्यास की भूमिका में लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने अधिक से अधिक वातावरण पर ध्यान रखा है। इसके लिए लेखक ने बहुत खोजबीन की—"सन् १९३२ में मैं इन अनुसंधानों में लगा। कलक्टरी में कुछ सामग्री मिली। १८५७ में लोगों के बयान लिये गए थे। इनको मैंने पढ़ा। इनको पढ़कर मैं अपने विश्वास में दृढ़ हुआ—रानी 'स्वराज्य' के लिए लड़ी थीं। मैंने निश्चय किया कि उपन्यास लिखूँगा, ऐसा जो इतिहास के रंग रेशे से सम्मत हो और उसके सन्दर्भ में हो। इतिहास के कंकाल में माँस और रक्त का संचार करने के लिए मुझको उपन्यास ही अच्छा साधन प्रतीत हुआ।"

'झासी की रानी' में वर्माजी ने तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण का सुन्दर चित्रण किया है। मनोभावों की पृष्ठभूमि में प्रकृति-चित्रण भी बड़ा सजीव हुआ है। प्रकृति के भयंकर एवं भयावने चित्र भी उपस्थित किए गए हैं। 'मृगनयनी' में लाखी की गाड़ी चारों ओर शत्रुओं से घिरी है। ऐसे समय की रात के वातावरण का भयंकर चित्रण बड़ा कलापूर्ण है—

"अतुल अन्धकार। निविड़ वन का कोई भी अंश नहीं दिखलाई पड़ रहा था। ऊपर तारे छिटके हुए थे। दूर की पहाड़ियाँ लम्बी ताने सोती-सी जान पड़ती थीं। टेढ़ी तिरछी बहती हुई साँक नदी की पतली रेखा जरूर झांई-सी मार रही थी।

× × ×

सिवाय झींगुरों की चीं चीं के और कुछ सुनाई नहीं पड़ता था। सुनसान को छेदती हुई कभी-कभी गढ़ी के भीतर "जागते रहो! जागते रहो।" की पुकारें—भर सुनाई पड़ती थीं।"

वर्माजी ने अपने उपन्यासों में जिस सजीव वातावरण का सृजन किया है उसका रहस्य उन्हीं के शब्दों में सुनिए, "जब फुरसत होती है बन्दूक लेकर निकल जाता हूँ। दो-दो चार-चार दिन जंगलों-पहाड़ों में घूमता रहता हूँ। वहाँ जो दृश्य पसन्द आता है, कागज पर उसका शब्द-चित्र खींच लेता हूँ। 'गेढ़ कुण्डार' का अधिकांश तो कुण्डार के दुर्ग के चारों ओर चक्कर काटकर लिखा है। 'विराटा की पद्मिनी' लिखने के लिए कई बार खजुराहो हो आया हूँ। उसके भी कई परिच्छेद वहीं लिखे गए हैं।"

प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का चित्रण ही प्रमुख है। उनका वातावरण सजीव एवं सच्चा है। पात्रों की बातचीत, उनका रहन-सहन, उनके रीति, उनके लड़ाई-झगड़े, उनके घरों की दशा, उनके उत्सव, उनकी प्रकृति सभी ग्रामीण वातावरण का स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करते हैं। प्रेमचन्दजी ने नागरिक जीवन का स्पर्श भी किया है। 'गोदान' में समग्र नागरिक जीवन का चित्रण करने का प्रयत्न है। फिर भी प्रेमचन्दजी नागरिक जीवन में और विशेषकर उच्च वर्ग के जीवन में पूर्णतया प्रवेश नहीं पा सके हैं। वह नागरिक जीवन को उतनी सहानुभूति से नहीं देख पाए जितनी सहानुभूति से उन्होंने ग्रामीण जीवन को परखा है। वस्तुतः ग्रामीण सामाजिक स्थिति का जितना सुन्दर चित्रण प्रेमचन्द जी ने किया है उतना हिन्दी में कोई भी उपन्यासकार नहीं कर सका है।

वर्माजी की उपन्यास शैली में अभिनयात्मकता से विशेष सौन्दर्य आ गया है। अपनी नाटकीय शैली से उन्होंने अपने उपन्यासों को सजीवता प्रदान की है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐसी सरल और प्रवाहमयी शैली का प्रयोग किया है कि तत्कालीन कला, संस्कृति, सभ्यता, सामाजिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि सभी हमारे सामने चित्र की भाँति उपस्थित होती हैं। इसी प्रकार उनके सामाजिक उपन्यासों में भी ऐसी सरल और प्रवाहमयी शैली है कि लेखक की कल्पना का समाज और उसकी सभ्यता सजीव होकर हमारे सामने आती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के प्रति इतनी सच्चाई और साथ ही कल्पना एवं परम्परा का मिश्रण करके सरलता, गत्यात्मकता, सजीवता एवं रोचकता ला देना वर्माजी की उपन्यास-शैली की विशेषता है। उनके उन्पयासों में स्थानीय भाषा, उर्दू के लोक-प्रिय और प्रचलित शब्दों का भी प्राधान्य है। स्थानीय भाषा के शब्द जैसे नेगचारों ढीमरों, मलकने, दुलैयाजू, गुटगुटा, मठा मूसर, कैलेय, क्यार, हमकूँ, मसक रए ऊँसई, पिच्छ करत्यो, हियाँ गुसाइन माँ दुबिधा का बात चलत्यो नाहीं आदि भी उसमें प्रयुक्त हुए हैं। सम्पूर्णतया वर्मा जी की भाषा बड़ी रोचक है। उसमें कहीं-कहीं एकदम हिन्दुस्तानी भाषा का मजा आता है तो कहीं कवि-हृदयोचित भावुकता पूर्ण साहित्यिक भाषा का। एक विद्वान आलोचक ने वर्माजी की भाषागत विशेषताओं में उनके हिन्दुस्तानीपन को अवांछनीय बताया है—"वर्माजी की भाषा कथावस्तु के अनुकूल बहुत स्वाभाविक और प्रवाहमयी है। लोच चाहे उतना नहीं पर दिल-चस्पी उपन्यास पढ़ने में बनी रहती है। ग्रामीण और स्थानीय शब्दों के प्रयोग में वर्माजी हिचकिचाहते नहीं········भाषा को समृद्ध बनाने का उनका प्रयास वांछनीय है, जिसे आजकल साहित्यिक नहीं चाहते। जैसे "राजा ने इस तर्क पर जरा-जेर किया; भारतीय संस्कृति हेय और नाचीज है।" वस्तुतः मुसलमानी पात्रों के बीच ही प्रायः वर्माजी उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी की योजना करते हैं, जो साधारण रूप से

समझ में आने वाली है। हाँ, वाक्य-गठन में कहीं-कहीं व्यवधान पड़ता है जो एक झटका-सा देता है।

वर्माजी की भाषा व्यावहारिक है तो प्रेमचन्दजी की साहित्यिक। वर्माजी अपने वर्णन में संक्षिप्त हैं व्यर्थ की तूल नहीं बढ़ाते। इसीलिए उनकी भाषा में रुक्षता है किन्तु प्रेमचन्द जी की भाँति वर्माजी की शैली में क्रमिक विकास नहीं है, उनकी शैली का स्थिर रूप है। प्रेमचन्दजी की शैली का विकास 'वरदान' से 'ग़बन' तक की कहानी है। 'वरदान' से प्रारम्भ करके 'गबन' में उसका पूर्ण परिपक्व रूप प्राप्त होता है। 'सेवासदन' की शैली और 'ग़बन' की शैली में बहुत अन्तर है। प्रेमचन्दजी की शैली क्रमशः विकसित हो गई है, उसमें प्रौढ़ता आती गई है।

जहाँ तक प्रेमचन्दजी की भाषा का प्रश्न है, हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रेमचन्द पहले उर्दू के लेखक थे और जब उन्होंने हिन्दी में लिखना शुरू किया तो वे उर्दू की नकल किया करते थे। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में अपने संस्मरण में लिखा है "जब मैं सरस्वती में काम करता था, उनकी एक कहानी की हस्तलिपि मैंने देखी थी जिसमें एक वाक्य था—'यह आपका बड़ा आधिक्य है; उनका मतलब था—'यह आपकी बड़ी ज्यादती है।", वस्तुतः प्रेमचन्दजी की हिन्दुस्तानी के प्रति बड़ी श्रद्धा रही है। उन्होंने स्वयं कहा है, "जिसको हिन्दू मुसलमान दोनों मानें, जिसको आम जनता समझे वह है हिन्दुस्तानी, और मेरा ख्याल है कि राष्ट्रभाषा जब कभी बनेगी तो वह हिन्दी-उर्दू को मिलाकर।" प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यास-साहित्य में उर्दू की भाषा शैली से व्यावहारिकता ग्रहण की। आचार्य शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में, "उर्दू से प्रेमचन्द ने सिर्फ एक ही सिफत ली, व्यावहारिक जीवन में मँजी हुई उनकी भाषा। उसी भाषा को उन्होंने हिन्दी की संस्कृतिजन्य स्निग्धता दे दी है। यों कहें कि उर्दू के मुख पर हिन्दी का आलेप करके उन्होंने भाषा को एक नवीन शोभा दे दी है।" प्रेमचन्दजी की भाषा ज्यों ज्यों वे लिखते गए त्यों-त्यों निखरती गई। उनकी भाषा शुद्ध साहित्यिकता की ओर प्रगति करती रही है और 'ग़बन' की भाषा तो साहित्यिक हिन्दी का स्टैन्डर्ड रही है। कुछ आलोचकों ने 'गोदान' की भाषा को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। वस्तुतः 'गबन' तक आते-आते प्रेमचन्द की भाषा पूर्ण विकसित हो चुकी थी और 'गोदान' में उनका और निखरा रूप मिलता है। इस प्रकार हिन्दी गद्य लेखकों के सामने 'ग़बन' और गोदान की भाषा का स्टैन्डर्ड बहुत दिनों तक रहा है।

●

: १५ :

प्रेमचन्द की भाषा-शैली

डॉ० कैलाशचन्द भाटिया

प्रेमचन्द पर अपने संस्मरण लिखते हुए श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने उनकी भाषा-शैली पर संक्षिप्त किन्तु सरगभित टिप्पणी लिखी हैं, उनकी देन है, सरल, सुन्दर और स्पष्ट लेखन-शैली। कई लोग प्रेमचन्द की भाषा को हिन्दी-हिन्दुस्तानी का नमूना मानते हैं। विचार उनके सुलझे हुए और भाषा सरल और स्पष्ट। सूक्तियाँ हृदय में बैठ जाने वाली।''

हिन्दी-भाषा-क्षेत्र में महान् क्रान्ति उत्पन्न करने वाले प्रेमचन्द के प्रति यह सच्ची श्रद्धांजलि है। प्रेमचन्द के समय में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ था कि हिन्दी भाषा का स्वरूप क्या हो? इस विवाद में सक्रिय रूप से तो प्रेमचन्द नहीं पड़े अपने साहित्य के माध्यम से वे हिन्दी भाषा का रूप अवश्य प्रस्तुत करते रहे। प्रेमचन्द-साहित्य सर्वत्र (हिन्दी भाषा-भाषी तथा अहिन्दी भाषा-भाषी साथ ही विदेशों में) लोकप्रिय रहा अतएव उनके द्वारा लिखित साहित्य में प्रस्तुत हिन्दी का रूप ही हिन्दी का जीवन रूप है जिसके सबंध में उन्होंने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा में अपने विचार इस प्रकार किये थे; ''जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बनती रहती है। भाषा-सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं; लेकिन उसके स्वास्थ्य का मूल्य देकर। उसकी आत्मा इतनी बलवान् बनाइये कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों की ही रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए कि हमारी भाषा अधिक से अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे।''

हिन्दी के भावी रूप के संबंध में भी आपके सुलझे हुए विचार थे। आज की उलझी हुई भाषा-समस्या के समय उनके विचार भी मैं यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ।

''हम सभी का कर्त्तव्य हैं कि हम राष्ट्रभाषा को उसी तरह सर्वाङ्गपूर्ण

बनाएं जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं।........ हमें राष्ट्रभाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिए। वह संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्द जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं जब अभ्यास में आ जावेंगे तो उनका हौवापन जाता रहेगा। भाषा-विस्तार की यह क्रिया धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें ऐसे विभिन्न विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा जो राष्ट्रभाषा की ज़रूरत के कायल हैं। उस बोर्ड में हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी, तामिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायें और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी प्रगति को तेज़ करने का काम सौंपा जाय।" उनकी हार्दिक इच्छा थी कि "हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही संसार के साहित्य में प्रवेश करेंगे।"[1]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द ने उर्दू-साहित्य से हिन्दी-साहित्य में प्रवेश किया था। हिन्दी से पूर्व उर्दू में लिखने के कारण अरबी-फ़ारसी बहुल शब्दावली उनकी विशेषता रही है। सन् १६११-१२ में वह जिस प्रकार की भाषा लिखते थे उसका एक नमूना हम उसके एक पत्र से उद्धृत कर रहे हैं। यह पत्र उन्होंने मुंशी दयानरायन निगम को लिखा था "लिटरेचर का मौज़ू है तहजीब, अख़लाक़, मुशाहिदए जज़बात, एन्कशाफ़ें हक़ायक़ और वारदात-ओ-कैफ़ियाते क़ल्ब का इज़हार। जो शायरी हुस्न व इश्क़ब को आइना ब शाना, खंजर, महशर, सबूज़ा व ख़त, दहर -ओ-कमर के तख़ैयुल से मुतलव्वस करती हो, वह हरगिज इस क़ाबिल नहीं कि आज हम उसका विर्द करें।"

इस शैली का प्रभाव उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रत्यक्ष दिखाई देता है जिसके कारण प्रेमचन्द को शुद्ध हिन्दी के समर्थकों का कोपभाजन भी बनना पड़ा। स्वाभावतः उनकी भाषा में क्रमशः अरबी-फ़ारसी के शब्द कम होते गये और प्रेमचन्द अन्ततः अत्यधिक मँजी हुई, परिष्कृत एवं प्रौढ़ भाषा का रूप हमको दे गये। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने भाषा के किसी स्थायी रूप को हमारे सामने प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की वरन् आवश्यकतानुसार पात्रानुकूल उनकी भाषा बदलती गई। स्वयं ही उनकी भाषा प्रयोजन के अनुसार ढल गई और जहाँ जिस रूप की आवश्यकता रही वहाँ वह रूप हमको मिलता गया, पर मूल भावना से वह नहीं हटे। प्रेमचन्द जन सेवक के रूप में हमारे सामने आये, फलस्वरूप अपने विचारों को जनता के सम्मुख रखने में उन्होंने लोक की भाषा को अपनाया।

लोकनायक बुद्धदेव, कबीर, तुलसी, गांधी, विनोबा इसके उदाहरण हैं। किसी भी प्रदेश के होते हुए भी लोकनायक को अपनी भाषा के बहुप्रचलित रूप को ही अपनाना पड़ता है। यही बात प्रेमचन्द पर भी घटती है। प्रेमचन्द उत्तर प्रदेश के पूर्वी

---

१. प्रस्तुत विचार श्री निवासाचार्य जी के संस्मरणों से प्राप्त हुए हैं।

भाग के थे, भोजपुरी भाषा-भाषी होते हुए भी, उर्दू के माध्यम से साहित्य में प्रवेश करते हुए भी, उन्होंने अखिल भारतीय हिन्दी के प्रयोग के लिए हिन्दी का जो रूप सँवारा वह हिन्दी भाषियों के लिए एक देन है। यही कारण है कि उनके उपन्यास उत्तर से दक्षिण तक लोकप्रिय रहे। आरम्भ में प्रेमचन्द को कितनी मेहनत करनी पड़ी होगी, केवल एक उदाहरण से इसकी कल्पना की जा सकती है। एक स्थान पर आपने 'यह आपकी बड़ी ज्यादती है, के लिए 'यह आपका बड़ा आधिक्य है' लिखा था लेकिन वही प्रेमचन्द हिन्दी को एक शैली दे गये।

उनके प्रारम्भिक साहित्य की भाषा की चर्चा करते हुए 'हिन्दी गद्य शैली के विकास' में डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा लिखते हैं—"प्रेमचन्द की आरम्भिक रचनाओं में प्रौढ़ता न थी। उन कृतियों को देखकर यह आशा नहीं की जा सकती थी कि कुछ ही दिनों में उनमें आकाश-पाताल का अन्तर हो जायगा।"

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में हिन्दुस्तानी भाषा का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। जहाँ तक उनका वश चला है उनकी भाषा मध्यम मार्ग पर चली है। हिन्दी-उर्दू के विवाद में आप अधिक नहीं पड़े। अपनी भाषा को उन्होंने हिन्दुस्तानी ही कहा जो बोलचाल के अधिक निकट है। इस सम्बन्ध में ३ फरवरी १९३५ को रामचन्द्र टंडन को लिखे पत्र से मैं यहाँ एक उद्धरण देना चाहता हूँ। "हमारी हिन्दुस्तानी जनता के रास्ते पर चलेगी और जबान जैसी बोली जाती है वैसे लिखने की कोशिश करेगी। जनता से मेरा मतलब स्वभावतः वे लोग हैं जो लिख-पढ़ सकते हैं और जिनके पास साहित्यिक संस्कार हैं।...साहित्यिक भाषा बोलचाल की भाषा से अलग समझी जाती है। मेरा ऐसा विश्वास है कि साहित्यिक अभिव्यक्ति को बोलचाल की भाषा के निकट से निकट पहुँचना चाहिए। कम से कम नाटक, कहानी और उपन्यास साधारण बोलचाल की भाषा में हम लिख सकते हैं, इन्हीं में हम जीवनी और यात्रा-वर्णनों को भी शामिल कर सकते हैं और साहित्य की ये शाखाएँ सम्पूर्ण साहित्य का तीन चौथाई ठहरती हैं और ऐसा तीन-चौथाई जो सचमुच महत्त्व रखता है।"

मध्यम मार्ग का अनुसरण करती हुई उनकी भाषा हमेशा पात्रानुकूल रही। जिस परिस्थिति में पात्र जिस प्रकार और जैसी भाषा का प्रयोग कर सकता है उस भाषा की स्वाभाविक गति में उन्होंने कथोपकथन प्रस्तुत किये हैं। प्रारम्भिक रचनाओं में उनके मुसलमान पात्र अरबीबहुल और हिन्दू संस्कृतबहुल शब्दावली का प्रयोग करते थे पर धीरे-धीरे यह खाई दूर होती गई, फिर भी झुकाव उधर ही बना रहा। उदाहरणार्थ 'सेवासदन' में लतीफ़ की भाषा इस प्रकार है, "जनाब हमारी कौम की कुछ न कहिये खुदगरज, खुदफरोश, खुदमतलब, कजफहम, कजरी, कजवी जो कहिये थोड़ा है। बड़े-बड़ों को देखिये रँगे हुए सियार हैं।' इसके विपरीत 'गोदान' में दार्शनिक मेहता प्रकृति की शोभा इस प्रकार निहारते हैं, 'सामने की पर्वतमाला

दर्शनतत्त्व की भाँति अप्रत्यक्ष और अत्यन्त फैली हुई है, मानो ज्ञान का विस्तार कर रही हो मानो आत्मा उस ज्ञान को, उस प्रकाश को, उस अगम्यता को, उसके प्रत्यक्ष विराट् रूप में देख रहा हो। दूर के एक बहुत ऊँचे शिखर पर एक छोटा-सा मन्दिर था, जो उस अगम्यता में बुद्धि की भाँति ऊँचा, पर खोया हुआ-सा खड़ा था मानो वहाँ तक पर मारकर पक्षी विश्राम लेना चाहता है और कहीं स्थान नहीं पाता।"[1]

इन दोनों धाराओं के मध्य जहाँ प्रेमचन्द लेखक के रूप में आये हैं वहाँ उनकी आदर्श संयत, मुहावरेदार चलती हुई भाषा का रूप इस प्रकार है, "जेठ की उदास और गर्म संध्या से भरी की सड़कों और गलियों में पानी के छिड़काव से शीतल और प्रसन्न हो रही थी। मण्डप के चारों तरफ़ फूलों और पौधों के गमले सजा दिये गये थे और बिजली के पंखे चल रहे थे।"[2] इसी प्रकार होरी एक सच्चे ग्रामीण की भाँति अपनी पत्नी से कहता है, "तू जो बात नहीं समझती, उसमें टाँग क्यों अड़ाती है, भाई! मेरी लाठी दे दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। नहीं कहीं पता न लगता कि किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं किस पर बेदखली नहीं आयी, किस पर कुड़की नहीं आयी। जब दूसरे के पाँवों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।[3]

इसके ठीक विपरीत पुलिस का बंगाली डिप्टी बोलता है, 'आपको वही गवाही देना होगा जो आप दिया। अगर तुम कुछ गड़बड़ करेगा, कुछ भी गोलमाल किया, तो तोमारे साथ दोसरा बर्ताव करेगा। एक रिपोर्ट में तुम यों चला जायगा।'[4]

प्रेमचन्द ने भाषा के इन अनेक रूपों का सहज व्यवहार किया है। भाषा को भावानुकूल तथा पात्रानुकूल रखने के लिए आपने देशज शब्दों का व्यवहार भी किया और साथ ही अरबी-फारसी ताथ अंग्रेजी की शब्दावली को अपनाया। यह बात ठीक है कि देशज शब्दावली जनपदीय भाषा रूपों के साथ ही विशेष रूप से आयी है। जैसे "तो का चार हाथ गोड़ कर लेई, कामे से तो गया रहिन। बाबू मेम साहब के तीर रुपये लैबै का भैजिव रहा।" वही आगे कहता है "पिरथी के छोर पर तो रहत हैं इस दौरता दौरत गोड़ पिराय लाग।"[5]

धामड़, महावट, नफरी, चंगेरी, टिकौना, पचड़ा, बिसूर, डींग, बेसाहने, हुमक, घौस, बधिया, कचूमर, आदि सैकड़ों लोक के ठेठ शब्द उनकी भाषा में आ गये

---

१. गोदान, पृ० ८६
२. गोदान, पृ० ५५
३. गोदान पृ० ६
४. ग़बन, पृ० २६६
५. ग़बन, पृ० ११५

हैं। प्रेमचन्द की इस प्रवृत्ति की ओर लक्ष्य करते हुए बेनीपुरी जी ने लिखा था "जनता द्वारा बोले जाने वाले कितने ही शब्दों को उनकी कुटिया-मड़ैया से घसीटकर वह सरस्वती के मन्दिर में लाये और यों ही कितने अनधिकारी शब्दों को, जो केवल बड़प्पन का बोझ लिए हमारे सिर पर सवार थे, इस मन्दिर से निकाल बाहर किया।

संस्कृत के नुकीले शब्द भी प्रेमचन्द की प्रवाहित भाषा-धारा में चिकने बन गये। उनके द्वारा प्रयुक्त संस्कृत के तत्सम शब्द अपनी तत्समता त्याग जनसाधारण के मध्य व्यवहृत रूपों में ही आये हैं। गोदान में यह प्रवृत्ति सर्वाधिक दिखायी देती है। जैसे परसाद (प्रसाद), दरसन (दर्शन), गिरस्त (गृहस्थ), भरम (भ्रम), अतार (अवतार), परान (प्राण), रकत (रक्त), बरखा (वर्षा), पुन (पुण्य) आदि।

शब्दों के लोक प्रचलित तद्भव रूप अपनाने की प्रवृत्ति संस्कृत के साथ ही नहीं, अरबी-फ़ारसी के साथ भी है। हरज (हर्ज़), उमिर (उम्र), फिकर (फ़िक्र), खरच (खर्च), जरीबाना (जुर्माना), जैजात (जायदाद) आदि कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। अपने उत्तर-काल में अरबी-फ़ारसी के अप्रचलित शब्दों का मोह आपने छोड़ दिया था पर जनप्रचलित शब्दों को आप अपनाते रहे।

अन्य भाषाओं से शब्द अपनाने की नीति अंग्रेजी शब्दों के साथ भी उदार बनी रही। हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति को समर्थ करने के लिए जहाँ से भी जिस रूप में शब्द मिला आपने अपनाया। अपने शोध-ग्रंथ हिन्दी में अँग्रेजी आगत शब्दों का भाषा-तात्त्विक अध्ययन' में मैं स्वयं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि भविष्य में कभी हिन्दी में अंग्रेजी की पाचित शब्दावली की समस्या खड़ी हो तो उसका एक मात्र आधार प्रेमचन्द द्वारा प्रयुक्त अँग्रेजी शब्द ही होंगे। इसी आधार पर मैंने इस अध्ययन में प्रेमचन्द-साहित्य ही चुना था। ऐसे शब्दों की संख्या लगभग ५०० है। अधिकतम आवृत्ति की दृष्टि से कुछ बहु प्रचलित शब्दों का क्रम इस प्रकार हैं, डाक्टर, पुलिस, मोटर, जेल, मिनिट, स्टेशन, डिप्टी, आफिसर, फीस, बोर्ड, फिटन, स्कूल, रिपोर्ट, अपील, गवर्नमेंट, म्यूनिसिपैलिटी, जज, मेम्बर, लालटेन, मिल, कालिज, केम्प, कांस्टेबिल, लेडी, मेम, कोच, हन्टर, गवर्नर, अस्पताल, इंस्पेक्टर, पार्क, टिकट, थियेटर, रेल, कौंसिल, एजेन्ट, सिगरेट, कम्पनी, बैंक, सिनेमा, मास्टर, सुपरिन्टैंडेन्ट, पिस्तौल, प्रोफ़ेसर, बैंच, जेलर, कमिश्नर, बोतल, मैनेजर नोट, आदि।

कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनका प्रयोग बहुत कम हुआ है पर उन्हें भी हम निस्संकोच ग्रहण कर सकते हैं, जैसे एक्टर, एडवोकेट, ऐजेन्सी, बैरंग, बिल्टी, बिस्कुट, ब्लाउज, बम्ब, बूट, बस, बरुश, सीमेंट, चेयरमैन, चेक, सरकस, कालर, डेरी, डिपो, डेस्क, डायरी, ड्राइवर, फैक्टरी, फ़िल्म, फंड, फर्लांग, गजट, गैलन, गैस, आदि।

कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनकी आवृत्ति कम है और जनता में भी उनका प्रयोग बहुत कम होता है। निश्चय ही इन शब्दों का प्रचलन कठिन होगा। बहु शिक्षित

वर्ग तक ही ये शब्द सीमित हैं जैसे, अल्टरनेटिव, अगेन्स्ट, अन्नूवर, कैरेक्टर, क्लोरोफ़ार्म, कम्प्रोमाइज़ कंजरवेटिव, कंशस, डेलीगेट, डिलिरियम, एमलशन, मैजोरिटी, आदि।

अंग्रेजी शब्दों के आलंकारिक प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं। 'गोदान' से कुछ उदाहरण लीजिए :—

सीमेंट : सेवा ही वह **सीमेंट** है जो दम्पति को जीवनपर्यन्त स्नेह और साहचर्य से जोड़े रख सकता है, जिस पर बड़े-बड़े आघातों का कोई असर नहीं होता।

इंजन : जैसे **इन्जन** कोयला खा लेता है।

इन्जन को कोयला पानी भी मिल गया।

अपील : भोला ने **अपील भरी** आँखों से होरी को देखा।

शैली की दृष्टि से तो प्रेमचन्द हिन्दी को ऐसी शैली प्रदान कर गये हैं, जिससे हिन्दी का सार्वदेशिक रूप स्पष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द ने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे ३ जून १९३२ के पत्र में यह स्वीकार किया है कि उन पर किसी बाह्य शैलीकार का प्रभाव नहीं पड़ा है—"मेरे ऊपर किसी विशेष लेखक की शैली का प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत कुछ पं० रतननाथ दर लखनवी और कुछ डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर का असर पड़ा है।"

प्रेमचन्द के अन्तिम उपन्यास 'गोदान' की भाषा-शैली पर टिप्पणी करते हुए श्री रामनाथ सुमन ने लिखा है कि इसकी भाषा सुन्दर, चलती हुई भाषा है। उसमें बोझ नहीं हैं, वह झरने की भाँति कल-कल करती, उछलती और कूदती हुई चलती है। मुहावरों का ऐसा सुन्दर उपयोग करनेवाला, जीवन के अनुभवों को स्थान-स्थान पर सुन्दर उपमाओं के बीच इतनी सफलता के साथ संक्षिप्त और घनीभूत करके रख देनेवाला, हिन्दी में दूसरा उपन्यासकार नहीं हुआ।'

मुहावरेदार शैली के तो प्रेमचन्द उस्ताद हैं। शैली को चुटीली और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए वे मुहावरों का प्रयोग अनिवार्य मानते हैं। अकेले प्रेमचन्द-साहित्य में जितने मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है उनका संकलन कर एक अच्छा कोश बनाया जा सकता है। केवल 'प्रेमाश्रम' के कुछ पृष्ठों में प्रयुक्त मुहावरे इस प्रकार हैं। एक की चार जड़ना, आँख बदलना, सिर आँखों पर, गज भर तनना, घाव पर नमक, नाक रगड़ना, जले पर नमक छिड़कना, जले हुए दिल के फफोले, जिस पत्तल में खाना उसी में छेद करना, जिसने मुँह चीरा है वह खाने को भी देगा, हाथ फैलाना, पासा पलटना, बगलें झाँकना, चूल्हें भाड़ में जाय, धूप में बाल सफेद, मुँह में दही जमना, कठपुतली बनाकर न माना, दाँत खट्टे करना, आँखे खोलना, बाल भी बाँका न होना, बदन में आग लगना, भाई की जड़ काटना, होठ चबाना, पते की बात, बड़ी-बड़ी बातें करना, बढ़-बढ़ कर बातें करना, दाँतों

से पैसा पकड़ना, आँखों पर पर्दा, चोर-चोर मौसरे भाई, छाती पर साँप लोटना, गले पर छुरी चलना, बछड़ा खूँटे के ही बल कूदता है।

शैली को प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने अलंकारों—विशेषकर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया है। उनकी उपमाएँ अनूठी, अनुपम तथा मौलिक हैं। उन्होंने जैसा चित्र देखा वैसा ही वे पाठक के समक्ष लेखनी द्वारा प्रस्तुत करना चाहते थे। ये उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ उनके उपन्यासों की निधि हैं। सभी उपन्यासों में ऐसी उपमाएँ भरी हुई हैं। नवीन उपमाएँ उन्होंने चतुर्दिक फैले हुए समाज से ली है—बालक, पक्षी, जुआरी, शिकारी, पौधा, हलवाहा आदि से।

बालक के मनोभावों से ली गई कुछ उपमाएँ :

(१) 'उसकी दशा उस बालक की-सी हो रही थी जिसका हमजोली उसे दाँत से काटकर भाग गया हो।'[1]

(२) 'उस बालक की सी दशा हो गई थी जो हाथी को सामने देखकर मारे भय के रोने लगे उसे भागने तक की सुधि न रहे।'[2]

(३) 'इस समय उनका हृदय ऐसा प्रफुल्लित हुआ जैसे कोई बालक मेला देखने जा रहा हो।'[3]

(४) 'यह उस बालक का आनंद न था जिसने माता से पैसे माँगकर मिठाई ली हो, बल्कि उस बालक का जिसने पैसे चुराकर ली हो।'[4]

(५) 'इस समय उसकी दशा उस बालक की-सी थी, जो फोड़े पर नश्तर की क्षणिक पीड़ा न सहकर उसके फूटने, नासूर पड़ने, वर्षों खाट पर पड़े रहने और कदाचित् प्राणान्त हो जाने के भय को भी भूल जाता है।'[5]

पक्षी :

(१) 'ज्ञानशंकर का हृदय चिड़ियों की भाँति फुदकने लगा।'[6]

(२) 'उनकी दशा इस समय पक्षी की-सी थी जिसके दोनों पंख कट गये हैं या उस स्त्री की-सी जो किसी देव प्रकोप से पति-पुत्र विहीन हो गयी हो।'[7]

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० २७
२. प्रेमाश्रम, पृ० ५५
३. प्रेमाश्रम, पृ० ३२९
४. गबन, पृ० ५९
५. गबन, पृ० १३५
६. प्रेमाश्रम, पृ० २६३
७. प्रेमाश्रम, पृ० ४६५

पौधा :

"उनकी दशा उस पौधे की-सी थी जो प्रतिकूल परिस्थिति में जाकर माली की सुव्यवस्था करने पर भी दिनों दिन सूखता जाता है।"[1]

कबूतरबाज :

"ज्ञानशंकर ने नाना प्रकार के तर्कों से इन मनोगत विचारों को उसी तरह प्रोत्साहित किया जैसे कोई कबूतरबाज बहके हुए कबूतरों को दाने बिखेरकर अपनी छतरी पर बुलाता है।"[2]

पतंग :

"उसकी दशा उस पतंग-सी थी जिसकी डोर टूट गयी हो अथवा उस वृक्ष-सी, जिसकी जड़ कट गई हो।"[3]

इसी प्रकार की उपमाएँ गोदान में भरी पड़ी हैं—

(१) "ये शब्द तपते हुए बालू की तरह हृदय पर पड़े और चने की भाँति सारे अरमान झुलस गये।"

(२) "होरी के खेत अनाथ अबला के घर की भाँति सूने पड़ेंगे।"

उत्प्रेक्षा :

अमूर्त उपमान भी द्रष्टव्य है।

"उसका कोमल गात ऐसा कृश हो गया था मानो किसी हास्य की प्रतिध्वनि हो, मुख किसी वियोगिनी की पूर्व-स्मृति की भाँति मलिन और उदास।"

रूपक :

"सद्भावों का वह अंकुर जो एक क्षण के लिए उनके हृदय में विकसित हुआ था इन दुष्कामनाओं से झुलस गया।"[4]

प्रेमचन्द के अलंकार-प्रयोग पर एक आलोचक ने अलंकारमयी भाषा में अपना मत प्रकट किया है "भाषा की गति तीव्र हो जाती है तो उसे अलंकार का ब्रेक लगाकर कम कर देते हैं, मंद पड़ जाती है तो अलंकार का एक पैंडल मार देते हैं। मानों अलंकार इनकी भाषा का रेगुलेटर हो।"

चित्रात्मक शैली :

पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय उन्होंने रेखाचित्र शैली का उपयोग किया है। ये चित्र बड़े चौखटे में जड़े हुए हों चाहे छोटे, कहीं भी दर्शक कमी का अनुभव नहीं करता। श्री हंसराज 'रहबर' के मतानुसार "हमें प्रेमचन्द में शहरी,

---

१. प्रेमाश्रम, पृ० १५०

२. प्रेमाश्रम, पृ० ४३१

३. प्रेमाश्रम, पृ० ५१५

४. प्रेमाश्रम, पृ० ४८

देहाती और पहाड़ी जीवन के शजीव चित्र मिलते हैं। इन सबसे प्रेमचन्द की शैली के विभिन्न रूप-रंगों और भाषा-ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है और महान् लेखक की सामर्थ्य पर आश्चर्य भी होता है।"

'गोदान' में मिस मालती के अनेक चित्र हैं, इनमें से कुछ द्रष्टव्य हैं।

(अ) "गात कोमल, पर चपलता कूट-कूटकर भरी हुई। झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, बला की हाजिर-जबाब, पुरुष मनोवैज्ञानिक की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझाने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण।"

(आ) "मालती—एक वन-पुष्प की भाँति धूप में खिली हुई और दूसरी युवती-गमले की फूल की भाँति धूप में मुरझायी और निर्जीव।"

'प्रेमाश्रम' में मनोहर के पुत्र बलराज का चित्र।

"उसका शरीर खूब गठीला, हृष्ट-पुष्ट था, छाती चौड़ी और भरी हुई थी। आँखों से तेज झलक रहा था। उसके गले में सोने का यन्त्र था और दाहिनी बाँह में चाँदी का एक अनन्त।"

'ग़बन' में साठ वर्षीय वकील साहब का चित्र :

"चिकनी चाँद आस-पास सफेद बालों के बीच में वारनिश की हुई लकड़ी की भाँति चमक रही थी। मूँछें साफ थी पर माथे की शिकन और गालों की झुर्रियाँ बतला रही थीं कि यात्री संसार-यात्रा से थक गया है।............हाँ, रंग गोरा था, साठ साल की गर्मी-सर्दी पर भी उड़ न सका था। ऊँची नाक थी, ऊँचा माथा और बड़ी-बड़ी आँखें जिनमें अभिमान भरा हुआ था।"

भावात्मक शैली :

जहाँ प्रेमचन्द भावों में बह रहे हैं वहाँ उनकी भाषा में काव्यत्व आ गया है और अरबी-फ़ारसी की शब्दावली पीछे छूट गयी है। प्रवाहमयी भाषा में लिखे हुए ये गद्य-खण्ड गद्यकाव्य बन गये हैं : "वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण पर बगूले उठते हैं, और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन-भर की यात्रा का वृतान्त कहते और सुनते हैं ; तटस्थ भाव से, मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं जहाँ नीचे का जन-रव हम तक नहीं

पहुँचता।"[1]

"दीपकों के प्रकाश में, संगीत के स्वरों में, गगन की तारिकाओं में, उस शिशु की छवि भी उसी का माधुर्य था, उसी का नृत्य।" —(कर्मभूमि)

व्यंग्य और विनोद में भी प्रेमचन्द दक्ष थे। जहाँ कहीं भी अवसर पाते थे, उनकी भाषा में व्यंग्य के छींटे आ जाते हैं, 'प्रेमाश्रम' में विलासी मनोहर से कहती है : "इनकी चूड़ियाँ मैलीं हो जायँगी, चलो मैं चलती हूँ।"

'गोदान' में घनिया नाक सिकोड़कर कहती है : "सारे गाँव ने सुना, क्या उन्होंने न सुना होगा ? कुछ इतनी दूर भी तो नहीं रहते। सारा गाँव देखने आया, उन्हीं के पाँवों में मेंहदी लगी हुई थी, मगर आयें कैसे ?

अपने संघर्षमय जीवन से मथ-मथकर जो विचार-नवनीत उन्होंने अपने साहित्य में यत्र-तत्र बिखेर दिया है उसका संचय भी आवश्यक है। 'ग़बन' और 'प्रेमाश्रम' से हम क्रमशः कुछ सूक्तियाँ दे रहे हैं। उनकी ये मर्मस्पर्शी सूक्तियाँ जीवन में उपयोगी सिद्ध होंगी :

(अ) (१) अनुराग स्फूर्ति का भंडार है। (२) मिथ्या दूरदर्शी नहीं होती। (३) द्वेष तर्क और प्रमाण नहीं सुनता। (४) भेख और भीख में सनातन से मित्रता है। (५) उत्कंठा की चरम सीमा ही निराशा है।

(आ) (१) क्रोध की दुर्वचन से विशेष रुचि होती है। (२) विवाद में हम बहुधा अत्यन्त नीतिपरायण बन जाते हैं। (३) चातुरी कपट के साथ मिलकर दो आतशी शराब बन जाती है। (४) पुरुषार्थी लोग दूसरों की सम्पत्ति पर मुँह नहीं फैलाते। अपने बाहुबल का भरोसा रखते हैं। (५) क्रोध प्रत्याघात की सामर्थ्य का द्योतक है। (६) इच्छा में ममत्व है, प्रेम में आत्म समर्पण। (७) इच्छाओं को जीवन का आधार बनाना बालू की दीवार बनाना है।

सरल, सरस, सुबोध, सजीव, मुहावरेदार गद्य-शैली के जनक प्रेमचन्द का स्थान हिन्दी-साहित्य में उपन्यासकार के रूप में सर्वोच्च है। एक-एक शब्द का जितना सार्थक प्रयोग प्रेमचन्द अपने साहित्य में कर गये हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

●

---

१. गोदान, पृ० ३६

: १६ :

प्रेमचन्द के साहित्य-सिद्धान्त

—श्री नरेन्द्र कोहली

प्रेमचन्द ने साहित्य को उसके व्यापकतम रूप में ग्रहण किया हैं और उसके समस्त विस्तरा-प्रस्तार को मान्यता दी है। फिर भी, साहित्य के प्रत्येक पक्ष-विषयक प्रेमचन्द के विचार उपलब्ध नहीं हैं। कारण, कदाचित् प्रेमचन्द की सीमाएँ हैं। प्रथमतः प्रेमचन्द आचार्य नहीं, सृजनात्मक साहित्यकार थे। अतः साहित्य के समस्त अंग-उपांगों एवं विधाओं पर विचार प्रकट करने की अपेक्षा उनसे नहीं की जा सकती। यह अंतर एक आचार्य एवं साहित्यकार के कार्य का अन्तर है।

प्रेमचन्द ने समग्र साहित्य के विषय में सामान्य एवं व्यापक विचार अभिव्यक्त करने के पश्चात् कुछ ही विधाओं पर अपने विशिष्ट विचार स्पष्ट किए हैं। वे पद्यकार न होकर गद्यकार थे। यही कारण है कि हेतु, उद्देश्य आदि कुछ अंगों को छोड़कर—जो गद्य तथा पद्य दोनों से सम्बद्ध हैं—पद्य के किसी अंग पर उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। गद्य में भी उन्होंने केवल उपन्यास तथा आख्यायिका को ही अंगीकार किया है। उन्होंने नाटक तथा जीवनियाँ भी लिखीं हैं, किन्तु उन्हें अधिक महत्त्व नहीं मिला।

प्रेमचन्द की सहानुभूति अपेक्षतया दुर्बल तथा निस्सहाय जनसाधारण के साथ अधिक थी तथा उनका उद्देश्य 'सुधार' था। अतः उनकी दृष्टि दुःखी और पतितों की दशा पर ही केन्द्रित रही। उनके विचार सुधार की प्रतीक्षा में खड़े खंडहरों के चारों ओर मँडराते रहे। इससे एक लाभ भी हुआ। जीवन के अधिक निकट होने के कारण, उन्होंने जीवन और साहित्य सम्बन्धी अनेक ऐसे पक्षों पर अपनी मेधा का धवल प्रकाश डाला, जो अब तक तिमिराच्छन्न ही थे। साहित्य, समाज और राजनीति का सम्बन्ध, आदर्श और यथार्थ आदि कुछ ऐसे ही विषय हैं।

प्रेमचन्द के साहित्य-सिद्धांतों के अन्तर्गत, इस संक्षिप्त अध्ययन में, निम्नलिखित अंग स्वीकार किए गए हैं—

१—साहित्य-हेतु

२—साहित्य-प्रयोजन

३—साहित्य का स्वरूप तथा लक्षण

४—साहित्य का क्षेत्र

५—आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

६—उपन्यास

७—कहानी

८—शैली तथा भाषा

साहित्य हेतु

प्रेमचन्द साहित्य को 'शौक' अथवा 'व्यवसाय' के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक साहित्यकार के अंतर में 'कुछ' है, जो प्रकट होना चाहता है। साहित्यकार के भीतर की यह 'टीस' अथवा पीड़ा स्वयं ही उससे साहित्य की रचना करवा लेती है। लिखते तो वे लोग हैं, जिनके अन्दर कुछ दर्द है, अनुराग है, लगन है, विचार है। जिन्होंने धन और भोग-विलास को जीवन का लक्ष्य बना लिया है, वे क्या लिखेंगे।'[1]

यह पीड़ा व्यक्ति के अन्तर से कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती। कोई भी संवेदना अथवा आवेग वाह्य वातावरण से किसी प्रेरक तत्व (Shimulus) के किसी ज्ञानेन्द्रिय (Special Sence Organ) के माध्यम से जीवी (Organism) पर प्रभाव के अभाव में उत्पन्न नहीं होता। अतः साहित्यकार की इस पीड़ा का मूल कारणकोई बाह्य तत्व ही स्वीकार करना पड़ेगा। बाह्य तत्व दो प्रकार के हो सकते हैं – व्यक्तिगत परिस्थितियाँ एवं सामाजिक परिस्थितियाँ। इन परिस्यितियों को हम साहित्य का प्रेरक हेतु मान सकते हैं।

समान व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्यितियों में भी प्रत्येक व्यक्ति साहित्य की रचना नहीं कर पाता। किसीमें पीड़ा और लगन न्यून होती है, किसीमें अधिक, और किसीमें होती ही नहीं। अतः साहित्यकार के अंतर में कोई ऐसा गुण अथवा तत्त्व हैं, जिस पर प्रभाव डाल प्रेरक-हेतु पीड़ा अथवा लगन उत्पन्न कर सके। प्रेमचन्द ने ऐसे ही एक तत्त्व को स्वीकार किया है—"इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता, पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सके, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे।'[2]

प्रेमचन्द 'प्रकृति की देन' को स्वीकार करते हैं, प्राचीन आचार्यों ने इसी देन को 'शक्ति' अथवा 'प्रतिभा' कहा है। प्रेमचन्द की 'प्रकृति की देन' का

---

१. गोदान, (पन्द्रहवाँ संस्करण, सरस्वती प्रेस, बनारस) पृ० ५८

२. 'कुछ विचार' : प्रेमचन्द, पृ० १८

तादात्म्य सहज ही शास्त्रीय 'प्रतिभा' से किया जा सकता है। प्रेमचन्द प्रतिभा में ईश्वरीय तत्व मानते हैं। न केवल यह शक्ति ईश्वरीय है, वरन् इसके द्वारा रचित साहित्य भी ईश्वर की अनुकम्पा से ही सम्भव है। साहित्य में अलौकिकता का तत्त्व भी न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान है ही।[1]

प्रतिभा के साथ प्रेमचन्द 'शिक्षा' तथा 'जिज्ञासा' की आवश्यकता का भी अनुभव करते हैं।[2] प्रश्न यह है कि प्रतिभा के सम्मुख इन हेतुओं— शिक्षा तथा जिज्ञासा—की क्या स्थिति है। क्या ये भी प्रतिभा के समान महत्त्वपूर्ण हैं, या इससे कुछ कम महत्त्व के अधिकारी हैं अथवा प्रतिभा के सम्मुख सर्वथा नगण्य ही हैं।

अन्य हेतुओं को वे प्रतिभा पर ही आधृत मानते हैं। "ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी, उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायेगा।[3] अतः आधार प्रतिभा ही है, शेष उसके परिष्कार एवं परिमार्जन में सहायक मात्र हैं। निष्कर्षतः प्रेमचन्द में साहित्य-हेतुओं की तीन कोटियाँ हैं। उन्हें १—प्रेरक-हेतु, २—निमित्त-हेतु तथा ३—उपादान हेतु की संज्ञाएँ दी जा सकती हैं। प्रेरक हेतु, व्यक्तिगत एवं सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, निमित्त हेतु 'प्रतिभा' है तथा उपादान हेतु 'शिक्षा', 'जिज्ञासा' एवं अभ्यास हैं। निमित्त हेतु होने के कारण 'प्रतिभा' ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

साहित्य-प्रयोजन

"............ प्रेमचन्द केवल उन फूलों को प्यार करते हैं जो फल लाते हैं, और उन बादलों को प्यार करते हैं जो पानी बरसाते हैं। वे सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य को प्रेम नहीं करते।"[4] प्रेमचन्द का उपयोगितावाद स्पष्ट झलकता है। अतः उनके 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को स्वीकार करने की कोई सम्भावना नहीं है, उन्हें स्पष्टतः दूसरे सम्प्रदाय 'कला जीवन के लिए' के अन्तर्गत रखना पड़ेगा।

प्रेमचन्द के साहित्य तथा उनके पत्रों में अनेक उक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं, जो उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि करती हैं। बाह्य प्रमाणों की भी न्यूनता नहीं है।

---

१. "कोई अमर साहित्य लिखने का इरादा करके अमर साहित्य की रचना नहीं कर सकता। जिस पर ईश्वर की कृपा होती है, वही इस पद को पाता है।"

—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी – पृष्ठ ९७

२. 'कुछ विचार' : प्रेमचन्द, पृ० १८

३. 'कुछ विचार' प्रेमचन्द, पृ० ५६

४. प्रेमचन्द : चिंतन और कला (डा० इन्द्रनाथ मदान), पृ० २३

हंसराज 'रहबर' ने तो स्पष्ट कहा है : "प्रेमचन्द 'कला कला के लिए' सिद्धांत को न मानकर कला की उपयोगिया में विश्वास रखते हैं।"[1]

वे साहित्य को मनोरंजन की वस्तु माननेवाली धारणा को खुली चुनौती देते हैं : "अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है।"[2] और "............मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और बिलासिता की वस्तु नहीं समझते।"[3]

अन्य सार्थकता क्या है ? उत्तर प्रेमचन्द स्पष्ट रूप में देते हैं : "नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है।"[4] अर्थात् साहित्य, सीधा, शास्त्रीय धार्मिक उपदेश नहीं है, जो कि नीतिशास्त्र का लक्ष्य है। मम्मट अथवा गेटे के शब्दों में यही 'कांता सम्मित' या 'प्रच्छन्न' उपदेश है।

प्रेमचन्द अपने युग की जड़ता को तोड़ उसमें एक प्रकार की गति लाने की चेष्टा कर रहे थे। उनके मन में यह अभिलाषा अत्यन्त तीव्र रूप से विद्यमान थी : "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो,—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[5] तथा "इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों।"[6]

उपर्युक्त समस्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१—प्रेमचन्द मनोरंजन को साहित्य का उद्देश्य स्वीकार नहीं करते।

२—उनका उद्देश्य कांतासम्मित उपदेश के द्वारा समाज में गति तथा सक्रियता उत्पन्न करना था।

३—इस गति तथा सक्रियता के माध्यम से स्वतन्त्रता प्राप्त कर वे देश तथा समाज के जीवन को दुःखरहित एवं सुन्दर बनाना चाहते थे।[7]

---

१. 'प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व', पृ० २६१
२. 'कुछ विचार', पृ० ५
३. वही, पृ० २३
४. वही, पृ० ५
५. वही, पृ० २३
६. 'बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे गए ३-६-३० के पत्र से' : प्रेमचन्द और गोर्की पृ० ४१
७. शचीरानी गुर्टू : 'प्रेमचन्द और गोर्की' पृ० १६

इन निष्कर्षों को प्रेमचन्द की रचनाओं की प्रेरणा तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इन्हें प्रेमचन्द के साहित्य-सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार करने के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। इन समस्त प्रमाणों तथा उक्तियों की उपस्थिति में भी हम प्रेमचन्द को कहीं भी साहित्य के प्रयोजन 'आनन्द' का निषेध करते हुए नहीं पाते; वरन् कला और कला के माध्यम से आनन्द का समर्थन भी प्राप्त हो जाता है। साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धांत पर किसीको आपत्ति नहीं हो सकती।[1]

'मानसरोवर' प्रथम भाग के प्राक्कथन में उन्होंने स्वीकार किया है : "साहित्य काल्पनिक वस्तु है, पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना और इसलिए यह सत्य है।"

प्रेमचन्द को सत्य के प्रति निष्ठावान स्वीकार कर लिया जाय तो उनकी स्वोक्ति उन्हें आनन्दवादी ठहराती है। "......... और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो सकती, और जो सुन्दर नहीं हो सकती, यह सत्य भी नहीं हो सकती।"[2] वे सत्य को ही सुन्दर मानते हैं, और सुन्दर वही है जो आनन्द प्रदान करे। कला सत्य है, इसीलिए वह सुन्दर है, और सुन्दर होने के कारण वह आनन्ददायिनी भी है।

यहाँ प्रेमचन्द की विचारधारा में एक विरोध का सा अनुभव होता है। किन्तु विरोध भ्रांत नहीं करता। दो विरोधी तत्त्वों के संघर्ष से ही अन्तिम सत्य की प्राप्ति होती है। ऊपर उद्धृत वाक्यों के पश्चात् ही प्रेमचन्द कहते हैं : "लेकिन आजकल परिस्थितियां इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नए-नए विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े — वह उनसे आन्दोलित न हो।"[3] अर्थात् यह ज्ञात होते हुए भी, कि परम धर्म कुछ और है, लेखक को आपत् धर्म स्वीकार करना पड़ता है और उसी के अनुसार उसे कार्य भी करना पड़ता है।

प्रेमचन्द ने गोदान के एक पात्र से मुख से भी कहलवाया है : "बस इतना समझ लो कि सुख में आदमी का धरम कुछ और होता है, दुख में कुछ और। सुख में आदमी दान देता है, मगर दुख में भीख तक माँगता है। उस समय आदमी का यही

१. 'कुछ विचार' पृ० ५२
२. 'मानसरोवर' भाग प्रथम पृ० ५
३. 'कुछ विचार' पृ० ५२

धरम हो जाता है।.........आपत्काल में श्री रामचन्द्र ने सवरी के जूठे फल खाए थे, बालि को छिपकर बध किया था। जब संकट में बड़े-बड़ों की मर्यादा टूट जाती है, तो हमारी तुम्हारी कौन बात है।"[1]

प्रेमचन्द साहित्य का अंतिम प्रयोजन 'आनन्द' को स्वीकार करते हैं और 'कला के लिए कला' का सिद्धांत भी कला के उच्चतम सिद्धांत के रूप में उन्हें सहज ही मान्य है। किन्तु युग और समाज के संदर्भ में प्रेमचन्द को यह सिद्धांत अव्यवहारिक लगा। सिद्धांत रूप में साहित्य का अंतिम प्रयोजन 'आनन्द' ही है, किन्तु युग की परिस्थितियों के अनुसार वह परिवर्तित होकर कांतासम्मिति उपदेश के माध्यम से सुधार भी हो सकता है और यही तथ्य प्रेमचन्द के साहित्य के साथ भी लागू है।

सारांश यह कि प्रेमचन्द भी साहित्य का अन्तिम उद्देश्य 'आनन्द' को ही मानते थे, यह दूसरी बात है कि उनकी 'मर्यादा' भी 'संकट के कारण' टूट गई थी।

साहित्य का स्वरूप तथा उसके लक्षण

साहित्य के स्वरूप के विषय में प्रेमचन्द की अनेक उक्तियाँ मिलती हैं। कतिपय स्थानों पर लगता है कि वे साहित्य की परिभाषा ही कर रहे हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण किसी अन्य उक्ति में उसके अतिरिक्त कोई विचार प्राप्त हो जाता है। अतः उनकी किसी भी एक उक्ति का अविलम्ब ग्रहण कर हम साहित्य के स्वरूप विषयक उनके विचार नहीं जान सकते। किन्तु कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य हैं, जिनका कथन बार-बार हुआ है। उन्हीं तत्त्वों का विश्लेषण कर अंत में किसी परिभाषा पर पहुँचने का प्रयत्न किया जा सकता है।

क—सत्य—"साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो।"[2] सच्चाई शब्द का प्रयोग बहुधा यथार्थ के लिए ही हुआ है। "वस्तुतः साहित्य का आधार जीवन है, इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं, लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी रहती है।"[3] यहाँ 'मिट्टी' शब्द भी यथार्थ अथवा वास्तविकता[4] के लिए ही आया है।

प्रेमचन्द जीवन के यथार्थ रूप के चितेरे तो हैं, किन्तु यदि जीवन अभावात्मक

---

१. 'गोदान', १५ वाँ संस्करण—सरस्वती प्रेस, बनारस पृ० ३५१
२. 'कुछ विचार' पृ० २
३. साहित्य का उद्देश्य, पृ० २०
४. वह साहित्यकार कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए......
—साहित्य का उद्देश्य, पृ० २०

विचारों को ही प्रोत्साहन दे, घृणा का प्रचार करे अथवा निराशावर्धक हो—तो वे उसमें जीवन के शाश्वत सत्यों—जिन्हें आदर्श की संज्ञा दी गई है—का मिश्रण समझते हैं।[1]

निष्कर्ष यह कि प्रेमचन्द ने वास्तविकता अथवा यथार्थ एवं जीवन के शाश्वत सत्यों—जिनमें यथार्थ तथा कल्पना, उभय तत्वों का संयोग है—दोनों को सत्य के अन्तर्गत स्वीकारा है।

ख – सौन्दर्य— प्रेमचन्द ने सौन्दर्य को एक नवीन, वैयक्तिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। हमारे साहित्य में 'सौन्दर्य' के रूप को लेकर कई वर्षों से विवाद चल रहा था, जिसका सम्बन्ध कलावादी एवं यथार्थवादी दलों से है। कलावादियों के अनुसार जीवन का कोमल पक्ष ही सौन्दर्य का प्रतीक है और उसका वास अधिकतर आकार तथा रूप में है। किन्तु दूसरा दल, जीवन की यथार्थता में ही सौन्दर्य के दर्शन करता है। कलावादियों का विचार प्राचीन है तथा यथार्थवादी नवीन रक्त का उत्साह संजोए हुए है। प्रेमचन्द स्पष्टतः दूसरे दल के समर्थक हैं: "हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी।"[2]

वे विचार की अन्य अति को छूने-से लगे थे। प्राचीन कलाकार गगनचुम्बी प्रासादों एवं संगमरमर के पौधों में ही सौन्दर्य मूर्तिमान देखते थे, किन्तु प्रेमचन्द के लिए महलों में सौन्दर्य का साकार होना संभव नहीं था, वे झोंपड़ी में इस सौन्दर्य का साक्षात्कार अधिक सरलता से कर सकते थे।[3]

आदिकाल से ही साहित्य में सामान्य जनता की अवहेलना हो रही थी, और रीतिकाल में तो यह अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँची। कवियों की समस्त कल्पना सौन्दर्य के चारों ओर घूम रही थी, और सौन्दर्य था केवल सुन्दरी युवती नारियों के नख-शिख वर्णन में—कहीं-कहीं तो उसके भी अतिक्रमण में प्रेमचन्द जिजीविषा की यह अवहेलना सहन न कर सके और उन्होंने इस विचारधारा के प्रत्याख्यान के लिए

---

१. वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे में डुबा दे, जो हमें वैराग्य, पस्त-हिम्मती, निराशावाद की ओर ले जाए, जिसके नजदीक संसार दुख का घर है, उससे निकल भागने में हमारा कल्याण है, जो केवल लिप्सा और भावुकता में डूबी हुई कथाएं लिखकर कामुकता को भड़काए, निर्जीव है।

—साहित्य का उद्देश्य, पृ० १६६

२. साहित्य का उद्देश्य, पृ० १३

३. "........रंक की झोंपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है, उतना महलों में नहीं।"

—वही पृ० १४

मूर्तिभंजक रूप धारण किया था। इससे अधिक शायद ही वे किसी और विषय पर मुखर हुए हों : "उपवास और नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह प्राचीन कलाकार स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है उस बच्चों वाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चों को खेत की मेंड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होठों, कपोलों और भौहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठों और कुम्हलाए हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ।

"पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रंगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप गर्व की निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाए हुए होठों और कुम्हलाए हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट सहिष्णुता है। हाँ उसमें नफासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।"[1]

स्पष्टतः सौन्दर्य का वास होठों, कपोलों, भौहों अथवा नफासत, दिखावे और सुकुमारता में नहीं है, वह है यथार्थ में अथवा उससे भी ऊपर 'सत्य' में। रूढ़ शब्दावली में सुन्दर वही है जो शिव भी है, और जीवन के लिए शिव है, जीवट-शक्ति, संघर्षों में विजयी होकर निकलने की उत्कट आकांक्षा। प्रेमचन्द जीवनभर भावात्मक शक्तियों के लिए संघर्ष करते रहे हैं, यही कारण है कि सौन्दर्य मानव अंगों में न होकर उसके भीतर निवास करती हुई जीवनी शक्ति उस प्रज्वलित ज्वाला में है जो धरती को स्वर्ग बनाने तक जलते रहने का संकल्प किए बैठा है। और इसी सौन्दर्य का प्रचारक साहित्य—प्रेमचन्द की दृष्टि में सत्साहित्य है।

ग—रस और आनन्द—प्रेमचन्द ने रस को साहित्य का अनिवार्य तत्त्व माना है। उनके पास साहित्येतर वाङ्मय से साहित्य को पृथक् करने की कसौटी है, रस की। "मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है—अन्तर इतना ही है कि वह उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य मात्र के लिए।"[2]

---

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० १३-१४

२. क—साहित्य का उद्देश्य, पृ० ४१

ख—"लेकिन उसे हम उस वक्त तक सद्साहित्य नहीं कह सकते, जब तक उसमें रस का स्रोत न बहता हो,......केवल विचार और दर्शन का आधार लेकर वह दर्शन का शुष्क ग्रंथ हो सकता है, सरल साहित्य नहीं हो सकता।

ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द भी 'रस' को साहित्य की आत्मा मानने के पक्ष में थे। उपर्युक्त उक्ति के अनुसार यदि साहित्य में से 'रस' बहिष्कृत कर दिया जाए तो शेष तत्त्वों की उपस्थिति में भी वह अध्यात्म और दर्शन मात्र रह जाएगा।

रसानुभूति, अनिवार्यतः आनन्दाभूति है। प्रेमचन्द के लिए 'रस' को साहित्य का अनिवार्य तत्व स्वीकार किया है, दूसरे स्थान पर वही महत्व आनन्द को दिया गया हैं : "......और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं साहित्य हो जाता है।"[1] अर्थात् रस-जन्य आनन्द ही साहित्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है।

घ—बुद्धि तत्त्व—बुद्धि एवं भावना को दो विरोधी तत्वों के रूप में स्वीकार कर साहित्य के लिए बुद्धि तत्व को सामान्यतः हानिकारक ही समझा जाता है। प्रेमचन्द भी इस विचार से सहमत हैं।[2] किन्तु यदि बुद्धि का एकांतभाव हो तो साहित्य मूर्खता का अवतार भी हो सकता है। वैसे भी प्रत्येक उत्कृष्ट साहित्यकार चिंतक और मनीषी भी हुआ करता है, फिर हम कैसे यह अपेक्षा कर सकते हैं कि वह साहित्य-सर्जना के समय अपनी मनीषा को कहीं पृथक् रख आए। साहित्य में उच्च चिंतन का अभाव भी नहीं होता, अतः बुद्धि तत्व को साहित्य से हम सर्वथा बहिष्कृत भी नहीं कर सकते और प्रेमचन्द इस विचार से भी सहमत हैं।[3]

वस्तुतः साहित्य बुद्धि से अधिक रस-प्रधान विषय है। किन्तु बुद्धि का बहिष्कार साहित्य से, न किसीने किया है, न किया जा सकता है। प्रश्न यह है कि साहित्य में बौद्धिकता की स्थिति क्या है। किस मात्रा में बौद्धिकता अपेक्षित है और भावना अथवा रस से उसका सामंजस्य किस प्रकार स्थापित होगा।

इन प्रश्नों का उत्तर प्रेमचन्द ने सचेत होकर दिया है : "सच पूछिए, तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की

जिस तरह किसी आन्दोलन या किसी सामाजिक अत्याचार के पक्ष या विपक्ष में लिखा गया रसहीन साहित्य प्रोपागेंडा है।"

—साहित्य का उद्देश्य, पृ० ३३

१. वही, पृ० २१-२२

२. "साहित्य का संबंध बुद्धि से उतना नहीं जितना भावों से है। बुद्धि के लिए दर्शन है, विज्ञान है, नीति है। भावों के लिए कविता है, उपन्यास हैं, गद्यकाव्य है।" वही, पृ० ३०

३. "हम हर एक विषय की भांति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं।"

—प्रेमचन्द जीवन और कृतित्व : रहबर, पृ० ५६

वस्तु है, बुद्धिवाद की यहाँ इतनी जरूरत है कि भावुकता बेलगाम होकर दौड़ने न पाए ।''[1]

स्पष्ट है कि भावुकता, भावना अथवा हृदय-पक्ष की प्रमुखता को दृढ़तापूर्वक स्थापित कर, प्रेमचन्द बुद्धि को भी साहित्य-मंदिर में प्रवेश करने के लिए संकीर्ण-सा मार्ग दे रहे हैं । ताकि वह हृदय पर दृष्टि रखे एवं उसकी उच्छृंखलताओं की आलोचना करे । दूसरी ओर, भावुकता की लगाम बुद्धि के हाथों में देखकर उसे भावना की नियंत्रणकारिणी शक्ति भी समझा जा सकता है और इस प्रकार उसका महत्व भावना से कहीं अधिक माना जा सकता है । कर्ता से नियंता ही अधिक सबल होता है । किन्तु प्रेमचन्द बुद्धि को इतना अधिक महत्व देना नहीं चाहते थे । बुद्धि को अधिक महत्व देने से बुद्धि भी बेलगाम दौड़ सकती है और यह उन्हें पसन्द नहीं है : ''.........बुद्धिवाद और तर्कवाद और उपयोगितावाद भी जीवन को दुर्बल कर देगा, अगर उसे बेलगाम दौड़ने दिया गया । बिजली की हमें इतनी ही जरूरत है कि मशीन चलती रहे, अगर करेंट ज्यादा तेज हो गया तो घातक हो जाएगा ।''[2] जब बुद्धि का आधिक्य भी अपेक्षित नहीं, तो मात्र बुद्धि किस प्रकार स्वीकार्य हो सकती है ।[3] साहित्य में भावना अथवा बुद्धि, किसीकी भी अति, स्पृहणीय नहीं है, किन्तु अस्तित्व दोनों का ही आवश्यक है, : ''मनुष्य में न केवल बुद्धि है, न केवल भावुकता । वह इन दोनों का समिश्रण है, इसलिए आपके साहित्य में भी इन दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए ।''[4]

किन्तु उसमें कला अवश्य होनी चाहिए । ''आदर्श साहित्य वही है जिसमें बुद्धि और मनोभाव दोनों का कलात्मक सम्मिश्रण हो ।''[5]

जनता के साहित्यकार होने के नाते प्रेमचन्द साहित्य को कुछ विशिष्ट लोगों की बपौती न समझ, जन-साधारण की वस्तु मानते हैं । जन-सामान्य के पास न तो इतनी शक्ति होती है और न इतना समय, कि वह साहित्य की गुत्थियों को सुलझाने की चेष्टा करे, अतः साहित्यकार का यह कर्त्तव्य हो जाता कि वह क्लिष्टता के स्थान पर अपने साहित्य में सारल्य को स्थान दे । यह सारल्य भाषा में तो हो ही,

---

१. 'साहित्य का उद्देश्य', पृ० ७७
२. वही, पृ० ७७
३. ''आप जनता तक तभी पहुंच सकते हैं, जब आप उनके मनोभावों को स्पर्श कर सकें । आप के नाटक या कहानी में अगर भावुकता के लिए रस नहीं है, केवल मस्तिष्क के लिए सूखा बुद्धिवाद है, तो नाटककार और नटों के सिवा हाल में कोई दर्शक न होगा ।'' —वही पृ० ७८ ।
४. वही, पृ० ७७
५. साहित्य का उद्देश्य, पृ० २०

भाव क्षेत्र भी इससे मुक्त नहीं है। अतः साहित्य को कतिपय नियमों का पालन करना होगा जिनकी अवहेलना के लिए मनुष्य-मात्र के सम्मुख वह उत्तरदायी होगा। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है।...साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदह है।"[१]

वैसे भी साहित्य के दो मुख्य तत्व सत्य और आनन्द, कृतिमता के विरोधी हैं। "आनन्द कृतिमता और आडम्बर से कोसों दूर भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध।"

वैयक्तिकता

प्रत्येक साहित्यकार के अपने विचार, मान्यताएँ, मूल्य और मानक होते हैं। जो मिलकर उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं—जिनका प्रचार वह अपने साहित्य के माध्यम से करता है। आज का महान से महानतम साहित्यकार इस प्रकार के प्रचार से अछूता नहीं है। कतिपय आचार्यों ने इसे 'प्रोपेगेंडा' का नाम दिया है और साहित्य के लिए हानिकारक माना है। प्रेमचन्द का विचार उनसे भिन्न है। 'प्रोपेगेंडा' बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए।"[२]

किन्तु वैयक्तिकता का अर्थ संकीर्णता नहीं है और न ही उससे यह तात्पर्य है कि साहित्यकार अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की हानि से उत्पन्न विष को साहित्य में संजोकर समाज का वातावरण विषैला करे। प्रेमचन्द संकीर्णता एवं निराशावादी भावों—दोनों के ही घोषित विरोधी हैं। संकीर्णता, चाहे वैयक्तिक हो अथवा राष्ट्रीय, प्रेमचन्द उसके पोषक नहीं हैं। "उसकी (साहित्यकार की) विशाल आत्मा अपने देश-बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती हैं। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।"[३]

साहित्यकार के व्यक्तित्व से प्रेमचन्द का अभिप्राय, व्यापक, दृढ़, स्वस्थ एवं भावात्मक अवधारणाओं के लिए संघर्ष करने वाला व्यक्तित्व था। जो साहित्य निराशा, निरुत्साह, घृणा इत्यादि अभावात्मक शक्तियों को प्रोत्साहन देता है, समाज में शिथिलता उत्पन्न करता है अथवा निवृत्ति की ओर प्रेरित करता है, उसे साहित्य

---

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० २१

२. वही, पृ० १८

३. वही, पृ० २५

कहना साहित्य को बदनाम करना है।[1]

परिभाषा

साहित्य की परिभाषा प्रेमचन्द के अनुसार क्या होगी? वस्तुत: उन्होंने साहित्य की परिभाषा कहीं की नहीं है, स्वरूप का वर्णनमात्र ही किया है।

एक परिभाषा, जिसका प्रेमचन्द ने स्पष्ट समर्थन किया है, मैंथ्यू आर्नल्ड की परिभाषा, 'जीवन की आलोचना' है।[2] किन्तु कठिनाई यह है कि उनके द्वारा समर्थित होते हुए भी इसमें वे समस्त तत्त्व नहीं आते, जो प्रेमचन्द को साहित्य में अपेक्षित हैं।

डॉ० राजेश्वर गुरु ने प्रेमचन्द की दृष्टि से जो परिभाषा निर्मित की है वह है: "साहित्य समाज विकास के उद्देश्य से जीवन की आलोचना करते हुए यथार्थ और आदर्श के समन्वित चित्रण द्वारा, धर्म और नीति के लक्ष्यों को भय या प्रलोभन और तर्क या उपदेश के बजाय, सौन्दर्य-प्रेम और मानसिक अवस्थाओं द्वारा व्यक्त करता है।"[3] परिभाषा सुन्दर होने पर भी इसमें प्रेमचन्द के अनुसार साहित्य के आवश्यक तत्व रस तथा आनन्द की वर्षा तक नहीं है। परिभाषा के अन्य दोष भी विद्यमान हैं, सूत्र शैली के अभाव में यह वर्णन (Decsripiotn) ही हो पाई है, परिभाषा नहीं।

---

१. "साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता को सचेत करने की, हमारी रसिकता को तृप्त करने की शक्ति होनी चाहिए। ऐसी रचनाओं से कौमें बनती हैं। वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे में डुबादे, जो हमें वैराग्य, पस्तहिम्मती, निराशा-वाद की ओर ले जाए, जिसके नजदीक संसार दुःख का घर है और उससे निकल भागने में हमारा कल्याण है, जो केवल लिप्सा और भावुकता में डूबी हुई कथाएँ लिखकर कामुकता को भड़काए, निर्जीव है। सजीव साहित्य वह है जो प्रेम से लबरेज हो, उस प्रम से नहीं, जो कामुकता का दूसरा नाम है, बल्कि उस प्रेम से जिसमें शक्ति है, आत्मसम्मान है।"

—साहित्य का उद्देश्य, पृ० १६६

२. "साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार से सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।" —'कुछ विचार' पृ० ३

३. प्रेमचन्द: एक अध्ययन, पृ० ५०

साहित्य-विषयक अपनी कसौटी बताते हुए, प्रेमचन्द ने साहित्य की परिभाषा तो नहीं की है, किन्तु परिभाषा के अत्यधिक निकट अवश्य आ गए हैं; हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिस में उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।[1] इस उक्ति में साहित्य के प्रायः समस्त तत्त्व आ गए हैं, किन्तु इसका सर्वप्रमुख दोष इसकी शैली है। परिभाषा सूत्र शैली में होती है, व्यास शैली में नहीं। किन्तु तत्त्वों के उपयुक्त विवेचन एवं इस उक्ति से संकेत ग्रहण करें तो प्रेमचन्द के अनुसार साहित्य की परिभाषा होनी चाहिए—

'रसजन्य आनन्द से युक्त, बुद्धि द्वारा सौन्दर्य के माध्यम से अकृत्रिम भाषा में सत्यान्वेषण, साहित्य है।'

साहित्य का क्षेत्र

साहित्य का सम्बन्ध मानव तथा मानव-जीवन से है। विशेषीकरण (स्पेशिलाइजेशन) का युग होने के कारण मनुष्य ने अपने जीवन के अनेक विभाग कर दिये हैं और उन विभागों का अध्ययन कोई विशिष्ट विज्ञान अथवा कला करती है। किन्तु समस्त ज्ञान—विज्ञान एवं कलाओं के केन्द्र बिन्दु के रूप में मानव ही स्थित है। अनेक बार साहित्य पर आरोप लगाया जाता है कि वह अन्य विषयों की सीमाओं का अतिक्रमण कर रहा है। यह आरोप बहुधा तीन क्षेत्रों में लगाया जाता है—

१. साहित्य और समाज, २. साहित्य और राजनीति, ३. साहित्य और इतिहास।

देखना यह है कि इन क्षेत्रों में जाना साहित्य की अनाधिकार चेष्टा है अथवा साहित्य का उनके साथ कोई सम्बन्ध भी है।

१. साहित्य तथा समाज

प्रेमचन्द व्यष्टिवादी नहीं समष्टिवादी लेखक थे; उनके सम्मुख सदा समाज का विचार रहता था और इसी समाज को सुधारने के लिए उन्होंने कलम का अवलम्ब ग्रहण किया था। उनके अनुसार साहित्य एक आदर्श था, जो समाज की आँखों के सम्मुख रखा जाता था, ताकि समाज भी स्वयं को उसी रूप में ढालने की चेष्टा करे। यदि हम साहित्यिक आदर्शों की रक्षा नहीं कर सकेंगे तो समाज अनिवार्यतः पतन की ओर ही अग्रसर होगा।[2] यही कारण है कि प्रेमचन्द निराशावादी

---

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० १९

२. "साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते।"—साहित्य का उद्देश्य, पृ० २७

साहित्य अथवा साहित्य में शृंगार के आधिक्य के सदा विरोधी रहे हैं। उनका विचार है कि यदि साहित्य में जीवन के भावनात्मक मूल्यों को ही प्रोत्साहन किया जाएगा, तो समाज में भी भावात्मक अवधारणाएं (पोसिटिव कंसेप्ट्स) पनप न पाएँगे। ऐसे समय में राष्ट्र, जाति अथवा समाज की मृत्यु का कोई उपचार नहीं हो सकेगा।[1]

प्रेमचन्द ने साहित्य का ही समाज पर अधिक प्रभाव माना है, समाज का साहित्य पर कम। उन्होंने स्वीकार किया है कि समाज स्वयं नहीं चलता, उसका नियंत्रण करने वाली सदा ही कोई अन्य शक्ति रही है—पहले समाज की लगाम धर्म के हाथ में थी आज साहित्य के हाथ में है।[2] किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो पहले भी समाज की लगाम धर्म नहीं धार्मिक साहित्य के हाथों में थी। धर्म भी साहित्य के माध्यम से ही समाज की दिशा परिवर्तित करता था।

२. साहित्य और राजनीति

प्रेमचन्द साहित्यकार और राजनीतिक के कार्य-क्षेत्र एवं प्रयोजन में भिन्नता ही नहीं देखते थे। जो कार्य राजनीतिक नेता अपने आन्दोलनों से करता है, उसी साध्य की सिद्धि साहित्यकार अपनी कलम के द्वारा प्राप्त करता है; "इसके माने हैं कि दुनिया में महात्मा गांधी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उदेश्य यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों, वह इन लोगों को आगे बढ़ाने के लिए आन्दोलन मचा रहे हैं। मैं लिखकर के उनको उत्साह दे रहा हूँ।"

जहाँ कहीं भी साहित्य एवं राजनीति की तुलनात्मक महत्ता का प्रश्न उठा है, प्रेमचन्द ने साहित्य का ही पक्ष ग्रहण किया है। उन्होंने साहित्य को इन राजनीतिक आन्दोलनों के लिए मार्ग प्रशस्त करनेवाला माना है। पर वह राजनीतिक आन्दोलन का साधन न होकर अन्याय का विरोधी एवं जागृति का प्रतीक रहा है।[3] तात्पर्य यह कि साहित्य समाज के भाव पक्ष से संबद्ध है। वह उस भावभूमि को परिवर्तित करता है तथा पुरानी मान्यताओं के प्रति विद्रोह उत्पन्न करता है जब इस प्रकार की मनोभूमि प्रस्तुत हो जाती है तब उसकी वाह्य अभिव्यक्ति, राजनीतिक आन्दोलनों के माध्यम से होती है। अतः साहित्य का मूल्य किसी प्रकार भी राजनीति से हीन नहीं है; "साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली चीज नहीं, उसके आगे-आगे चलने वाला 'एडवांस गाइड' है।"[4]

---

१. कुछ विचार, पृ० ४
२. वही, पृ० ६
३. प्रेमचन्द और गोर्की पृ० ८८
४. साहित्य का प्रयोजन —पृ० ६८

३. साहित्य और इतिहास

प्रेमचन्द इतिहास की परम्परागत परिभाषाओं को अस्वीकार करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है, "घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं।"[1] उनके अनुसार देश एवं काल का सत्य चित्रण ही इतिहास है। जो इतिहास, देश के कुछ-एक धनी व्यक्तियों अथवा सम्राटों का विवरण देकर ही मौन धारण कर लेता है, वह उस देश का इतिहास कहलाने का अधिकारी नहीं है। अतः सत्य इतिहास को उस देश एवं काल की सामान्य परिस्थितियों एवं जन-सामान्य का चित्रण करना होगा। किन्तु इस प्रकार का चित्रण तथ्यों मात्र के आधार पर नहीं हो सकता, उसमें तो कल्पना का प्रयोग आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी हो जायगा और इन समस्त विशेषताओं से युक्त चित्रण केवल साहित्य में ही हो सकता है। यही कारण है कि प्रेमचन्द को स्वीकार करना पड़ा, साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता।[2] जीवन का चतुर्दिक चित्रण साहित्य ही कर सकता है और वही देश-काल का प्रतिबिम्ब है, अतः वही सत्य इतिहास भी है।

प्रेमचन्द और आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद

दो-एक विद्वानों के सिवाय समस्त हिन्दी संसार इस विषय में सहमत है कि प्रेमचन्द ने शुद्ध रूप से यथार्थवादी थे न आदर्शवादी, उन्होंने आदर्श और यथार्थ के संयोग से जिस विचारधारा का प्रवर्तन किया था, उसकी संज्ञा आदर्शोन्मुख यथार्थ-वाद है।

प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख-यथार्थवादी होना स्वयं-सिद्ध-सी वस्तु मान ली गई है। यही कारण है कि अनेक विद्वानों की सैकड़ों उक्तियाँ एवं स्वीकारोक्तियाँ तो प्राप्त होती हैं किन्तु तर्क देने की आवश्यकता कहीं भी नहीं समझी गई।

अन्य विद्वानों का तो यह विचार है ही, स्वयं प्रेमचन्द भी इनसे असहमत नहीं हैं : "इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्शवाद का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।"[3]

किन्तु आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसका स्पष्ट विरोध किया है : "कोई

---

१. 'साहित्य का उद्देश्य'—पृ० २५
२. 'वही, पृ० २५
३. 'कुछ विचार', पृ० ५१

कलाकार या तो यथार्थवादी ही हो सकता है या आदर्शवादी ही। ये दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराएँ और कला शैलियां हैं। इनका मिश्रण किसी एक रचना में संभव नहीं साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख, आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की वस्तु नहीं हो सकती।"[१]

डॉ० नगेन्द्र भी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के सर्वथा विरोधी हैं: "आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है, और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है।"[२]

वस्तुत: आदर्शवाद तथा यथार्थवाद दो ऐसे विरोधी दर्शनों पर आधारित हैं, जिनमें समन्वय सम्भव ही नहीं है। चैतन्यवादी दर्शन (Idealism) आज तक जड़ पदार्थ के अस्तित्व की व्याख्या नहीं कर सके और न ही भौतिकवादी (Materialists) चैतन्य के अस्तित्व का कारण बता सके हैं। चैतन्यवादियों ने 'जड़' को (confused moved) कहा है, किन्तु यह समस्या का समाधान नहीं है। वैसे भी प्रथम दर्शन आस्तिक है, परम्परा पालक है, एवं अन्तर्मुखी है, द्वितीय नास्तिक है, विद्रोही है एवं बहिर्मुखी है। उनमें समन्वय किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

साहित्यिक धाराओं के रूप में भी उनके अंतर को समाप्त करना असम्भव सा लगता है। आदर्शवाद, कल्पना को अविलम्ब ग्रहण करता है, आस्थावान एवं आशावादी है, यथार्थवादी कल्पनामुक्त, आस्थाहीन एवं निराशावादी हैं। प्रथम जीवन के उज्ज्वल पक्ष को देखता है तथा द्वितीय को नयनों के सम्मुख तमसाच्छन्न अंश ही उभरता है। इनकी शैलियों तथा शब्दावली में भी अंतर है। आदर्शवादी लेखक भावुकतापूर्ण कोमल शब्दावली का व्यवहार पसन्द करते हैं तथा यथार्थवादी साहित्यकार भावुकताहीन कठोर, कभी-कभी ग्राम्य अथवा अश्लील भाषा का भी प्रयोग कर बैठते हैं।

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद में चरित्रों की सम्भावना के लिए भी कोई अवकाश नहीं है। जिस प्रकार साहित्य में इन दो चिताधाराओं का समन्वय सम्भव नहीं उसी प्रकार किसी व्यक्ति के अन्तर में भी इनका सम्मिश्रण असम्भव ही है।

स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में हमें ऊपर उद्धृत आचार्यों की बात अक्षरश: स्वीकार करनी पड़ेगी और स्वयं प्रेमचन्द की साक्षी होते हुए भी कहना पड़ेगा कि प्रेमचन्द साहित्य में जिस चिन्तन-धारा के समर्थक थे, उसकी संज्ञा 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' नहीं हो सकती।

---

१. 'आधुनिक साहित्य' पृ० १९७

२. 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला, सम्पादक इन्द्रनाथ मदान पृ० १८९-१९०

प्रेमचन्द की धारा का नामकरण

परम्परागत उक्तियों को त्याग यदि हम स्वयं प्रेमचन्द के साहित्य का विश्लेषण करें तो इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१—प्रेमचन्द मनुष्य में पशुत्व को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके साथ ही प्रच्छन्न रूप में देवत्व को अवस्थित भी मानते हैं।

२—पशुत्व का दमन कर, देवत्व को प्रोत्साहन दे मानव को सुखी बनाया जा सकता है।

३—इस सुख-शांति की प्राप्ति इसी संसार में सम्भव है।

इन तीनों गुणों की आचार्य द्विवेदी के इस अनुच्छेद से तुलना हमारे महत्व की है : "·········मनुष्य अद्भुत शक्तियों का भंडार है। उसने अनेक त्याग और आत्मदान के बाद अपने भीतर अनेक सद्गुणों का विकास किया है, वह पशु-सामान्य धरातल से जो ऊपर उठ सका है इसका कारण यह है कि उसने अपने भीतर त्याग की, तपस्या की और आत्मसंयम की बुद्धि विकसित की है। उसके भीतर सम्भावनाएँ अनेक हैं। इसी मर्त्यलोक को अद्भुत अपूर्व शांति-स्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है।

इसी दृष्टि को उन दिनों मानवतावादी कहा गया था।[1] "स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की दृष्टि की तीनों विशेषताएं मानवतावादी दृष्टिकोण से सम्बद्ध हैं और इसके अतिरिक्त 'आशावाद' भी प्रेमचन्द एवं मानवतावादी दृष्टि दोनों में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है। अतः प्रेमचन्द साहित्य में जिस चिन्तन-धारा के समर्थक थे, उसे अनिवार्यतः 'मानवतावाद' ही स्वीकार करना होगा।

उपन्यास

प्रेमचन्द उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझते हैं, और मानव-चरित्र के रहस्यों को खोलना ही, उनके अनुसार उपन्यास का सर्वप्रमुख लक्ष्य है। प्रेमचन्द ने ऐसे शब्दों का चयन किया है जो अपनी संक्षिप्तता में समुद्र की असीम व्यापकता एवं विस्तार संजो सकते हैं। 'मानव-चरित्र की गुत्थियों को सुलझाना सरल नहीं और न ही आज तक कोई उसका सीमा-निर्धारण ही कर सका है। मानव-चरित्र का चित्र होने के नाते, उपन्यास भी सीमाहीन हो जाता है, उसकी परिधि के विस्तार का निर्देश नहीं हो सकता।

मानव-चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उन अनेक परिस्थितियों का चित्रण भी अनिवार्य हो जाता है, जिनमें मानव-चरित्र अपनी गुत्थियों को अपने उहापोह

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ४३०-३१

को निरावृत्त करता है। और इन परिस्थितियों के चित्रण से तात्पर्य है, घटनाओं का अवलम्ब। घटनाओं का अवलम्ब स्वीकार कर कथा का बाहिष्कार हम किसी प्रकार नहीं कर सकते। अतः कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के अनुसार उपन्यास मुख्यतः ऐसी कथा है, जिसमें चरित्र भी हैं और घटनाएँ भी किन्तु प्राधान्य घटनाओं का न होकर चरित्रों का है। घटनाएँ तो चरित्रों को स्पष्ट तथा मुखर करने का साधन मात्र हैं।

डॉ॰ राजेश्वर गुरु का निष्कर्ष है कि प्रेमचन्द यथार्थ घटनाओं के ही पक्षपाती हैं और यही कारण है कि उनके अनुसार उपन्यास आसपास के जीवन का प्रतिफलन मात्र है, जिसमें मानव-चरित्र का चित्रण मुख्य है।

किन्तु प्रेमचन्द का अति यथार्थवादी रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता। वे उपन्यास को जीवन-चरित्र के अधिक निकट मानते हैं और उनके अनुसार भविष्य का उपन्यास पूर्णतः जीवन-चरित्र ही होगा, किन्तु वे कहीं भी स्वीकार नहीं कर सके कि चरित्र को उसी प्रकार, उसके यथातथ्य यथार्थ रूप में चित्रित किया जाए। सम्प्रति काल्पनिक घटनाओं के चित्रण को यथार्थ से आवृत्त करने की चेष्टा की जाती है, भविष्य में यथातथ्य यथार्थ पर कल्पना का झिलमिल आवरण डालना होगा, ताकि वह अयथार्थ लग सके।[1]

यथार्थ पर कल्पना का एवं कल्पना पर यथार्थ का यही आवरण कला है, और प्रेमचन्द कला की अवहेलना कहीं भी नहीं कर सके हैं।

इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रेमचन्द ने अपने चिर-प्रिय शब्द 'आदर्श' एवं यथार्थ का अवलम्बन ग्रहण किया है: "यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।...

"इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहां यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया है........."[2] और वैसे भी प्रेमचन्द उपन्यासकार का

---

१. यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का, उसकी छुटाई-बड़ाई, का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पायी है। हां, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जाएगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं; भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा।"

—कुछ विचार पृ॰ ६२.

२. साहित्य का उद्देश्य, पृ॰ ५७

प्रधानगुण उसकी सृजन-शक्ति ही मानते हैं[1] ऐसी अवस्था में उन्हें यथार्थ और कल्पना के समन्वय का समर्थक मानना ही उचित है।

उपन्यास के विषय-चयन में प्रेमचन्द ने लेखक की स्वतन्त्र दृष्टि एवं चिंतन-धारा पर भी पर्याप्त बल दिया है। उपन्यासकार को अपनी परम्परा तथा उस परम्परा की प्रतिनिधि प्राचीन पुस्तकों से अपने विषय का चयन नहीं करना चाहिए। यह तो परम्परा का अनुसरण मात्र होगा, जिसमें न कोई नवीनता होगी न मौलिकता। इस प्रकार लेखक समाज की प्रगति में कोई योग नहीं दे पाएगा। अतः वह समाज के उत्कर्ष के लिए नवीन वस्तुओं का चयन करे, और यह तभी सम्भव है जब वह अतीत के बोझ जिसकी प्रतिनिधि प्राचीन पुस्तकें हैं—को झटक दे! वह नवीन वस्तुओं का अन्वेषण तो करे ही, किन्तु उन्हें देखने की दृष्टि भी अपनी—व्यक्तिगत दृष्टि—रखे।[2] इस प्रकार वह समाज के सम्मुख साहित्य की नवीन धाराएँ, चिन्तन की नूतन दिशाएँ एवं पृथक जीवन-दर्शन को रख सकेगा, और यही समाज तथा मानव की प्रगति में उसका योगदान होगा।

प्रेमचन्द का समस्त साहित्य एक ही बात की ओर संकेत करता है कि वे सरल सुबोध भाषा के समर्थक थे। विशेषतया कथा के लिए भाषा की दुरूहता अत्यधिक घातक हो सकती है। जटिल भाषा में कथा खो जाती है और उसका रस शुष्क हो जाता है। जिससे वह शैली न सजीव रह जाती है न प्रभावोत्पादक! और प्रेमचन्द के अनुसार "उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभाव-उत्पादक होनी चाहिए, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दों का गोरख-धंधा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि उसमें ज़रूर कोई न कोई गूढ़ आशय है।"[3] अतः प्रेमचन्द के अनुसार उपन्यास की प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१—उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है।

२—मानव-चरित्र को सुलझाने के लिए घटनाओं का अवलम्ब ग्रहण किया जाता है।

३—ये घटनाएँ, यथार्थ एवं कल्पना के सुन्दर समन्वय की प्रतीक हैं।

४—उपन्यासकार की दृष्टि एवं विचारधारा वैयक्तिक एवं स्वतंत्र होती है।

५—उपन्यास की शैली सजीव और प्रभावोत्पादक तथा भाषा सरल होती है।

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ६८

२. साहित्य का उद्देश्य, पृ० ६४

३. साहित्य का उद्देश्य, पृ० ६८

कहानी

अन्य विद्वानों के ही समान प्रेमचन्द ने भी कहानी का उपन्यास के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया है और उनका अन्तर स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित संकेत दिए हैं—

१—"उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है, आख्यायिका केवल एक घटना है— अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं।"

२—"......कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है, और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न धन है न समय।"

३—"कहानी वह ध्रुपद की तान है जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्र को परिपूरित कर देता है, जितना रातभर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।"[1]

इन उक्तियों के अनुसार आख्यायिका में घटना, पात्र एवं चरित्रों की संक्षिप्तता अनिवार्य है। स्पष्ट है कि घटनाओं के इस संक्षेप से कहानी का आधार भी संक्षिप्त ही होगा।

सामान्य रूप से प्रेमचन्द सदा ही साहित्य में सरलता के समर्थक रहे हैं। उपन्यास में भी भाव एवं भाषा दोनों के सारल्य पर उन्होंने बल दिया है। किन्तु कहानी में भाषा की सरलता से तात्पर्य यही हो सकता है कि अन्य साहित्य-विधाओं की भाषा सरल होते हुए भी, कहानी की भाषा उनकी तुलना में अधिक सरल होनी चाहिए।

और अंततः कहानी की तीव्रता की ओर स्पष्ट संकेत है—उपन्यास यदि रात-भर गाने के समतुल्य है तो कहानी ध्रुपद की तान है जो उससे अधिक आकर्षक एवं परिपूर्णता प्रदान करनेवाली है।

उपन्यास में जिस प्रकार से चरित्र को अधिक महत्त्व देते हैं उसी प्रकार वे कहानी में घटना से अधिक महत्त्व मनोवैज्ञानिक-सत्य को देते हैं।

साहित्यकार साहित्य में अनुभूति के महत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकता, न ही प्रेमचन्द ने ऐसा करने की चेष्टा की है। अनुभूति यथार्थ है— किन्तु केवल यथार्थ से साहित्य की रचना नहीं हो सकती। मात्र यथार्थ और चाहे कुछ भी हो जाय किन्तु कहानी की संज्ञा यह धारण नहीं कर सकता।[2] अतः अनुभूति के साथ

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० ३७-३८

२. "कहानी में वस्तु ज्यों की त्यों रखी जाय तो वह जीवन चरित्र हो जाएगी।"
—प्रेमचन्द स्मृति, पृ० २२३

कल्पना का योग करना पड़ता है। जिसे लेखक की अपनी भावना का नाम भी दिया जा सकता है।[1]

तकनीक के प्रश्न का प्रेमचन्द के पास एक ही उत्तर है—सरलता! वे जटिलता के घोषित विरोधी हैं और कहानी में एक निश्चित परिचयात्मक आरम्भ एवं सहज अन्त को अनिवार्य समझते हैं। इस विषय में वे यूरोपी तकनीक के एकांत विरोधी प्रतीत होते हैं।[2]

शैली तथा भाषा

प्रेमचन्द तक आते-आते शैली में बाह्य-तत्व का प्राधान्य समाप्त हो चुका था। और यदि न्यून मात्रा में प्राचीन प्रभाव रहा भी होगा तो कदाचित् वह प्रेमचन्द के प्रभाव के कारण समाप्त हो गया होगा।

प्रेमचन्द ने शैली में आत्म-तत्व के समर्थन में चाहे लेखनी का प्रयोग न भी किया हो, किन्तु उनके व्यक्तित्व एवं रचनाओं की तुलना से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने व्यक्तित्व अपनी मान्यताओं, अपने विचारों, अपनी चिंतन पद्धति एवं अपने स्वभाव को शैली में स्पष्ट झलकने से रोक नहीं पाए हैं। उनका सीधा, सरल, ईमानदार एवं निरलंकार व्यक्तित्व उनकी शैली का प्रथम गुण है।

यदि बाह्य-तत्व परक शैली की पद्धति के द्वारा उनकी रचनाओं का विश्लेषण कर हम शैली के तत्वों – शक्ति, रीति, वृति, गुण इत्यादि को जहाँ तक सम्भव हो—स्पष्ट करें तो पता चलेगा कि वे प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के ही गुण हैं।

गुण, वृत्ति तथा रीति

प्रेमचन्द आडम्बरहीन, क्लिष्टता-मुक्त एवं सरल भाषा के पक्षपाती थे। वे साहित्य की रचना जन-साधारण के लिए कर रहे थे और उनके साहित्य की सफलता इसीमें थी कि जनता उसे अपनाये! अतः प्रेमचन्द का बल साहित्य एवं भाषा की बोधगम्यता पर ही अधिक था।

वस्तुतः प्रेमचन्द उच्चविचारों एवं व्यापक आदर्शों के पक्षपाती थे। उच्च विचारों ने सदा सरलता एवं सादगी को ही अपनाया है, यही कारण था कि उनके अनुसार सरल भाषा, व्यापक आदर्शों की अनिवार्यतः अनुगामिनी थी।[3] बोधगम्यता के इस गुण को शास्त्रीय शब्दावली में 'प्रसादगुण' कहा जा सकता है।

---

१. "अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती है।"
—कुछ विचार पृष्ठ २९

२. हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन : डा० ब्रह्मदत्त शर्मा, पृ० ३२

३. कुछ विचार, पृ० २०

इसी निष्कर्ष को यदि हम और दूर तक खींचे तो प्रसाद गुण से सम्बन्धित होने के कारण प्रौढ़ा (कोमला) वृत्ति एवं पांचाली रीति भी प्रेमचन्द का समर्थन प्राप्त कर सकते हैं।

मुहावरों का प्रयोग

तत्सम बहुला न होने के कारण प्रेमचन्द की भाषा चलती हुई-सी थी तथा मुहावरों को भली भाँति पचा सकती थी। वे वर्णन के साथ उपमाएँ भी देते चलते हैं जो मुहावरों के रूप में होती थीं। ये मुहावरे ग्राम्य-जीवन के समीप हैं। उनका प्रयोजन भाषा का अलंकरण न होकर भावों का स्पष्टीकरण है।

मुहावरों में अधिकांशतः उदाहरण अलंकार की सहायता ली गई है, उपमा और उत्प्रेक्षा का भी प्रयोग है। शब्दावली के साथ समस्त क्रियाएँ भी ग्राम्य जीवन से ही ली गई हैं।

व्यंजना का प्रयोग हमें प्रेमचन्द की रचनाओं में बहुत अधिक नहीं मिलता किन्तु मुहावरों के माध्यम से लक्षणा का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। और 'अभिधा' का प्रयोग तो प्राप्त ही है। अतः सामान्य रूप से प्रेमचन्द अभिधा और लक्षणा के ही लेखक हैं। कारण कदाचित् उनके स्वभाव की सरलता एवं साहित्य को अत्याधिक बोधगम्य बनाने की प्रवृत्ति ही है।

शब्दावली

वे भाव की अभिव्यक्ति एवं उसकी बोधगम्यता का भाषा की शुद्धता से बहुत अधिक विचार रखते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि जनता में परिवर्तन के साथ-साथ भाषा भी परिवर्तित हो तथा नवीन तत्त्वों को ग्रहण करती चले। उनके समय उर्दू-हिन्दी संघर्ष के कारण हिन्दी की शुद्धता-रक्षा-आन्दोलन भी पर्याप्त प्रबल था। अतएव प्रेमचन्द को 'शुद्ध' करके इस विचार के विरुद्ध बार-बार लिखना पड़ा है।[1]

उनका विचार था कि यदि भाषा के इस प्रकार नवीन शब्दों का प्रवेश निषिद्ध किया गया तो वह सीमित, संकुचित एवं बद्ध पुष्करिणी के समान हो जाएगी जिसका जल धीरे-धीरे गंदा हो जाएगा। इसीके परिणामस्वरूप प्रचलित विदेशी शब्दों के बहिष्कार का भी उन्होंने विरोध किया है।[2] सर्वप्रथम उन्होंने विदेशी भाषा से नवीन शब्दों को ग्रहण करने का आग्रह किया था। प्रेमचन्द का विचार था कि बाधा होने पर भी हमें इस विदेशीपन से घबराना नहीं चाहिए और उन शब्दों का स्वागत करना चाहिए, परिचय के साथ ही उनका भयावनापन भी

---

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० १५४-१५५
२. प्रेमचन्द और गोर्की पृ० ८२

लुप्त हो जाएगा ।[1] उनका ध्यान ऐतिहासिक शक्तियों की ओर था और यह बात वे पूर्णतः समझ चुके थे कि इन शब्दों का प्रवेश भाषा में होगा, हम उन्हें रोक नहीं सकते । हमारे देखते-देखते सैंकड़ों विदेशी शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते । उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है ।[2] इस प्रकार उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण किए जाने का भी समर्थन किया है ।

संस्कृत के तत्सम एवं विदेशी शब्दों के अतिरिक्त प्रेमचन्द तद्भव एवं देशज शब्दों के प्रयोग के भी समर्थक थे । समर्थन मात्र सैद्धान्तिक नहीं है, वरन् इस क्षेत्र में उन्होंने अत्यधिक कार्य किया है । उनकी भाषा में शायद सर्वाधिक संख्या तद्भव तथा देशज शब्दों की ही है । जिस भाव अथवा वस्तु के लिए तत्सम शब्द उपलब्ध नहीं थे उनके लिए तो उन्होंने तद्भव तथा देशज शब्दों का प्रयोग किया ही है, अनेक असुन्दर तत्सम शब्दों के स्थान पर सुन्दर तद्भव अथवा देशज शब्दों का उपयोग भी उनके द्वारा हुआ है ।

प्रेमचन्द जी के समय में हिन्दी-प्रदेश में साहित्यिक प्रयोग में दो भाषाएँ व्यवहृत हो रही थीं । हिन्दी तथा उर्दू । प्रेमचन्द ने इन दोनों भाषाओं में लिखा है, क्योंकि वे समग्र जनता तक पहुँचना चाहते थे ।

इन दोनों भाषाओं का संघर्ष पर्याप्त उग्रता प्राप्त कर चुका था और विरोध के और भी बढ़ने की सम्भावना थी । इस प्रश्न पर इस समय हमें तीन मत दृष्टिगत होते हैं :—

१—तत्सम-बहुला शुद्ध हिन्दी ।

२—अरबी-फारसी-शब्दावली-सम्पन्न शुद्ध उर्दू ।

३—उर्दू एवं हिन्दी का सम्बन्धित रूप, 'हिन्दुस्तानी' ।

उनकी धारणा थी कि हिन्दी और उर्दू दो पृथक् भाषाएँ नहीं हैं । प्रेमचन्द का अपने कतिपय अन्य सहयोगियों के साथ यही विश्वास था कि जिस प्रकार भाषा एक ही होने पर भी विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रकार की शब्दावली का आधिक्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार हिन्दी प्रदेश की भी भाषा एक ही है, किन्तु धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक कारणों से विभिन्न समुदायों में विभिन्न प्रकार की शब्दावली के प्रचलन का आधिक्य है । वे हिन्दी और उर्दू में अन्तर का नितांताभाव पाते हैं ।[3] किन्तु यह उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा है कि भाषा एक ही होने पर भी उसके एकाधिक रूप प्रचलित हैं ।[4] प्रेमचन्द, शुद्ध हिन्दी तथा शुद्ध उर्दू के

---

१. प्रेमचंद और गोर्की, पृ० २२२
२. साहित्य का उद्देश्य पृ० १५५
३. वही, पृ० १५६, १५७, तथा २०६
४. वही, पृ० १८८ तथा २०६

स्थान पर हिन्दुस्तानी को ही स्वीकार्य समझते हैं। उनका तर्क है : "..........मगर उसकी राष्ट्रभाषा होने की कसौटी यही है कि उसे ज्यादा से ज्यादा आदमी समझ सकें। हमारी कोई सूबे वाली भाषा इस कसौटी पर पूरी नहीं उतरती । सिर्फ हिन्दुस्तानी करती है.........."[1] प्रेमचन्द के इस तर्क एवं इस मान्यता में साहित्य से अधिक राजनीति कार्य कर रही है। राजनीति क्षेत्र में प्रेमचन्द महात्मा गांधी के अनुयायी थे। महातमा गांधी ने ही राष्ट्रीय एकता के लिए 'हिन्दुस्तानी' का आन्दोलन चलाया था और प्रेमचन्द ने भी उसीका समर्थन किया है । यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है कि यह विचार कहाँ तक मान्य है, पर सत्य यही है कि प्रेमचन्द ने हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने के लिए अपनी कलम की समग्र शक्ति का प्रयोग किया था।[2]

लिपि

प्रेमचन्द भारत की समस्त भाषाओं—आर्य अथवा आर्येतर – के लिए एक ही लिपि करने के मत में थे। अतः इन समस्त लिपियों के स्थान पर एक ही लिपि स्वीकार करने का समाधान दो पद्धतियों से सम्भव था। प्रथम यह कि हम भी अन्य अनेक राष्ट्रों के समान रोमन लिपि की सहायता लेते तथा अपनी समस्त लिपियों को त्याग देते, द्वितीय यह कि हम अपने ही देश की किसी एक लिपि को प्रधानता देकर अन्य लिपियों को त्यागने का प्रयत्न करते। प्रेमचन्द विदेशी लिपि –चाहे वह रोमन हो, अथवा अन्य कोई—की सहायता लेने के पक्ष में नहीं थे। उनके विचार में हमारे पास एक लिपि—नागरी लिपि—ऐसी है जो हमारी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है, अतः विदेशी लिपि की सहायता की आवश्यकता नहीं है।[3]

शिरोरेखा

नागरी लिपि के साथ अनुलग्न एक अनिवार्य प्रश्न उसकी शिरोरेखा है। जब तक लिपि मात्र लिखने से संबंधित थी, तब तक किसी का इस ओर ध्यान नहीं गया था, किन्तु मुद्रण एवं टंकन के यंत्रों ने शिरोरेखा की आवश्यकता के प्रति पर्याप्त तीव्रता से प्रश्न उठाया है। और तब यह भी अनुभव किया गया कि शिरोरेखा, लिखने में भी क्षिप्र गति में बाधक है।

प्रेमचन्द ने इस समस्या को ऐतिहासिक, परम्परा, सौन्दर्य एवं उपयोगिता की

---

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ० १७६
२. देखिए 'राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ, 'कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार' हिन्दी उर्दू की एकता' तथा उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी' इत्यादि निबंध ।
३. साहित्य का उदेश्य, पृ० २५६

दृष्टि से देखा है : शिरोरेखा नागरी अक्षरों का कोई आवश्यक अंग नहीं । जिन ब्राह्मी अक्षरों से नागरी का विकास हुआ है उन्हीं से बंगला, तामिल, गुजराती आदि का भी विकास हुआ है, मगर शिरोरेखा नागरी के सिवा और किसी लिपि में नहीं । हम बचपन से शिरोरेखा के आदी हो गए हैं और हमारी कलम जबर्दस्ती अनिवार्य रूप से ऊपर की लकीर खींच देती है, लेकिन अभ्यास से यह कलम काबू में भी आ सकती है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि शिरोरेखा का परित्याग करके हम अपने लेख की चाल बहुत तेज़ कर सकेंगे और उसकी मदंगति की शिकायत बहुत कुछ मिट जायेगी । रही यह बात की बिना शिरोरेखा के अक्षर मुंड़े और सिरे-कटे से लगेंगे, तो यह केवल भावुकता है। जब आँखे बे रेखा के अक्षरों की आदी हो जायेंगी, तो वही अक्षर सुन्दर लगेंगे । और हमें आश्चर्य होगा कि हमने इतनी सदियों तक क्यों अपनी लिपि के सिर पर इतना बड़ा व्यर्थ का बोझ लादे रखा ।"[1]

निष्कर्ष

प्रेमचन्द के विचारों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१—साहित्य के प्राचीन विषय और तत्संबंधी सिद्धांत ।

२—राजनीति, एवं विज्ञान से आँदोलित साहित्य में उत्पन्न नई समस्याएँ प्रश्न एवं वाद ।

३ -- नवीन विधाएँ ।

साहित्य के प्राचीन विषयों एवं तत्सबन्धी सिद्धांतों के क्षेत्र में प्रेमचन्द भारतीय विचार-धारा के ही अधिक समीप रहे हैं; किन्तु उचित पाश्चात्य विचारों की भी उपेक्षा उन्होंने कभी नहीं की। प्राचीन आचार्यों द्वारा चर्चित तीनों साहित्य-हेतु उन्होंने स्वीकार किए हैं तथा अग्रगामी आचार्यों के अनुरूप ही 'प्रतिभा' पर अधिक बल दिया है। 'प्रयोजन' के विषय में उनका दृष्टिकोण सर्वथा नवीन है : एक शाश्वत प्रयोजन को स्वीकार करते हुए भी वे समयानुसार उसके परिवर्तन में विश्वास रखते हैं। साहित्य के स्वरूप की चर्चा करते समय प्रेमचन्द ने साहित्य के शाश्वत धर्मों को उनका उचित स्थान दिया है; किन्तु समाजिक धर्मों की अवहेलना भी उनसे नहीं हो सकी ।

नई समस्याओं, प्रश्नों एवं वादों पर प्रेमचन्द के अपने सर्वथा मौलिक विचार हैं—जिनमें भारतीय एवं पाश्चात्य तत्त्व इस प्रकार घुल-मिल गए हैं कि उनका पृथकीकरण संभव ही नहीं है ।

दो नवीन विधाएँ हैं – उपन्यास एवं कहानी । प्रेमचन्द ने उन्हें पश्चिमी रूप ही ग्रहण किया है; किन्तु फिर भी उनका अपना योग उसमें है । अनेक स्थानों पर

---

१. साहित्य का उद्देश्य, पृ०, २८८

भारतीय समाज की विशेषताएँ—जो प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का अंग बन चुकी थीं—पाश्चात्य सिद्धांतों के साथ अनुलग्न हो गईं, जिससे उन सिद्धांतों ने एक नवीन रूप धारण किया।

वस्तुतः प्रेमचन्द स्वयं में एक पूर्ण परम्परा हैं, जो प्रत्येक क्षेत्र में मौलिक है। न उन्होंने सिद्धांतों एवं लक्षणों को सन्मुख रखकर अपने साहित्य की रचना की है; न अनेक साहित्यकारों के लक्ष्यग्रंथ एकत्र कर लक्षणों की रचना की है। प्रेमचन्द ने स्वयं व्यापक साहित्य की रचना कर उनमें से उभरते-हुए सिद्धांतों को मान्यता प्रदान की है। अतः उन सिद्धांतों में सत्य का बल तथा अनुभूति की शक्ति है, प्रेमचन्द के सिद्धांत किसी व्यक्ति को समान्य हो सकते हैं, किन्तु उनकी महत्ता को अस्वीकार करना, किसीके लिए भी संभव न होगा।

●

: १७ :

प्रेमचन्द : विद्वानों की दृष्टि में

श्री रमेशचन्द्र गुप्त

हिन्दी उपन्यास साहित्य को तिलस्मी और ऐय्यारी के रहस्यपूर्ण वातावरण से निकालकर सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित कराने में उपन्यासकार मुन्शी प्रेमचन्द का नाम अविस्मरणीय रहेगा। उन्होंने सामन्तीय वर्ग को नायक-नायिका के रूप में स्वीकार न करके उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति रखी और जन-जीवन की समस्याओं को चित्रित करते हुए युग का प्रतिनिधित्व किया। शिल्प की दृष्टि से उन्होंने अपने उपन्यासों में बोल-चाल की सहज-स्वाभाविक भाषा को ग्रहण किया और समस्याओं के निरूपण से आदर्शोन्मुख यथार्थ का निर्वाह करते हुए ईमानदारीपूर्वक कथानक को प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की।

वस्तुतः हिन्दी उपन्यासकारों में मुंशी प्रेमचन्द सबकी दृष्टि को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित करनेवाले प्रकाश-स्तम्भ के रूप में हमारे सामने आते हैं। अपनें चारों ओर के समाज में से विभिन्न कथानकों का चयन करके उन्होंने जिन विविध उपन्यासों की रचना की है वे युग-युग तक हिन्दी-साहित्य की अमर निधि रहेंगे। यह हिन्दी का सौभाग्य है कि इसे अपना साहित्यिक जीवन उर्दू से प्रारम्भ करने वाले मुंशी प्रेमचन्द जैसे लोकप्रिय लेखक की गतिशील एवं प्रभावपूर्ण लेखनी का बल मिला जिससे उर्दू वातावरण में भी पाठकों ने हिन्दी की कृतियाँ पढ़ने में रुचि ली।

प्रेमचन्द जी का महत्त्व केवल उपन्यासों के कथानक को सामाजिक प्रश्रय देने तक ही सीमित नहीं है, वरन् एक सशक्त गद्य शैली के निर्माण में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विभिन्न आलोचकों ने प्रेमचन्द जी की इन दोनों प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए उनकी शक्ति तथा सीमा का विवेचन किया है और प्रायः सभी ने उन्हें विश्व के प्रसिद्ध उपन्यासकारों— रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, गोर्की, हार्डी आदि की श्रेणी में प्रतिष्ठिंत किया है। उनकी

प्रतिभा के निष्पक्ष मूल्यांकन के लिए कतिपय सुधी समीक्षकों के मन्तव्यों को प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त होगा :

"मुंशी जी के उपन्यास बड़े सुन्दर, मनोवैज्ञानिक अध्ययन हैं। उनको मानव-हृदय के अन्तस्तल की दुर्बलताओं का पता था और वे ऊँचे और नीचे उद्देश्यों को भलीभाँति समझते थे। हृदय के कपाट खोलकर उसकी झांकी करा देने में बड़े कुशल थे, मानसिक शिथिलता और दृढ़ता के अवसरों को वे पहचानते थे।'[1]

'प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन दुखी जनता, गाँव के अपढ़ और भोले किसान और शहर के शोषित मजदूर, निम्न वर्ग के वे असंख्य श्रम-श्रान्त वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी—उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, जमींदार और हुक्काम, उधर मध्य वर्ग के व्यवसायी, नौकरी पेशा लोग, समाज के पुराणपंथी, पण्डित, पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वंचित नहीं थे। उन्होंने इस संघर्ष के बाह्य रूप को ही ग्रहण किया, शायद वहीं तक उनकी पहुँच थी। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द की दृष्टि सामयिक समस्याओं तक ही सीमित रही है, जीवन के चिरन्तन प्रश्नों को उन्होंने बड़े हल्के हाथों से छुआ है या छुआ ही नहीं है। कोई भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान् नहीं हो सकता। परन्तु प्रेमचन्द का विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता। चिन्तन और गम्भीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इसीलिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है।'[2]

"प्रेमचन्द के साहित्यकार की उदारता और महानता अप्रतिम है। उनका सबसे महान् गुण है उनकी अत्यन्त व्यापक सहानुभूति। वे व्यक्ति के प्रति कभी निर्मम नहीं होते—उसके दुर्गुणों, ऐश्वर्योन्माद, स्वार्थपरायणता तथा धन एवं सत्ता की लिप्सा पर चोट करते हैं, किन्तु पापी से घृणा नहीं करते—सहानुभूति देकर चाहते हैं वह अपने आपको समझे, पाये और सुधारे। मानव के प्रति घृणा के लिए इस मानवतावादी लेखक की चेतना में कोई अवकाश नहीं।'[3]

'हिन्दी को प्रेमचन्द की देन अतुलनीय है। भारतेन्दु भारत की दशा पर रोने से अधिक कुछ न कर सके, मैथिलीशरण 'भारत भारती' में हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी—इन समस्याओं पर विचार करने के उपक्रम से

---

१. बाबू गुलाबराय : प्रबन्ध प्रभाकर (दसवाँ संस्करण), पृ० २६६

२. डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन (प्रथम सं०), पृ० ८६ तथा १००

३. महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण पृ० ८३.

अधिक कुछ नहीं कर पाए। देश की कराहती आत्मा की अभिव्यक्ति, उसके मन और शरीर के घाव दिखाने की क्षमता-साहस, प्रेमचन्द के पूर्व हम नहीं पाते। ऐसे आलेखन के लिए साहस की अपेक्षा थी और जिसकी बेचैनी ने 'सोजे वतन' की कहानियों के लेखक धनपतराय को सदा के लिए प्रेमचन्द संज्ञा दे दी, उसी ने उनको विद्रोही, कलम की नोक पर युग निर्भीकता से उतार दिया। उनकी जन-हित-रत कला ने देश की विधि सँवारने में अपना विशिष्ट योगदान दिया है।'[1]

'इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द जी युग-प्रवर्त्तक के रूप में आए और उपन्यास साहित्य की परम्परा में तो हमें उन्हें निर्विवाद रूप से युगस्रष्टा के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा।—कारण कि वे सर्वप्रथम उपन्यासकार हैं जिनकी दृष्टि महलों की ओर न जाकर सबसे पहले झोंपड़ियों की ओर गई और उन्होंने टूटी-फूटी झोंपड़ियों में पुआलों पर पड़ी तड़पती हुई भारतीय आत्माओं को निहारा तथा फटे चीथड़ों में सरल एवं स्वाभाविक यौवन के सौष्ठव की अनुभूति कर दरिद्रता की चक्की में पिसने वाले दीन जनों में भी महलों-सी प्रेम की पीर पाई।'[2]

प्रेमचन्द सामाजिक जीवन के कलाकार थे। यही कारण है कि उन्होंने सीधे राष्ट्रीय जीवन से ही कई पात्र उठा लिए हैं और उन्हें अपने उपन्यासों का नायक बना दिया है। वे चाहते तो अपने समय की पुकार का तिरस्कार कर शाश्वत सत्य की व्यंजना के लिए दौड़ सकते थे, परन्तु तब वे जनता के कलाकार न रहते, केवल कल्पना विलासी साहित्यकार रह जाते। इसीलिए वे सामयिकता से बँधे रह गये और उन्होंने अपने समय की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को ही अपनी कला का ध्येय निश्चित किया।'[3]

'प्रेमचन्द के उपन्यासों की मूल-प्रेरणा सामाजिक कल्याण की भावना ह। उनके कथानकों में मानव के सामाजिक जीवन का प्रमुखतः चित्रण मिलता है, वैयक्तिक जीवन का भी अंशतः उल्लेख हो गया है। प्रेमचन्द के उपन्यास उनके युग की वाणी है। युग की परिस्थितियों की घनमाला ने उनके अंतर-आकाश को आच्छादित कर दिया था। सामयिक जीवन की विविध समस्याओं के माध्यम से उन्होंने अपनी कला के सामाजिक उद्देश्य को मूर्त किया है।'[4]

'प्रेमचन्द जी के उपन्यास सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति के संदेश-दूत हैं। जीवन के यथार्थवादी धरातल पर आदर्श की सृष्टि करना ऐसे महान साहित्यकार

---

१. डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द—एक अध्ययन, पृ० २७८
२. आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र : साहित्य साधना के सोपान, पृ० २४०
३. डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' : साहित्य निबन्ध मणि, पृ० १०७
४. डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास, पृ० १२-१६

से ही सम्भव हो सका है। प्रेमचन्द जी की भाषा ने जन-भाषा का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है।'[1]

'प्रेमचन्द जी की दृष्टि भाषा, भाव, पात्र, वर्ण्यवस्तु, वातावरण तथा कथोपकथन आदि सभी दिशाओं की ओर यथार्थवादी रही। परन्तु प्रेमचन्द जी का यथार्थ निष्प्राण यथार्थ नहीं, बल्कि जीवंत यथार्थ है जिसके अन्दर उद्भव, विकास एवं नूतन सृष्टि की सशक्त प्रेरणा है। प्रेमचन्द के अन्दर एक नव निर्माण की जो ललक थी उसने कहीं-कहीं उन्हें अति आदर्शवादी बना दिया है।'[2]

'प्रेमचन्द की अद्वितीयता केवल युग के यथार्थ चित्रण के कारण ही नहीं है, भविष्यद्रष्टा और आदर्श स्रष्टा होने के कारण भी है। उनकी रचनाएँ विवादास्पद जीवन-सिद्धान्तों के लिए दृढ़ प्रकाश-स्तम्भ के समान हैं जो पश्चिम का भी पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं।'[3]

'उनके कथोपकथन और वर्णन भविष्य में बहुत दिन तक विचारोत्तेजक गद्य के नमूनों के रूप में जीवित रहेंगे। उनकी गद्य शैली भावना और विचार से परिपूर्ण है। कहीं-कहीं वह निर्जीव और फीकी भी होती है, लेकिन जिस लेखक ने इतने अधिक परिमाण में साहित्य सृजन किया हो उसके लिए यह कोई बड़ा दोष नहीं है। प्रेमचन्द महान सृष्टा थे। उन्होंने केवल हिन्दी कथा साहित्य की ही नींव नहीं डाली,वरन् एक गद्य शैली का भी निर्माण किया।'[4]

'प्रेमचन्द जीवन के सभी रूपों में रम सकते थे। उनकी प्रतिभा एक महाकाव्यकार की प्रतिमा थी। ········प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में देश की नाड़ी को टटोलकर उसका निदान भी प्रस्तुत किया और यह कहने में हमें संकोच नहीं कि प्रेमाश्रम, निर्मला, वरदान, कर्मभूमि, रंगभूमि और गबन से गोदान तक आते-आते उन्होंने जीवन और जगत् की समग्रता का पूरा चित्र अंकित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की। हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द युग-प्रवर्तक होने के साथ भाषा, भाव, कला और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी एकदम मौलिक कहे जा सकते हैं।[5]

---

१. डॉ० कृष्णा नाग : हिन्दी उपन्यासकी शिल्प विधि का विकास, पृ० २०६-१०

२. डॉ० त्रिभुवनसिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद (तृतीय सं०), पृ० ७२

३. डॉ० गीता लाल : प्रेमचन्द का नारी-चित्रण, पृ० ४१४

४. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द एक विवेचन (द्वितीय संस्करण), पृ० १२२

५. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, —पृ० १६६-१६७

प्रेमचन्द की प्रतिभा का सबसे बड़ा दान यह है कि उनके पहले जो तब का हिन्दी उपन्यासों की ओर मुँह उठाकर देखता भी नहीं था, वह भी हिन्दी उपन्यासों को पढ़ने के लिए बाध्य हुआ है तथा उसमें आनन्द प्राप्त करता है। जहाँ तक विषयवस्तु को जनता के नजदीक लाकर जनता में प्रवेश करने की बात है, प्रेमचन्द साहित्य ने हिन्दी में एक युगान्तर उपस्थित किया, इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द का स्थान विश्व-साहित्य के उन अमर लेखकों में है जिन्होंने लेखनी से इतिहास की सृष्टि की।'[1]

'प्रेमचन्द जी की सफलता का सबसे बड़ा कारण है अपने विषय के साथ पूर्ण तादात्म्य। वे अपने विषय के तलातल में बैठ कर रत्न या घोंघे निकालने में सफल हुए हैं या नहीं, किन्तु यदि वे अपने विषय में एक बार पैठ जाते हैं तो वे तब तक उससे निकलने की इच्छा नहीं रखते, जब तक वे उसके पूरे फैलाव से परिचित नहीं हो जाते और देखने वाला उनके कौशल, शक्ति और धैर्य देखकर मुग्ध हो जाता है। उनके उपन्यासों के कथानक-विधान में कुछ रमणीयता रहती है, उनके वर्णन में ऐसी स्वाभाविकता और प्राण-पूरक प्रवीणता रहती है कि पाठक साँस बन्द करके उनके किसी उपन्यास को तब तक पढ़ता जाता है, जब तक पुस्तक समाप्त न हो जाय। प्रेमचन्द जी के इस जादू 'साधारणीकरण के इस असाधारण गुण' पर कौन मुग्ध न हो जाएगा।'[2]

प्रेमचन्द का महत्त्व दो ही बातों पर निर्भर करता है कि प्रथम बार हिन्दी उपन्यास को एक क्रमबद्ध, उत्तरोत्तर प्रवर्द्धमान, साफ-सुथरी, अथ से इति तक सम्बद्ध-शृंखलित-संगठित कथा प्राप्त हुई। प्रेमचन्द के हाथों प्रथम बार कथा की एक भव्य और दर्शनीय मूर्ति का निर्माण हुआ। उनकी कथा आदि से अन्त तक सम्बद्ध हैं, कहीं भी किसी तरह की शिथिलता नहीं, सारी घटनाएँ जुड़ी हुई, पारस्परिक सहयोग से कथा के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में संलग्न है। इस अर्थ में प्रेमचन्द हिन्दी कथा के प्रथम ब्यूटी एक्सपर्ट, सौन्दर्य विशेषज्ञ हैं। दूसरी बात यह है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रथम बार मानव की प्रतिष्ठा की—एक सजीव हंसने वाला, रोने वाला, हृदय रखनेवाला, परिस्थितियों को प्रभावित करनेवाला तथा उनसे

---

१. मन्मथनाथ गुप्त : प्रेमचन्द—व्यक्ति और साहित्यकार, पृ० ५२८-५३१

२. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद : प्रेमचन्द और गोर्की (सम्पादक : शचीरानी गुर्टू), पृ० १२६

प्रभावित होने वाला मानव ।'[1]

'प्रेमचन्द जी की कृतियों में कलम को कहीं लड़खड़ाते नहीं देखा जाता। वे जब लिखते रहे, असाधारण को पराजित करती हुई साधारणता लिखते रहे, परिणाम-स्वरूप न रचना में इतिहास जैसा पुरानापन आता, न अपरिपक्व विचारों जैसी अस्थिरता। उनकी रचना मानो स्वस्थ साहित्य और स्वस्थ जीवन की अलकनन्दा बनकर बहती है।'[2]

'प्रेमचन्द गाँवों के चितेरे थे। श्रीकृष्ण भगवान ने अपनी तर्जनी उंगली पर गोवर्धन पर्वत को उठाया था या नहीं, यह एक विचार का विषय हो सकता है, परन्तु यह निर्विवाद निश्चित है कि प्रेमचन्द ने लेखनी की नोक पर भारतवर्ष के सभी गांवों को उठा लिया है। उनके पात्र अपने गाँव के बीच खड़े रहकर इनके साहित्य में प्रवेश करते हैं। प्रत्येक नाम के साथ ग्रामीण संस्कृति, रहन-सहन, आचार-व्यवहार तथा परम्पराएँ लगी हुई हैं। नाम पढ़ते ही सारा गाँव सामने आ खड़ा होता है। एक ही नाम में जैसे पीढ़ियों का इतिहास छिपा हुआ है।'[3]

'प्रेमचन्द ने लगभग ३०० कहानियाँ और एक दर्जन उपन्यास लिखे। उन्हें सिलसिले बार पढ़ने से हमारे देश का बीसवीं सदी के शुरू पैंतीस-छत्तीस वर्ष का इतिहास तैयार हो जाता है। अर्थात् प्रेमचन्द के साहित्य का इतिहास हमारे देश के राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों का इतिहास है। लेकिन उनका साहित्य अपने युग का प्रतिबिम्ब मात्र ही नहीं है, उन्होंने जीवन के जो गहरे और अमिट रेखा-चित्र तैयार किए हैं, उनसे हमें यह भी पता चलता है कि जीवन की ये रेखायें किस दिशा में आगे बढ़ रही हैं और घटनाओं की ऐतिहासिक धारा का आगामी रुख क्या है ?'[4]

'प्रेमचन्द और गोर्की दोनों ही महान् कलाकार हैं, युग-प्रवर्त्तक हैं, अन्तरद्रष्टा हैं। दोनों ही की रचनाओं में उच्च कोटि की प्रतिभा, कल्पना और भाव-प्रवणता है और है वह वैलक्षण्य और रचना चातुर्य, जिससे कि वे एकदेशीय न होकर विश्व साहित्य की अमूल्य निधि बन गये हैं। उनकी विशेषता इस बात में है, कि उन्होंने

---

१. डॉ० देवराज : आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० ७१-७२.

२. माखनलाल चतुर्वेदी : अमीर इरादे : गरीब इरादे (तृतीय सं०) पृ० १२०

३. विजयदान : प्रेमचन्द के पात्र, पृ० २१८

४. हंसराज रहबर : प्रेमचन्द—चिंतन और कला (सम्पादक : डॉ० इन्द्रनाथ मदान) पृ० १६३

मनोरंजक और कलापूर्ण कथा साहित्य एवं उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच की झूठी खाई को सर्वथा मिटा दिया। वर्षों बीत गए, किन्तु उनके उपन्यासों के पात्र आज भी हमारी कल्पना में जीवित थे। उनके विचार, कार्य-कलाप हम कभी भूल नहीं पाते – मानों उनका अंकन उस सधी और निर्भीक कलम से हुआ है जो विश्व की विराट चित्रशाला में अगणित चित्र नित्य बनाती और मिटाती है।'[1]

'प्रेमचन्द हमारी हिन्दी भाषा के श्रृंगार हैं। वर्तमान युग के कलाकारों में वही एक ऐसे व्यक्तित्वशाली युग-पुरुष हुए हैं जिनकी कृतियों के अनुवाद देश और विदेश की अगणित भाषाओं में हो चुके हैं और हो रहे हैं। प्रेमचन्द ने जो परम्परा डाली वह आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन करती है। वे एक प्रगतिशील साहित्यकार के रूप में सदैव हमें प्रेरणा देते रहेंगे।'[2]

'आपके साहित्य ने हिन्दी को समृद्ध किया है और हिन्दी-भाषियों को दुनियाँ में मुँह दिखाने लायक। इसीलिए आपके यश को हम लोग निर्विचार बाँट लिया करते हैं। जब हम रंगभूमि या कर्मभूमि को दूसरों को दिखाते हैं तो मन ही मन गर्वपूर्वक पूछा करते हैं—है तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज।'[3]

'हिन्दी के औपन्यासिकों में तो, अभी तक, इनका स्थान अद्वितीय है। इनकी लोकप्रियता उन प्रान्तों में भी है जहाँ के लोगों की मातृभाषा हिन्दी नहीं। हमारी भाषा और हमारे साहित्य को इनकी रचनाओं ने जो गौरव प्रदान कर रखा है वह न कभी मुर्झायेगा, न मरेगा। हमारे कथा-साहित्य को प्रगतिशील बनाने का, इसके अब तक के श्री-सम्बर्द्धन का श्रेय इन्हीं को है।'[4]

'हिन्दी उपन्यासकारों में मुंशी प्रेमचन्द सबकी दृष्टि को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित कर लेने वाले प्रकाश-स्तम्भ के रूप में हमारे सामने आते हैं। अपने चारों ओर के समाज में से विभिन्न कथानकों का चयन करके उन्होंने जिन विविध उपन्यासों की रचना की है वे युग-युग तक हिन्दी साहित्य की अमर निधि रहेंगे।'[5]

---

१. शचीरानी गुर्टू : प्रेमचन्द और गोर्की, भूमिका, पृ० २२

२. डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' : प्रेमचन्द और उनकी साहित्य-साधना, पृ० ५३

३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : चिट्ठी-पत्री, भाग-२ (सम्पादकः अमृतराय) में संकलित पत्र, पृ० २७५

४. जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज, : प्रेमचन्द की उपन्यास-कला (तृतीय सं०) पृ० १३५

५—रमेशचन्द्र गुप्त : ग़बन-समीक्षा (प्रथम संस्करण), प्रस्तावना।

'प्रेमचन्द स्वयं में एक पूर्ण परम्परा (स्कूल) हैं, जो प्रत्येक क्षेत्र में मौलिक हैं। न उन्होंने सिद्धान्तों एवं लक्षणों को सम्मुख रखकर अपने साहित्य की रचना की है, न अनेक साहित्यकारों के लक्ष्य ग्रन्थ एकत्र कर लक्षणों की रचना की है। प्रेमचन्द ने स्वयं व्यापक साहित्य की रचना कर उनमें से उभरते हुए सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की है। अतः उन सिद्धान्तों में सत्य का बल तथा अनुभूति की शक्ति है। प्रेमचन्द के सिद्धान्त किसी व्यक्ति को अमान्य हो सकते हैं, किन्तु उनकी महत्ता को अस्वीकार करना किसी के लिए भी सम्भव न होगा।'[1]

'प्रेमचन्द और अन्य विश्व-विख्यात उपन्यासकारों में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि जहां अन्य प्रथम श्रेणी के उपन्यासकार चरित्रांकन की कला में अद्वितीय हैं, वहां प्रेमचन्द समस्या के उपस्थित करने, उसका पूर्णरूपेण उद्घाटन करने और उसका हल सुझाने में अन्यतम हैं। प्रेमचन्द की औपन्यासिक कला का सबसे सशक्त पहलू समस्यामूलक तत्व है, जिसके आधार पर हम प्रेमचन्द की कृतियों पर गर्व कर सकते हैं और विश्व साहित्य के सम्मुख उनकी उपादेयता सिद्ध कर सकते हैं।'[2]

'प्रेमचन्द के साहित्य की उपयोगिता एवं महत्व तो आज है ही, भविष्य में भी बना रहेगा। प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य दम्भी, कुत्सित तथा शोषक शक्तियों तथा पतनोन्मुख समाज के लिए भारी चुनौती है।'[3]

'अब वह उपन्यास-देश का सम्राट इस संसार में नहीं रहा। ज्ञानी कहेंगे कि प्रेमचन्द जी तो अपनी रचनाओं में सदा के लिए वर्तमान हैं, पर मैंने तो मनुष्य प्रेमचन्द को लेखक प्रेमचन्द से कहीं ऊँचा पाया था और, अब उस मनुष्य प्रेमचन्द को हमने सदा के लिए खो दिया है। शोक करने के अतिरिक्त हम कर ही क्या सकते हैं?'[4]

●

१. नरेन्द्र कोहली : प्रेमचन्द के साहित्य-सिद्धान्त (टंकित प्रति) पृ० १८३
२. डॉ० महेन्द्र भटनागर : समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ० २११-२१२
३. डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित : प्रेमचन्द, प्राक्कथन, पृ० क-ख
४. डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन', : नये-पुराने झरोखे, पृ० ९२

: १८ :

गोदान

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

प्रेमचन्द जी के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' के सम्बन्ध में तीन प्रश्न प्रायः किए जाते हैं। वे क्रमशः ये हैं—१. 'गोदान' में ग्रामीण कथानक के साथ नागरिक कथा किस उद्देश्य से जोड़ी गयी है, और वह कहाँ तक उपयोगिनी हुई है? २. 'गोदान' को राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास (Epic Novel) कहा जा सकता है या नहीं? और ३. 'गोदान' समाजवादी कृति है या नहीं? यहाँ हम इन्हीं तीन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

ग्रामीण और नागरिक कथा का समन्वय

शास्त्रीय शब्दावली के अनुसार 'गोदान' में आधिकारिक और प्रासंगिक, दो कथाएँ पायी जाती हैं। ग्रामीण पात्रों से सम्बन्ध रखनेवाली कथा आधिकारिक या मुख्य कथा है। नागरिक पात्रों को उपस्थित करनेवाली कथा प्रासंगिक या गौण है। 'गोदान' में इन दोनों कथाओं को एक सम्बन्ध-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है; परन्तु प्रश्न यह है कि प्रयत्न कहाँ तक सफल या समीचीन हुआ है। नागरिक और ग्रामीण पात्रों के बीच सम्बन्ध-स्थापन का कार्य गाँव के जमींदार राय साहब द्वारा पूरा होता है। गाँव की रामलीला देखने के लिए रायसाहब के नागरिक मित्र उनके घर आते हैं। यहीं 'मालती-हरण' का एक मनोरंजक और अनोखा दृश्य दिखाया जाता है। दूसरी ओर ग्रामीण पात्र गोबर कुछ दिनों तक शहर में रहता है और उपन्यास के नागरिक पात्रों के सम्पर्क में आता है; परन्तु नागरिक और ग्रामीण पात्रों का यह सम्मिलन इतना घनिष्ठ नहीं होता कि एक-दूसरे के जीवन-क्रम को प्रभावित करे और समस्त कथानक को समनिन्वत कर एक ही मुख्य कथा का अंग बना ले। पारसी नाटकों में प्रायः मुख्य कथा के साथ हास्य या विनोदप्रधान एक दूसरी कथा जुड़ी रहती थी, जिसका प्रयोजन होता था मुख्य कथा की गम्भीरता को कम कर दर्शकों का मनोरंजन करना। वास्तव में वे दोनों कथाएँ एक-दूसरे से नितान्त

भिन्न और स्वतन्त्र होती थीं। किसी भी स्थल पर उनके कथा-तन्तु जुड़े नहीं होते थे। ऐसी रचनाओं में कथानक की संगति का प्रश्न ही नहीं उठता। 'गोदान' उपन्यास के उक्त दोनों कथानक यद्यपि परस्पर इतने असम्बद्ध नहीं हैं, फिर भी उनमें वास्तविक ऐक्य की कमी अवश्य है।

नगर की इस प्रासंगिक कथा का सम्पूर्ण उपन्यास के उद्देश्य से क्या सम्बन्ध है, इस पर भी विचार करना चाहिए। 'गोदान' निश्चय ही ग्रामीण जीवन का उपन्यास है। यदि उसमें नागरिक पात्र आते हैं, तो उनका ग्रामीण पात्रों की गति-विधि से किसी न किसी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध होना ही चाहिए। ऐसा न होने पर उपन्यास के उद्देश्य या कार्य की एकरूपता में बाधा पड़ेगी। उपन्यास में दो कार्य या दो उद्देश्य नहीं हो सकते; दो स्वतन्त्र जीवन-चरित्र नहीं किये जा सकते, अन्यथा उसकी अन्विति नष्ट हो जायेगी।

ग्राम्य जीवन या ग्रामीण वातावरण में सफेदपोश नागरिक समाज प्रायः दो उद्देश्यों से ही रक्खा जा सकता है। १. तुलना के द्वारा ग्रामीण परिस्थिति की विषमता को स्पष्ट करना और प्रभाव को तीव्र बनाना, २. नागरिक पात्रों द्वारा ग्रामीण जीवन में सुधार लाने का प्रयत्न करना। पहली स्थिति में नागरिक पात्र ग्रामीण समाज के उत्पीड़क के रूप में ही दिखाये जा सकते हैं और दूसरी स्थिति में वे उसके सहायक और सुधारक हो सकते हैं; परन्तु यदि इन दो में से एक भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती और उपन्यास में नागरिक और ग्रामीण पात्र दो स्वतन्त्र उद्देश्यों को लेकर चलते हैं, तो उपन्यास की वह दोहरी योजना समीचीन नहीं कही जा सकती।

'गोदान' उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहनेवाले दो परिवारों के समान हैं, जिनका एक दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम सम्पर्क है। वे कभी कभी आते-जाते मिल लेते हैं, और कभी कभी किसी बात पर झगड़ा भी कर लेते हैं, परन्तु न तो उनके मिलने में और न झगड़ने में ही कोई ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता है, जिसे स्थायी कहा जा सके।

यदि नागरिक कथा का अंश उपन्यास में न होता, तो उपन्यास के नागरिक पाठकों के लिए उसमें कोई आकर्षण न रह जाता······नागरिक पात्रों को रखने के पक्ष में इस तर्क को भी सुसंगत नहीं कहा जा सकता। उपन्यासकार को ऐसे पाठकों की आवश्यकता ही क्या जो केवल नागरिक कथानक से ही दिलचस्पी रखते हों। इसका अर्थ तो यह हुआ कि पाठकों के मनोरंजन या उसकी रुचि-तृप्ति के लिए उपन्याकार को अपने लक्ष्य से बाहर जाकर एक विशेष प्रकार की सामग्री जुटानी पड़ेगी। कोई भी उपन्यासकार अपने को इस स्थिति में रखना पसन्द न करेगा।

एक और तर्क यह दिया जाता है कि 'गोदन' उपन्यास भारतीय जीवन के सम्पूर्ण स्वरूप को हमारे दृष्टिपथ पर लाना चाहता है, अतएव उसमें ग्राम के साथ-साथ नगरों और उसके निवासियों की जीवन-चर्चा भी दी गयी है। ग्राम-जीवन को नागरिक जीवन से नितान्त पृथक रक्खा भी नहीं जा सकता, क्योंकि आज की भारतीय स्थिति में के दोनों एक दूसरे से एकदम अलग हैं नहीं। अतएव यथार्थ की रक्षा के लिए भी यह योजना आवश्यक थी; परन्तु ये दोनों तर्क भी समाधानकारक नहीं प्रतीत होते। उपन्यास का नाम 'गोदान' है, जिससे यह सूचना नहीं मिलती कि यह सम्पूर्ण भारतीय जीवन को चित्रित करने का लक्ष्य रखता है। जो लक्ष्य उस कृति का नहीं है, उसे उस पर आरोपित करना व्यर्थ है। 'गोदान' नाम से यही भासित होता है कि इसका सम्बन्ध कृषकों के जीवन के किसी मार्मिक पहलू से है। और यही वस्तु हम उपन्यास में पाने की सम्भावना रखते हैं। किसी दूसरी वस्तु की सूचना उपन्यास के नाम से नहीं मिलती। इस तर्क में भी कोई सार नहीं है कि भारतीय ग्राम और नगर एक दूसरे के नितान्त सम्बन्धहीन नहीं हैं; अतएव प्रत्येक उपन्यास में इन दोनों का सम्बन्ध दिखाया ही जाय। कोई साहित्यिक कृति प्रत्येक वस्तुस्थिति को मानकर चलने के लिए बाध्य नहीं होती। प्रत्येक वास्तविकता को मानकर चलना असम्भव है।

कहा जाता है कि 'गोदान' के ग्रामीण कथानक में कोई चमत्कारपूर्ण घटना-योजना नहीं है, अतएव नागरिक कथानक को जोड़कर उसे प्रभावशाली बनाना आवश्यक था; पर प्रश्न यह है कि उपन्यासकार ग्रामीण कथानक को ही अधिक प्रभावशाली और चमत्कारपूर्ण घटनावली से सज्जित क्यों नहीं करता? यदि ग्राम-कथा में निर्माण-सम्बन्धी कोई कमी है, तो उसकी पूर्ति ग्राम-कथा को ही सँवारकर की जानी थी। उसके लिए एक ऐसी कथा जोड़ने की आवश्यकता न थी, जिसका मूल आख्यान से कोई नैसर्गिक सम्बन्ध न हो।

अन्तिम दलील यह दी जाती है कि वर्तमान भारतीय समाज का वह अंश, जो शिक्षित है और जो सामाजिक समस्याओं से दिलचस्पी रखता है, मध्यवर्गीय समाज ही है। उसी समाज से आज के प्रत्येक लेखक और विचारक को काम लेना पड़ता है। ग्रामीण जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला उपन्यास किसी दूसरे देश में ग्रामीण समाज के बीच प्रचार पा सकता था, परन्तु भारत की वर्तमान स्थिति में यह सम्भव नहीं है। अतएव स्थिति का ध्यान रखकर और शिक्षित मध्यवर्ग द्वारा ही अपने उपन्यास के उद्देश्यों के प्रसार की सम्भावना देखकर लेखक ने मध्यवर्गीय समाज को नागरिक कथा का लालच दिया है, जिससे वे इसी बहाने उपन्यास को पढ़ें और उससे प्रभावित हों। इस दलील का उत्तर आंशिक रूप में हम ऊपर दे चुके हैं। वास्तव में शिक्षित समाज के बीच सुधार की उत्तेजना उत्पन्न करने के लिए ग्रामीण और

नागरिक कथा का बेमेल मिश्रण आवश्यक न था। उसके लिए आवश्यक था बलात् आकृष्ट करनेवाला ग्रामदशा का सम्पूर्ण हृदयस्पर्शी चित्र अथवा मार्मिक विरक्ति उत्पन्न करनेवाला नागरिक जीवन का तलस्पर्शी आख्यान। और यदि इन दोनों को अलग अलग दो कृतियों में न रखकर एक में मिलने की आवश्यकता समझी गयी, तो यह मिलाप-कार्य अधिक समन्वित रूप में तथा अधिक कलापूर्ण रीति से करना चाहिए था। प्रेमचन्द जी ने उक्त तीन प्रयोगों में से किसी एक को भी पूरी तरह नहीं निबाहा।

'गोदान' के 'राष्ट्रीय प्रतिनिधि' उपन्यास होने की संगति

वास्तव में महाकाव्य और उपन्यास दो भिन्न साहित्य-प्रकार हैं। महाकाव्य की परम्परा औपन्यासिक परम्परा से नितान्त भिन्न है। ऐसी उपन्यास को 'एपिक नावेल' की संज्ञा देना, साहित्यिक दृष्टि से बहुत समीचीन नहीं जान पड़ता। 'राष्ट्रीय जीवन' के किसी विशेष युग का सम्पूर्ण उद्घाटन किसी एक उपन्यास में करना कदाचित् सम्भव भी नहीं है। राष्ट्रीय संस्कृति के विकास में विभिन्न युगों के प्रतिनिधि महाकाव्य तो हो सकते हैं, परन्तु युग का प्रतिनिधि उपन्यास कठिनाई से मिलेगा। इसका कारण यह है कि उपन्यास में सामाजिक जीवन के बाह्य स्वरूप को चित्रित करते हैं और ऐसा उपन्यास क्वचित ही कोई हो सकता है, जिसमें बाह्य सामाजिक जीवन के किसी युगविशेष का सम्पूर्ण चित्र दिखाया जा सके। महाकाव्य में युग की संस्कृति का चित्रण तथा युग की ज्वलन्त समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण उसके सम्पूर्ण पक्षों के साथ किसी एक कृति में कर सकना सम्भव नहीं है।

राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास की संज्ञा साहित्य के इतिहास में प्रायः अज्ञात थी। सर्वप्रथम टालसटाय के प्रख्यात उपन्यास 'वार एंड पीस' को यह पदवी दी गयी। जिन्होंने इसका अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि यह कृति वास्तव में उपन्यास नहीं है, उससे कुछ अधिक है। इसमें कोई सुसम्बद्ध कथानक भी नहीं है। सैंकड़ों पृष्ठों तक सामाजिक समस्याओं और दार्शनिक विचारों की चर्चा चलती रहती है। जैसा कि नाम से आभासित होता है, इस ग्रन्थ में युद्ध की परिस्थिति का वर्णन और चित्रण किया गया है। साथ ही साथ शान्तिकाल में रूप की सामाजिक व्यवस्था का भी विस्तार के साथ चित्रण हुआ है। टालसटाय की साहित्यिक ख्याति, उनका रचना सामर्थ्य, युग की सम्पूर्ण गतिविधि को एक कृति में समाहित करने की उनकी क्षमता अप्रतिम थी। यही कारण है कि उनका उपन्यास पूरे अर्थ में उपन्यास न होते हुए भी संसार की एक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण कृति है, और उसे राष्ट्रीय उपन्यास या 'एपिक नावेल' की संज्ञा दी गयी है।

प्रेमचन्द जी का 'गोदान' उपन्यास एक सीधे-सादे कथानक पर आश्रित है। यह ग्रामीण जीवन के दैन्य और सामाजिक वैषम्य को प्रदर्शित करता है। करुण रस का ही उसमें प्राधान्य है। इस कारुणरसप्रधान ग्राम्य चित्रण को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि चित्र नहीं कहा जा सकता। वर्तमान युग का भारतीय राष्ट्र नव जागृति की अंगड़ाइयाँ लेकर उठ रहा है। उसके जीवन में संघर्ष है; परन्तु उस पर विजय पाने की कामना भी है। उसमें दैन्य और दुःख है; परन्तु उनके निवारण का महान् संकल्प भी है। हमारे देश में पिछले समय जो राष्ट्रीय संघर्ष हो रहा था, जिसके परिणामस्वरूप देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है, वह अभूतपूर्व था। 'गोदान' में इस सामाजिक उत्थान का कोई निर्देश नहीं है।

'गोदान' में नागरिक पात्र भी आये हैं। शिक्षित होते हुए भी उनमें वह राष्ट्रीय चेतना कम ही दिखाई देती है, जो उन पात्रों को ऊँची चारित्रिक भूमि पर प्रतिष्ठित करती। पूरे उपन्यास को पढ़ लेने पर वर्तमान युग के सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष का बहुत ही कम आभास होता है। ऐसी अवस्था में इसे युग की प्रतिनिधि रचना कहना सुसंगत न होगा।

महाकाव्य के साथ साथ राष्ट्रीय उत्कर्ष का संस्कार जुड़ा रहता है। किसी भी महाकाव्य का उल्लेख करने पर हम उसमें युग की सर्वोच्च राष्ट्रीय चेतना तथा विकास की झलक चाहते हैं। इसलिए महाकाव्य में प्रायः कोई बड़ा संघर्ष या युद्ध ही केन्द्रीय घटना हुआ करती है। वहीं से वीर-चरित्रों का उत्पादन या पतन हुआ करता है। महाकाव्य का सम्पूर्ण वातावरण वीर-भावना से ओतपोत होने के कारण ही उसे राष्ट्रीय जीवन और आदर्शों का प्रतिबिम्ब या मुकुर कहा जा सकता है। 'गोदान' में इस प्रकार की वीर-भावना का अभाव है। 'गोदान' की अपेक्षा प्रेमचन्द जी के अन्य उपन्यासों में चरित्रों का उत्कर्ष अधिक परिलक्षित होता है।

'गोदान' को समाज का सर्वतोमुखी चित्रण भी नहीं कह सकते। उसका देश और काल सीमित है। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में होनेवाले सांस्कृतिक विनिमय का उसमें कोई उल्लेख नहीं है। उत्तरप्रदेश के एक छोटे ग्राम से ही उसका कथानक सम्बन्धित है। यद्यपि ग्राम के विविध वर्गों और प्रतिनिधियों का उल्लेख अवश्य है, फिर भी सामूहिक और राष्ट्रीय दृष्टि से इसमें पर्याप्त विशालता नहीं है।

'गोदान' के कथानक में चरित्रों की संख्या भी थोड़ी है और ग्राम तथा नगर के चरित्र मिलकर भी युग-जीवन का यथेष्ट परिचय नहीं करा पाते। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उपन्यास का लक्ष्य राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व करना है। वह तो केवल भारतीय कृषक की असहाय अवस्था को दिखाकर समाप्त हो जाता है। नागरिक चित्रण का उद्देश्य भी नवीन पाश्चात्य संस्कारों को उसकी ऊपरी तड़क-भड़क के

साथ दिखाना ही है। ये [illegible] ही लक्षण इतने व्यापक और सर्वस्पर्शी नहीं हैं कि इनके आधार पर 'गोदान' को युग की प्रतिनिधि कृति कहा जा सके।

भारतवर्ष के वर्तमान जीवन में इतनी धाराएँ और अन्तर्धाराएँ, विचारों-आदर्शों की इतनी अनेकरूपता, साथ ही राष्ट्रीय उद्योग का इतना बड़ा समारम्भ चल रहा है कि उसे किसी एक उपन्यास में बाँध सकना अत्यन्त कठिन है। कम से कम 'गोदान' के लेखक का विचार इतने विशाल समारम्भ को अपनी कृति में स्थान देने का न था। कहा जा सकता है कि विस्तार में न सही, गहराई में यह उपन्यास युग का प्रतिनिधित्व करता है। उसमें भारतीय जीवन की करुणा 'होरी' के रूप में साकार हो गयी है। होरी मानो देश की वास्तविक स्थिति का प्रतिनिधि है, परन्तु इस आधार पर हम इस उपन्यास को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व करते नहीं पाते। यदि उपन्यास के नायक में इतनी तीव्र संवेदना का भाव होता, जिसके आधार पर हम इसे विपन्न भारत का प्रतिनिधि या प्रतीक चित्र मान सकते, तो भी एक बात थी। वास्तव में प्रेमचन्द जी सीमित देश और काल को लेकर वर्तमान ग्रामीण जीवन का दिग्दर्शन ही करना चाहते हैं। 'गोदान' में न तो महाकाव्य के से औदात्य और उत्कर्ष का समारम्भ आया है और न गहनतम उच्छ्वास का सा सीमित और तन्मयताकारी प्रभाव ही व्यक्त हो पाया है। हमारी दृष्टि में वह राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास की उन शर्तों को पूरा नहीं करता, जिन्हें टालसटाय का 'वार ऐंड पीस' उपन्यास करता है।

'गोदान' के समाजवादी कृति कहलाने की सार्थकता

किसी भी कलाकृति को किसी वाद के अन्तर्गत रखना एक खतरे का काम है। विशेषकर उपन्यास-रचना का कार्य जीवन के नाना दृश्यों के चित्रण का कार्य है। कहानी में अथवा नाटक में हम फिर भी किसी एक सिद्धान्त या वाद को आधार बना सकते हैं, यद्यपि इस कार्य में भी कहानी तथा नाटक की स्वाधीनता पर आघात लगे बिना न रहेगा। वादों के लिए उपन्यास सबसे अनुपयुक्त साहित्यिक सृष्टि है। उपन्यास में पग पग पर जीवन की वास्तविक स्थिति और पात्रों की प्रगति का उल्लेख करना पड़ता है। वाद में तो कोई न कोई बँधी विचारधारा होती है, जिसके साँचे में साहित्यिक रचना को उतार देना आवश्यक होता है; अतएव यह स्पष्ट है कि यह कार्य उपन्यास द्वारा करना अत्यन्त कठिन है

यदि किसी लेखक के कुछ सुनिश्चित विचार हैं, जिनको वह अपनी कलाकृति में रखना चाहता है, तो प्रायः अपनी उक्त कृति के प्रधान पात्रों द्वारा वह उन विचारों को उपस्थित कर सकता है। विचारों को अभिव्यक्त करते हुए पात्रों की स्थिति का पूरा ध्यान रखना पड़ता है और प्रत्येक अवसर पर उस स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाली बात ही कहलाई जा सकती है। ऐसी अवस्था में नायक या अन्य प्रधान पात्रों द्वारा

कहलाई गयी बातें, किसी वाद का रूप ग्रहण कर लें, यह बहुत कुछ असम्भावित है। उपन्यास में आये हुए वे वाक्य उन उन पात्रों के चरित्र-विकास से सम्बन्ध रखते हैं तथा उन उन स्थलों की परिस्थिति के अनुरूप होते हैं; अतः ऐसे वाक्यों का ताँता लगा देना, जिनसे उन पात्रों के चरित्र में योग न मिलता हो और न वहाँ की परिस्थिति की अनुरूपता ही आती हो, रचना को उपदेशात्मक, कृत्रिम और असम्बद्ध बना देगा। कोई कथाकार इस खतरे को नहीं उठा सकता।

आधुनिक उपन्यासों के विकास से समाजवादी विचारों के अनुकूल कुछ कृतियाँ अवश्य प्रस्तुत की गयी हैं, परन्तु उन कृतियों को समाजवादी उपन्यास कहना समीचीन नहीं है। उदाहरण के लिए हम गोर्की के उपन्यासों को लें। यह स्पष्ट है कि गोर्की के उपन्यास उस सामाजिक क्रान्ति का पूर्ण विवरण देते हैं जो श्रमिक वर्ग द्वारा की गयी थी और जिसके विरोध में सत्ताधारी वर्ग या समुदाय था, परन्तु इन चित्रणों में सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का आधार लिया गया है और वास्तविक जीवन का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। उपन्यासों को श्रमिक वर्ग के विद्रोह-युग की कृति कहा जा सकता है, परन्तु उन्हें समाजवादी कृति कहना संगत न होगा। न तो समाजवाद के समस्त बौद्धिक निष्कर्ष इन उपन्यासों में आये हैं और न किसी वाद या विचारधारा को चित्रणों के ऊपर प्रमुखता प्राप्त हुई है। हम यह कह सकते हैं कि इन उपन्यासों द्वारा समाजवादी राष्ट्र के जीवन का चित्रण हुआ है, परन्तु यह नहीं कह सकते कि इनमें समाजवाद का चित्रण हुआ है।

मार्क्सवादी साहित्य-शैली यथार्थवादी शैली होती है। मार्क्स और लेनिन दोनों ने इस बात की घोषणा की है समाजवादी साहित्य में यथार्थवादी चित्रण का ही स्वरूप आ सकता है। आदर्श और कल्पना-प्रधान चित्रण समाजवादी साहित्य के लिए ग्राहय नहीं है। इसका कारण यह है कि मार्क्स के मत में समाजवाद एक भौतिकवादी विज्ञान है और उसके मूल में वैज्ञानिक यथार्थ ही कार्य करता है। ऐसी अवस्था में सारा समाजवादी दृष्टिकोण यथार्थवाद पर आश्रित है। अपने को समाजवादी कहने वाले लेखक शैली तथा विचारों में यथार्थ को ही अपनाते हैं।

प्रेमचन्द जी की कृतियाँ यथार्थवाद से बहुत दूर हैं। शैली में भी प्रेमचन्द जी तर्कप्रधान बौद्धिक शैली को छोड़कर प्रायः भावात्मक शैली को अपनाते हैं। उनकी दृष्टि भी भौतिकवादी नहीं है और न वे समाज का वह साँचा ही अपने दृष्टि-पथ में लाते हैं, जिसका आधार मार्क्सवादी समाजवाद है। अतः हम देखते हैं कि शैली की दृष्टि से, दार्शनिक आधार पर, अथवा समाज-कल्पना के रूप में प्रेमचन्द जी का साहित्य मार्क्सवादी स्वरूप से नितान्त भिन्न है। अपने आरम्भिक उपन्यासों में तो प्रेमचन्द जी स्पष्टतः सुधारवादी रहे हैं। मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था सुधार की भूमि

को स्वीकार नहीं करती। वह क्रान्ति और प्राय: रक्तक्रान्ति का ही सन्देश सुनाती है। 'गोदान' में प्रेमचन्द जी की स्थिति उनके अन्य उपन्यासों की अपेक्षा कहाँ तक भिन्न है इस पर विचार करना आवश्यक है। 'गोदान' का कथानक ग्रामीण जीवन का कथानक है। उसका नायक एक भारतीय कृषक है। 'गोदान' में भारतीय ग्राम के अनेकमुखी जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। भारतीय कृषक के समस्त संस्कारों से युक्त उसकी वर्तमान दशा का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास का नायक होरी आरम्भ में अपने घर में एक गाय रखने को लालायित है। वह किसी प्रकार गाय ले भी आता है। आगे कथानक होरी के गाय रख सकने के सामर्थ्य की परीक्षा करता है······वह कृषक उस गाय को रख सकने में असमर्थ हो जाता है। उसका परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है और जब वह मरता है; तब गोदान के लिए न तो उसके पास गाय है, न बछिया और न पैसा।' उसकी स्त्री धनिया (बीस आने की सुतली जो आज बेची थी, उसी) बीस आने का गोदान करा देती है। उपन्यास के इस आरम्भ और उपसंहार में भारतीय कृषक की दयनीय अवस्था का प्रत्यक्षी-करण हो जाता है, परन्तु समाजवादी रचना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं।

इस उपन्यास का उद्देश्य भारतीय ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों को उप-स्थित कर ग्रामीण जीवन की स्थिति का उद्घाटन करना है। यह कार्य समाजवाद का ही पोषक हो, यह आवश्यक नहीं। प्रेमचन्द जी ने इस उपन्यास में कोई मार्ग-निर्देश नहीं किया है। अपने अन्य उपन्यासों में प्रेमचन्द जी ने आदर्शात्मक चर्चा की है और कुछ इस उपन्यासों में तो सामाजिक सुधार के लिए किसी संस्थाविशेष की स्थापना भी करा दी है। इन उपन्यासों में प्रेमचन्द जी का सुधार-सम्बन्धी वाद झलक भी उठता है, पर 'गोदान' में किसी भी वाद की स्पष्ट सूचना नहीं दी गयी है। ऐसी अवस्था में हम 'गोदान' को न तो समाजवादी कृति कह सकते हैं और न किसी अन्य वाद से ही उसका सम्बन्ध निर्धारित कर सकते हैं।

●

: १९ :

१९ गोदान की रसवादी समीक्षा

डॉ० कृष्णदेव झारी

रस-भाव साहित्य का प्राण-रूप अनिवार्य तत्त्व है। इसके बिना कोई रचना काव्य-साहित्य में अपना स्थान नहीं बना सकती। बहुत से प्रगतिवादी तथा नई कवितावादी वर्तमान आलोचक साहित्य-समीक्षा विशेषतः आधुनिक साहित्य की समीक्षा में रस-तत्त्व की उपेक्षा और रस-सिद्धान्त का विरोध करने लगे हैं। उनका विचार है कि रस के बँधे-बँधाये चौखटे से नवलेखन की परख नहीं हो सकती। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने एक लेख 'रस-सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य' में कहा है—"काव्य के नौ रसों से नये साहित्य की परख नहीं हो सकती। ······ जीवन की धारायें एक-दूसरे से इतनी मिली-जुली हैं कि नौ रसों की मेंड़ बाँधकर उन्हें अपने मन के मुताबिक नहीं बढ़ाया जा सकता। प्रेमचन्द के साहित्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस नये साहित्य को परखने के लिए युग के अनुकूल नये सिद्धान्त ढूँढ़ने होंगे। ······इसलिए साहित्य के सामने यह समस्या नहीं है कि रस नौ होते हैं या इससे ज्यादा, और 'ग़बन' में शृंगार है या रसाभास। इन संचारी-व्यभिचारी भावों को रटा-रटाकर हम अपने विद्यार्थियों को साहित्य की प्रगति से दूर रखने का विफल प्रयास कर रहे हैं। साहित्यकार सामाजिक दायित्व को भूलकर अगर आत्मा की अखण्डता और रस के स्वयं प्रकाश अलौकिक ब्रह्मानन्द-सहोदर होने की बातें दोहराता रहेगा तो वर्गहीन समाज के निर्माण में सहायक न हो सकेगा।"

रस और रस-सिद्धान्त के इस विरोध के कई कारण हैं। एक तो इसके उदात्त रूप की प्रतिष्ठा—ऐसी कि जिसमें जीवन के प्रगतिशील उदात्त तत्त्व समाहित रहते हैं—प्राचीन रस-आचार्य नहीं कर सकते थे। उनके लिए सम्भवतः शृंगार रस की कामुकतापूर्ण उक्ति या एकान्तिक सीमित प्रेम-चित्रण भी रस का उदाहरण था, और त्याग, साहस, कर्त्तव्य आदि उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण प्रेम का चित्रण भी शृंगार रस का उदाहरण था। इन दोनों में श्रेष्ठता की दृष्टि से परख का विचार उनके सम्मुख नहीं था। दूसरे, आजतक हम अपनी रस-दृष्टि केवल इस बात में ही

सीमित किये हुए हैं कि अमुक रचना में कौन–कौन सा रस है, किस रस की प्रधानता है। अर्थात् हमारी रस-दृष्टि केवल रस गिनाने तक ही सीमित रहती है। हम भावों और रसों की जीवनोपयोगिता तथा अनेक आधार पर कवि या लेखक की सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण नहीं करते; और इस प्रकार रस-सिद्धान्त एक सीमित समीक्षा-सिद्धान्त प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उसका समाज और जीवन की प्रगति से विशेष सम्बन्ध नहीं, वह वैयक्तिक आनन्दानुभूति मात्र है।

हमने कोरे अनुरंजनकारी रस की अपेक्षा उदात्त रस को समीक्षा का मानदण्ड सिद्ध करते हुए रस-सिद्धान्त की उपयोगिता, रसों के उदात्त रूप-स्वरूप की विस्तृत विवेचना और सब तत्त्वों से समन्वित रसवादी समीक्षा की रूपरेखा तथा उसके आधार पर नव साहित्य—विशेषतः नई कविता—की समीक्षा का प्रयत्न अपनी पुस्तक 'रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा' में किया है। यहाँ तो हम केवल यह कहना चाहते हैं कि रस की अवहेलना से काम न चलेगा। रस तत्त्वों में जीवन की सम्पूर्ण उदात्तता को समाहित करने की शक्ति है। उदात्त भावानुभूति ही उदात्त रसानुभूति है। उदात्त भावों के बिना उच्च कोटि के साहित्य की कल्पना नहीं हो सकती। जीवन के वैषम्य पर क्षुब्ध,करुणार्द्र या घृणा से प्लावित हुए बिना अर्थात् उदात्त भावानुभूति या रसानुभूति के बिना वर्गहीन या वैषम्यहीन समाज के निर्माण में प्रवृत्त हो ही नहीं सकता; या यों कहें कि काव्य या साहित्य में सामाजिक विषमता के प्रति लेखक की घृणात्मक तथा करुणामय प्रतिक्रिया ही जो निश्चय ही पाठक के लिए उदात्त रसानुभूति होती है—वर्गहीन समाज के निर्माण में सहायक होगी। जब यह कहा जाता है कि 'गोदान' कृषक-जीवन की ट्रेजेडी है तो क्या इससे यह अभिप्राय है कि उसमें कृषक जीवन की समस्याएँ प्रस्तुत की गई हैं ? इससे निश्चित ही जीवन की करुणा अभिप्रेत है जो करुण रस ही है और प्रेरणा-शक्ति भी। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'गोदान' में शोषकों या शोषण के अनेक रूप हैं तो इसका भी साहित्यिक अभिप्राय यह है कि 'गोदान' में घृणा या बीभत्स रस[1] के अनेक आलम्बन हैं। समाज की बुराइयाँ, कुरीतियाँ, अत्याचार, अनाचार, अन्याय सब जो चित्रित होते हैं, वे घृणा या बीभत्स रस के विषय ही तो हैं।

आज के हमारे कई आलोचक समीक्षा के कुछ बाह्य मानदण्डों या सिद्धान्तों को सत्य मानकर समीक्षा करना चाहते हैं। साहित्य के मूल तत्त्व भाव-रस की अवहेलना करते प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा आग्रह है कि साहित्य समीक्षकों को युग साहित्य के नियमों की विवेचना करते हुए साहित्य के मूलभूत शाश्वत मानदण्ड

---

१. इस रस के सही मनोवैज्ञानिक स्वरूप का विस्तृत विवेचन हमने अपने शोध-प्रबन्ध 'बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य' में किया है।

उदात्त भाव-रस—को नहीं भुलाना चाहिए। चाहे हम महाकाव्य के स्वरूप की विवेचना कर रहे हों या उपन्यास के तत्त्वों की, हमें सदा उन तत्त्वों को प्रमुखता देनी चाहिए जो साहित्य के मूल तत्त्व हैं। खेद है कि उपन्यास कहानी के तत्त्व निरूपति करते हुए बहुत से वर्तमान आलोचक भावानुभूति -रस-भाव तत्त्व--को छोड़ ही देते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों की समीक्षा करने वाले कई समीक्षकों ने भाव-संवेदनाओं की दृष्टि से मूल्यांकन छोड़ दिया है। क्या प्रेमचन्द की महानता इस बात में है कि उन्होंने समाज की विविध समस्याओं का बोध कराया, जो कार्य एक समाज-शास्त्री भी कर सकता था ? मैं समझता हूँ, प्रेमचन्द इसलिए महान हैं कि उन्होंने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर हमारी उदात्त भाव-संवेदनाएँ जगाई, जो युग के महान् सांस्कृतिक निर्माण से सम्बन्ध रखती हैं। अनुभूति-क्षेत्र के रागात्मक तत्त्वों के माध्यम से ही प्रेमचन्द के प्रगतिशील तत्त्वों का अध्ययन करना समीचीन है। इसके बिना उनकी समीक्षा अधूरी रहेगी। प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बड़ी शक्ति उनमें व्यक्त उदात्त भाव संवेदनाओं या उदात्त रस ही है।

बीभत्स रस का प्रसार : प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों का बीज भाव घृणा है। उनकी रचनाओं में हमें समाज की विकृतियों के अनेक चित्र मिलते हैं। प्रेमचन्द ने समाज की इन विकृतियों के प्रति घृणा से भरकर ही साहित्य-रचना की। एक तरह से घृणा का भाव ही उनका मूल प्रेरक भाव है। इतने व्यापक चित्र-पट पर सामाजिक बुराइयों का अवलोकन शायद ही किसी अन्य लेखक ने किया हो ! हमारी वैवाहिक पद्धति की विकृतियाँ—बेमेल विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, दहेज-प्रथा, नारी का उत्पीड़न; वेश्या-जीवन का कलंक, विधवा-जीवन का विडम्बना सामंतीय या जमींदारी तथा पूँजीवादी-महाजनी शोषण, धार्मिक ढोंग, महन्तों और मठाधीशों की दुश्चरित्रता, अन्याय और धूर्त्तता, छूआछूत का कलंक, वर्ण-भेद, अंध-विश्वास, रिश्वतखोरी, धर्म-भेद, साम्प्रदायिकता, स्वार्थपरता, राष्ट्रीय भावना का अभाव, झूठा अहम्, झूठी शान, जीवन की कृत्रिमता, पुलिस तथा ब्रिटिश नौकरशाही के जुल्म तथा अन्य अनेक सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयों तथा रूढ़ियों का सजीव प्रकाशन प्रेमचन्द के उपन्यासों में हुआ है। इन सब बुराइयों के प्रति घृणा उत्पन्न करके स्वस्थ समाज के निर्माण की प्रेरणा ही प्रेमचन्द का उद्देश्य रहा है। बीभत्स रस के उपर्युक्त अनेक आलम्बन तथा विषय-प्रसंग उनकी रचनाओं में पाये जाते हैं। निश्चय ही यह बीभत्स रस या उदात्त घृणा भाव ही है जो प्रेमचन्द के उपन्यासों को सबल और सशक्त रचनाएँ सिद्ध करता है। इसी के आश्रय सामाजिक बुराइयों के मूलोच्छेदन की प्रेरणा हमें प्राप्त होती है।

गोदान में शोषण के विविध रूप : 'गोदान' में बीभत्स रस का आद्योपान्त

प्रसार पाया जाता है। इसमें अनेक शोषक घृणा के आलम्बन हैं। महाजनी-जमींदारी धार्मिक शोषण और वर्ग-विषमता की 'गोदान' मुँह बोलती तस्वीर है। यह कृषक जीवन की अत्यन्त करुण कहानी है। करुण परिस्थितियाँ अधिकतर शोषण, अत्याचार और अन्याय का परिणाम हैं। अतः बीभत्स रस और करुण रस का सह-अस्तित्व और सह-संचार इसमें आद्योपांत है। यह इस रचना की बड़ी शक्ति है। बीभत्स रस के अनेक प्रकार के अनेक आलम्बन प्रकट हुए हैं : गरीबों का शोषण करने, बेगार-नजर-नजराना-चन्दा-डांड लेने वाले ढोंगी जमीदार रायसाहब अमरपालसिंह; उनके बेईमान, आचारभ्रष्ट, बेगार-डाँड लेने वाले और दरपर्दा व्यभिचार करने वाले नोखे-राम-जैसे अन्यायी कारिन्दे; मंगरू, दातादीन, झिंगुरीसिंह जैसे निर्दयी सूदखोर महा-जन; पटेश्वरी-जैसे स्वार्थी और लोभी पटवारी; परम्परापंथी, अन्यायी-स्वार्थी पंच; रिश्वतखोर पुलिस दरोगा; धर्म की आड़ में शोषण करने वाले, धूर्त्त, छुआछूत, ऊँच-नीच का भेद रखने वाले स्वार्थी पं० दातादीन और उनके लम्पट पुत्र मातादीन; किसानों की ऊख कम तोलने वाले, मजदूरों का शोषण करने वाले, रसिक लम्पट बेईमान मिल-मालिक खन्ना; ढोंगी और लम्पट तिलकधारी ब्राह्मण, काश्मीरी गपड्ड की स्वच्छन्द लड़कियाँ; स्वार्थी और दुर्बल-प्रकृति पत्रकार ओंकारनाथ, विलासी दिग्विजयसिंह आदि अनेक पात्र घृणा के पूर्ण आलम्बन हैं।

'गोदान' में शोषण की प्रायः सभी प्रचलित पद्धतियाँ मिलती हैं ।

१. सामंतीय या जमींदारी पद्धति द्वारा शोषण : इसके अन्तर्गत जमींदार, उसके कारिंदे आदि आते हैं। रायसाहब का एक बीभत्स चित्र देखिए। रायसाहब अपने धार्मिक और सामाजिक ढोंग और विनोद के लिए धनुष यज्ञ की तैयारियाँ करा रहे हैं, अपनी असामियों से ज़बरदस्ती बेगार ले रहे हैं। एक चपरासी आकर कहता है—'सरकार, बेगारों ने काम करने से इन्कार कर दिया है। कहते हैं, जबतक हमें खाने को न मिलेगा, हम काम न करेंगे।'

"राय साहब के माथे पर बल पड़ गए। आँखें निकाल कर बोले—चलो, मैं उन दुष्टों को ठीक करता हूँ। जब कभी खाने को नहीं दिया गया, तो आज यह नई बात क्यों ? एक रोज के हिसाब से मजदूरी मिलेगी, जो हमेशा मिलती रही है; और इस मजूरी पर उन्हें काम करना होगा, सीधे करें या टेढ़े।"

यह अन्यायी ढोंगी जमींदार जो अभी-अभी होरी के आगे नीति और धर्म की बातें कर रहा था, एक दम कैसा बदल गया। ये जमींदार जो सख्ती से लगान वसूल करते हैं, अपनी झूठी शान के लिए जमीन आसमान के कलावे मिलाते हैं, कभी राष्ट्र-वादी बनने का ढोंग रचते हैं, कभी राजभक्त बनकर अपना स्वार्थ साधते हैं, गरीबों का खून चूसकर जो अपने लम्बे-चौड़े परोपजीवी कुनबे को अय्याशी से पालते हैं,

हमारी तीव्र घृणा जगाते हैं।

और यह नोखेराम ! कारिन्दा है। 'वेतन तो दस रुपये से ज्यादा न था, पर एक हजार साल की ऊपर की आमदनी थी, सैकड़ों आदमियों पर हुकूमत, चार-चार प्यादे हाजिर, बेगार में सारा काम हो जाता था।' बेईमान और धूर्त ! होरी से दोबारा लगान वसूल करना चाहता है, रसीद किसी को नहीं देता। दुश्चरित्र इतना कि भोला की पत्नी नोहरी को रखैल ही बना लेता है। गाँव का पंच बनकर गरीबों को डाँटता है, रिश्वत में दलाली खाता है और महाजनी करता है सो अलग !

२. **महाजनी शोषण** : का भी बड़ा सजीव चित्रण 'गोदान' में हुआ है। गाँव में कई महाजन हैं। ये किसान को भारी सूद पर कर्ज देते हैं और दस के बदले पाँच हाथ पर रखते हैं—कागज, लिखाई, दस्तूरी, नजर सब पहले काट लेते हैं। और व्याज की रकम दिनों-दिन बढ़ती जाती है। बीस के एक सौ साठ हो जाते हैं, पचास के तीन सौ। फसल किसान उगाता है, उसके घर एक दाना या पैसा नहीं आता। ऊख तैयार हुई। "झिंगुरीसिंह के सब रिनियाँ थे, और सब की यही इच्छा थी कि झिंगुरीसिंह के हाथ रुपये न पड़ने पाये, नहीं तो वह सबका-सब हज़म कर जायगा। और जब दूसरे दिन आसामी फिर रुपये माँगने जायगा, तो नया कागज़, नया नजराना नयी तहरीर। दूसरे दिन शोभा आकर (होरी से) बोला—दादा, कोई ऐसी उपाय करो कि झिंगुरीसिंह को हैजा हो जाय। ऐसा गिरे कि फिर न उठे।"

होरी ने मुस्करा कर कहा—क्यों, उसके बाल-बच्चे नहीं हैं !

'उसके बाल-बच्चों को देखें कि अपने बाल-बच्चों को देखें ? वह तो दो-दो मेहरियों को आराम से रखता है, यहाँ तो एक को रूखी रोटी भी मयस्सर नहीं, सारी जमा ले लेगा। एक पैसा भी घर न आने देगा।......न जाने इन महाजनों से कभी गला छूटेगा कि नहीं।'

कैसी विषमता है ! करुण और बीभत्स रस का कैसा सुन्दर सह-अस्तित्त्व है ! निपट दरिद्र किसान के आलम्बनत्व से करुण रस और शोषक-महाजन से बीभत्स रस का जैसा सुन्दर सह-संचार हो रहा है ! किसान की सारे साल की मेहनत का उसे यही फल मिला कि उसके हाथ एक कौड़ी भी नहीं आई। गिरधर के शब्द कितने मार्मिक हैं—व्यथा और घृणा को जगाने वाले : 'झिंगुरी ने सारे-का-सारा ले लिया, होरी काका ! चबैना को भी एक पैसा न छोड़ा। हत्यारा कहीं का। रोया, गिड़-गिड़ाया, पर इस पापी को दया न आई।........एक इकन्नी मुँह में दबा ली थीं। उसकी ताड़ी पी ली। सोचा, सालभर पसीना गारा है, तो एक दिन ताड़ी तो पी लूँ।......बीस लिये थे, उसके एक सौ साठ भरे, कुछ हद है !"

हास्ययुक्त घृणा का भव्य-रूप देखना हो तो होली के उत्सव पर गोबर की

चौपाल में हुई महाजन की नकल पढ़िये। महाजन का इससे बढ़िया मजाक क्या होगा! ठाकुर झिंगुरी की नकल की गई, जिसमें ठाकुर ने दस रुपये का दस्तावेज लिखकर पाँच रुपये दिये, शेष नजराने और तहरीर और दस्तूरी और ब्याज में काट लिये। किसान खीझकर व्यंग्य से कहता है—"अब यह पाँच भी मेरी ओर से रख लीजिए। एक रुपया छोटी ठकुराइन का नज़राना है, एक रुपया बड़ी का। एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक बड़ी ठकुराईन के पान खाने को। बाकी बचा एक, वह आपके क्रिया-कर्म के लिये!" कैसी बढ़िया नकल है! अन्तिम शब्दों में घृणा पूर्ण स्फुट हो गई हैं।

३. **पूँजीवादी शोषण** भी बढ़ रहा है। शहर के पूँजीपति खन्ना ने अपनी महाजनी कोठी खोल रखी है। गाँवों में उनके एजेन्ट काम करते हैं। ये किसान को उधार देते हैं और फसल अपने पास मँगा कर अपने रुपये ब्याज-समेत वसूल कर लेते हैं। महाजनी अलग और बेईमानी अलग। खन्ना तौल में बेईमानी करता है। मजदूरों का भी शोषण करता है। आप एक हजार से भी अधिक वेतन लेता है, कमीशन अलग, शेयर का लाभ अलग, पर मजदूरों की मामूली मज़दूरी में भी कटौती कर देता है।

४. **अब ब्रिटिस-पुलिस पद्धति** के प्रतिनिधि रिश्वतखोर दरोगा की काली करतूत देखिए। हीरा ने इर्ष्यावश होरी की गाय को जहर दे दिया और स्वयं भाग निकला। पुलिस-दरोगा तो ऐसे अवसरों की तलाश में ही होते हैं, खबर पाते ही आ धमके! उन्हें तहकीकात से क्या, अपना हलुआ-माँदा बनाने से ही मतलब है। दरोगा गँडासिंह होरी से पैसा ऐंठने के लिए तलाशी लेने की धमकी देता है। दब्बू होरी अपनी मरजाद रखना चाहता है। गाँव के पंच भी लूटखसूट में दारोगा के साथ लग जाते हैं। वे होरी को कहते हैं—"निकालो जो कुछ देना है, यों गला न छूटेगा।" पर बेचारा होरी दे तो कहाँ से, जहर खाने को भी उसके पास एक पैसा नहीं। पंचों में सलाह होती है, और दारोगा को देने के लिए तीस रुपये होरी को उधार दे दिये जाते हैं। इनमें आधा हिस्सा चार पंचों का ठहरा। होरी रुपये अंगोछे में रख कर देने चला।

"सहसा धनिया झपट कर आगे आई और अंगौछी एक झटके के साथ उसके हाथ से छीन ली।···सारे रुपये जमीन पर बिखर गये। नागिन की तरह फुंकार कर बोली—"ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता। भला चाहता है तो सब रुपये लौटा दे,···घर के परानी रात-दिन मरें और दाने-दाने को तरसें, लत्ता भी पहनने को न मयस्सर हो और अंजुली-भर रुपये लेकर चला है इज्जत बचाने!···दारोगा तलासी ही तो लेगा। ले-ले जहाँ चाहे तलासी। एक तो सौ रुपये की गाय गई, उस

पर यह पलेथन ! वाह री तेरी इज्जत !

"सारा समूह थर्रा उठा। नेताओं के सिर झुक गये और दारोगा का मुंह जरा-सा निकल आया। अपने जीवन में उसे ऐसी लताड़ न मिली थी।···मगर दारोगा भी इतनी जल्द हार मानने वाले न थे। खिसियाकर बोले - मुझे ऐसा मालूम होता है कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फँसाने के लिए खुद गाय को जहर दे दिया।

"धनिया हाथ मटका कर बोली—हाँ, दे दिया। अपनी गाय थी, मार डाली, फिर ?······तुम्हारे तहकियात में यही निकलता है, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथों में हथकड़ियाँ ! देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारे अक्कल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है, दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात।"

नेताओं ने रुपये चुनकर उठा लिये थे और दारोगा जी को वहाँ से चलने का इशारा कर रहे थे। धनिया ने एक ठोकर और लगाई—जिसके रुपये हों, ले जाकर उसे दे दो। हमें किसी से उधार नहीं लेना है।···मैं दमड़ी भी न दूँगी··· । हम बाकी चुकाने को पचीस रुपये माँगते थे, किसी ने न दिया। आज अंजुली भर रुपये ठनाठन निकाल दे दिये ! मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट-बखरा होने वाला था। सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले। सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो।"

रिश्वतखोर दरोगा और गाँव के बेईमान पंचों की काली करतूतों का कैसा सजीव चित्र है ! बीभत्स रस की यहाँ पूर्ण व्यंजना हुई है। होरी की पत्नी धनिया काव्यगत आश्रय है, दरोगा और पंच आलम्बन। उनकी साँठ-गाँठ, दरोगा की धमकियाँ आदि उद्दीपक कार्य हैं। धनिया का झपटना, हाथ मटकाकर फटकारना आदि शारीरिक तथा धिक्कारपूर्ण कथन वाचिक अनुभाव है। अमर्ष, क्रोध, व्यंग्य, शोक, आशंका, साहस आदि संचारी भाव भी स्पष्ट हैं।

५. **ब्रिटिश नौकर शाही** के हाकिम-हुक्काम, अमले भी परोक्ष रूप से किसानों का शोषण करते हैं। बेदखली, इजाफ़ा आदि की जो कार्रवाई जमींदार अपनी असामियों के खिलाफ़ करता है, ये हाकिम रिश्वत खाकर, डालियाँ लेकर, झट किसानों के खिलाफ़ डिग्री दे देते हैं। "कब दावा दायर हुआ, कब डिग्री हुई, उसे (होरी को) बिल्कुल पता न चला। कुर्कअमीन उसकी ऊख नीलाम करने आया, तब उसे मालूम हुआ।" रामसेवक ब्रिटिश नौकरशाही का पर्दाफ़ाश करता हुआ कहता है : "थानेदार और कानिसिटेबल तो जैसे दामाद हैं। जब उनका दौरा गाँव में हो जाय, किसानों का धरम है कि वह उनका आदर-सत्कार करें, नजर-न्याब दें, नहीं एक रिपोर्ट में

गाँव का गाँव बँध जाय। कभी कानोगो आते हैं, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी, कभी जंठ, कभी क्लक्टर, कभी कमीश्नर, किसान को उनके सामने हाथ बाँधे हाजिर रहना चाहिए। उनके लिए रसद-चारे, अन्डे-मुर्गी, दूध-घी का इन्तज़ाम करना चाहिए।''

६ गाँव के पंचों और बिरादरी का भय भी गरीबों को खा रहा है। **समाज और बिरादरी** की गली सड़ी परम्पराओं और मर्यादाओं में जकड़ा हुआ किसान इन समाज के ठेकेदारों के शोषण का शिकार होता है। होरी का पुत्र गोबर अहीर की लड़की को ले आया। होरी-धनिया ने झुनिया को आश्रय दे दिया। बस, समाज की नाक कट गई, बिरादरी को मौत आ गई! झिंगुरीसिंह पचास साल के हैं, दो-दो जवान पत्नियाँ रखे हुए हैं। पटेश्वरी अपनी विधवा कहारिन को दरपर्दा रखे हैं, दातादीन ने अपनी जवानी में ऊधम मचाया था, अब उनका बेटा मातादीन सिलिया चमारिन को फँसाये हुए हैं, झिंगुरी ने ब्राह्मणी रख ली, पर इन्हें कोई नहीं पूछता! पैसे वाले हैं, पंच हैं, उच्च वर्ण हैं! पर यही पंच होरी पर सौ रुपये नक़द और तीस मन अनाज डांड लगाकर उसे लूट लेते हैं। धनिया अपनी घृणा और क्षोभ व्यक्त करती है—"पंचो, गरीबों को सता कर सुख न पाओगे, इतना समझ लेना।...मेरा सराप तुमको भी जरूर-से-जरूर लगेगा।" कैसी तीव्र घृणा फूट निकली है। इन समाज-बिरादरी के ठेकेदार धूर्त्त शोषकों के प्रति! धनिया की गालियाँ, 'सराप,' फटकार-धिक्कार स्थान-स्थान पर इन समाज-शोषी शक्तियों—घृणा के भिन्न-भिन्न आलम्बनों के प्रति हमारी तीव्र घृणा को पुष्ट करती हैं। इस प्रकार सारे उपन्यास में आदि से अन्त तक बीभत्स रस के आश्रय शोषण का मार्मिक चित्रण हुआ है।

प्रेमचन्द ने अपने कई उपन्यासों में जमींदारी पद्धति के दोषों को प्रस्तुत करके इस पद्धति को मृत्युदण्ड दिया है। 'प्रेमाश्रम' में यही उनका उद्देश्य था। 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' आदि अन्य उपन्यासों में भी इस पद्धति के बीभत्स रूप का स्पष्ट उद्घाटन हुआ है। वास्तव में प्रेमचन्द ने सम्पत्ति को ही सब प्रकार की विपत्ति का मूल कारण माना है- वह चाहे सामंतीय सम्पत्ति हो या पूँजीवादी। 'गोदान' से पूर्व 'रंगभूमि' में भी प्रेमचन्द पूँजीवाद के उदय की झलक दिखा आये थे, पर वहाँ उसका विस्तृत रूप प्रकट नहीं हुआ था। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने युग-सत्य को पहनकर एक ओर ह्रासोन्मुख सामंतवाद का सच्चा चित्र उपस्थित किया है, दूसरी ओर सामंतवाद या जमींदारी पद्धति के स्थान पर विकासशील पूँजीवाद का व्यापक प्रभाव दिखाते हुए,, उसके भी समाज-शोषी और मानव-शोषी रूप का विस्तृत चित्रण किया है।

धर्म का ढकोसला : प्रेमचन्द ने परम्परागत धर्म की अपने उपन्यासों में स्थान स्थान पर खूब धज्जियाँ उड़ाई हैं। इसके लिए उन्होंने व्यंग्य का ज़बरदस्त शस्त्र प्रयोग किया है। इस व्यंग्य के मूल में घृणा है। हम इन आलम्बनों पर हँस कर नहीं रह

जाते, अपितु घृणा से भर जाते हैं। अतः ऐसे व्यंग्य को हमने बीभत्स रस का ही विषय माना है।

'गोदान' में भी प्रेमचन्द ने धार्मिक पाखंड की गिन-गिन कर कड़ियाँ तोड़ी हैं। इस रचना तक आते-आते ईश्वर और तथाकथित धर्म के प्रति उनका मन विशेष रूप से अविश्वासी हो गया था। जिस ईश्वर का रुद्र रूप बेचारे किसान को शोषण की चक्की में पीसता है, जो गरीब को भाग्यवादी बनाये रखता है, उसे और उसके भक्तों को उन्होंने हर स्थान पर अपने व्यंग्य-वाणों से बींधा है। बड़े आदमियों का दान-धर्म कोरा पाखंड है। जब होरी गोबर से कहता है कि मालिक चार घंटे भगवान् का भजन करते हैं, भगवान् की उन पर दया क्यों न हो, तो गोबर व्यंग्य करता हुआ कहता है—"यह पाप का धन पचे कैसे ? इसीलिए दान-धर्म करना पड़ता है।...भूखे नंगे रहकर भगवान् का भजन करें, तो हम भी देखें। हमें कोई दोनों जून खाने को दे तो हम आठों पहर भगवान् का जाप ही करते रहें। एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े तो सारी भक्ति भूल जायें।"

छापा-तिलक-धारी भक्तों और पंडितों की काली करतूत का विस्तृत चित्र झुनियाँ प्रस्तुत करती है। वह आप बीती सुनाती है—"बरसों से दूध लेकर बाज़ार जाती हूँ।...एक पंडित जी बहुत तिलक-मुद्रा लगाते हैं। आधा सेर दूध लेते हैं। एक दिन उनकी घरवाली कहीं नेवते में गई थी। मुझे क्या मालूम। और दिनों की तरह दूध लिए भीतर चली गई।...इतने में देखती हूँ तो पंडित जी बाहर के किवाड़ बन्द किये चले आ रहे हैं। मैं समझ गई, इसकी नियत खराब है। मैंने डाँटकर पूछा—तुमने किवाड़ क्यों बन्द कर लिये ? क्या बहू जी कहीं गई हैं क्या ?...वह मेरी ओर दो पग और बढ़ गया !...मेरी छाती धक्-धक् करने लगी।...कलेजा मजबूत करके बोली—इस फेर में न रहना पंडित जी ! मैं अहीर की लड़की हूँ। मूँछ का एक-एक बाल चुनवा लूँगी। यही लिखा है तुम्हारे पोथी-पत्रे में कि दूसरों की बहू-बेटी को अपने घर बंद करके बेइज्जत करो। इसीलिए तिलक-मुद्रा का जाल बिछाये बैठे हो ?'......मैंने नोट जमीन पर गिरा दिये और द्वार की ओर चली, तो उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। मैं तो पहले ही से तैयार थी। हाँडी उसके मुँह पर दे मारी। सिर से पाँव तक सराबोर हो गया। चोट खूब लगी। सिर पकड़ कर बैठ गया......मैंने...पीठ में दो लातें जमा दीं और किवाड़ खोलकर भागी।

गोबर ठट्टा मारकर बोला—बहुत अच्छा किया तुमने ! दूध से नहा गया होगा। तिलक-मुद्रा भी धुल गयी होगी। मूँछें भी क्यों न उखाड़ लीं ?...ऐसे पाखंडियों पर दया न करनी चाहिये। तुम मुझे कल उसकी सुरत दिखा दो, फिर देखना कैसी मरम्मत करता हूँ।"

इस प्रसंग में वीभत्स रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। दुश्चरित्र लम्पट पंडित आलम्बन है, उनकी कुचेष्टाएँ, जबरदस्ती करने का प्रयत्न, रुपये देना, याचना करना, हाथ पकड़ना आदि दुष्कृत्य उद्दीपन विभाव हैं। झुनिया और गोबर के वाचिक अनुभाव बहुत स्पष्ट हैं। झुनिया द्वारा दूध की मटकी मारना, लात जमाना, नाक रगड़ना आदि शारीरिक अनुभाव हैं तथा रोमांच, कंप, धड़कन आदि सात्त्विक अनुभाव हैं। आशंका, क्रोध, भय, मति, धृति, साहस, व्यंग्य और हास्य आदि कितने ही संचारी भाव रस को पुष्ट कर रहे हैं। धर्म के पाखंड पर मार्मिक व्यंग्य भी स्पष्ट है।

परम्परागत ब्राह्मण धर्म की प्रेमचन्द ने खूब खिल्ली उड़ाई है। यह धर्म भी विचित्र ढकोसला है। "हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।" कैसी बढ़िया फब्ती है ब्राह्मण दातादीन और उनके बेटे मातादीन के पाखंडी धर्म पर! "मातादीन एक चमारिन से फँसा हुआ था। इसे सारा गाँव जानता था। पर वह तिलक लगाता था, पोथी-पत्रे बाँचता था, कथा भागवत कहता था, धर्म-संस्कार करता था। उसकी प्रतिष्ठा में ज़रा भी कमी न थी। वह नित्य स्नान-पूजा कर के अपने पापों का प्रायश्चित कर लेता था।" जब चमारों ने देखा कि यह ब्राह्मण हमारी लड़की को भ्रष्ट करके आप मजे से नेमी-धर्मी बना हुआ है, तो उन्होंने मातादीन को पकड़ कर उसके मुँह में हड्डी छुआ दी। बस, मातादीन का धर्म भ्रष्ट हो गया! प्रेमचन्द का मार्मिक व्यंग्य देखिए—"उस हड्डी के टुकड़े ने उसके मुँह को ही नहीं, उसकी आत्मा को भी अपवित्र कर दिया था। उसका धर्म इसी खान-पान, छूत-विचार पर टिका हुआ था। आज उस धर्म की जड़ कट गई। अब वह लाख प्रायश्चित्त करे, लाख गोबर खाये और गंगाजल पिये, लाख दान-पुण्य और तीर्थ-व्रत करे, उसका मरा हुआ धर्म जी नहीं सकता। अगर अकेले की बात होती तो छिपा ली जाती; यहाँ तो सबके सामने उसका धर्म लुटा।"

बगुला भक्त नोखेराम "प्रातः काल पूजा पर बैठ जाते थे और दस बजे तक बैठे राम-नाम लिखा करते थे, मगर भगवान् के सामने से उठते ही उनकी मानवता विकृत होकर उनके मन, वचन और कर्म को विषाक्त कर देती थी।" इन झूठे नेमी धर्मियों की प्रेमचन्द ने खूब खबर ली है। इनकी काली करतूतों का कच्चा चिट्ठा दिखाकर स्पष्ट किया है कि यह धर्म रेत की कितनी कच्ची दीवार पर टिका हुआ है।

वैवाहिक पद्धति के दोष : प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में परम्परागत भारतीय वैवाहिक पद्धति की खूब खबर ली है। इसके दोषों को उन्होने अपने उपन्यासों और कहानियों में स्थान-स्थान पर दिखाया है। उनकी रचनाओं में बेमेल विवाह के अनेक चित्र पाये जाते हैं। वस्तुतः अपने व्यक्तिगत जीवन में वह स्वय इस पद्धति

का शिकार बने रहे थे। उनके पिता ने बुढ़ापे में दूसरी शादी की थी। उनका अपना विवाह बेमेल विवाह था। इस व्यक्तिगत विषमता को समाज में सर्वत्र पाकर—और अनेक प्रकार से अनेक रूपों में पाकर, प्रेमचन्द को विशेष उत्तेजना हुई। संभवतः इसी कारण उनके प्रत्येक उपन्यास में वैवाहिक विषमता के उदाहरण मिलते हैं।

'गोदान' में भी विषम दाम्पत्य जीवन के कई चित्र हैं। "खन्ना और गोविन्द में नहीं पटती।" प्रेमचन्द व्यंग्य करते हैं—"क्यों नहीं पटती, यह बतलाना कठिन है। ज्योतिष के हिसाब से अनेक ग्रहों में कोई विरोध है, **हालाँकि विवाह के समय ग्रह और नक्षत्र खूब मिला लिये गए थे।**" पर कैसे ? विवाह जन्मपत्री मिलाने से होता है, स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलाई जाती, या फिर धन के आधार पर होता है। रायसाहब की पुत्री मीनाक्षी का विवाह के कुछ दिनों बाद ही पति से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। "साधारण हिन्दू बालिकाओं की तरह मीनाक्षी भी बेज़बान थी। बाप ने जिसके साथ ब्याह कर दिया, उसके साथ चली गई; दिग्विजयसिंह ऐयाश भी थे, शराबी भी। मीनाक्षी भीतर ही भीतर कुढ़ती रहती थी।...दिग्विजय सिंह...बड़ा मगरूर, अपनी कुल प्रतिष्ठा की डींगे मारने वाला, स्वभाव का निर्दयी और कृपण। गाँव की नीच जात की बहू-बेटियों पर डोरे डाला करता था। सोहबत भी नीचों की थी,...मीनाक्षी ऐसे व्यक्ति का सम्मान दिल से न कर सकती थी। "बात बढ़ गई, उसने गुज़ारे का दावा कर दिया, दिग्विजयसिंह ने उलटा बदचलनी का आक्षेप लगाया।"

यही रायसाहब अपने बेटे रुद्रपाल का विवाह भी अपनी प्रतिष्ठा और मर्यादा की दुहाई देकर राजा सूर्यप्रतापसिंह की लड़की से, अपनी मर्जी के मुताबिक, करना चाहते थे, पर वह तो लड़का था—निडर, स्वच्छन्द विचारों का। इसी से बाप के झाँसे में न आया।

शहरों में यह विषमता पुरुष की लम्पटता और स्वभाव की उद्दण्डता के कारण उत्पन्न होती है, जिसके मूल में है धन-सम्पत्ति का दोष। गाँव में विषमता का मुख्य कारण है विवशता। होरी इसी विवशता से अपनी फूल-सी कन्या, धूर्त्त दातादीन के बहकावे से, अधेड़ रामसेवक को एक तरह बेच ही देता है। भोला अपने बुढ़ापे में दूसरी सगाई ले आता है। औरत के बिना उसका जीवन नीरस था! संयोग से एक जवान विधवा मिल गई। भोला की लार टपक पड़ी। झटपट शिकार मार लाये। पर स्वयं कैसे शिकार बन गये और नौहरी ने कैसे उसे नचाया, यह दूषित विवाह-प्रथा की विडम्बना को व्यक्त करने वाली घृणा-पूर्ण कहानी है। गाँवों में पैसे के प्रभाव से प्रायः बेमेल विवाह हुआ करते हैं। झिंगुरीसिंह दो-दो जवान मेहरियाँ रखे हुए हैं। यद्यपि वह उन्हें पर्दे में रखता है, पर न जाने पर्दे की ओट में क्या-क्या होता है। इस प्रकार की वय-विषमता का परिणाम नैतिक पतन ही होता है।

जात-पाँत की बीमारी भी सम और स्वाभाविक प्रेम-विवाह में बाधक है। गोबर और झुनिया के पीछे बिरादरी और पंच लाठी लेकर पड़ जाते हैं। होरी को सैकड़ों रुपये का दण्ड भरना पड़ता है। सिलिया मातादीन से अटूट प्रेम करने लगती है, आत्मसमर्पण कर देती है; पर ब्राह्मण और चमारिन का क्या मेल ?

इस प्रकार 'गोदान' में भी हमें पुरुष की लम्पटता, आर्थिक विषमता, मां-बाप द्वारा पैसे का लोभ, माँ-बाप द्वारा अपनी मर्जी चलना, विवाह संबंध में पैसे मर्यादा, जात-कुल, पोथी-पत्रे का आधार आदि के कई कारणों से वैवाहिक विषमता के कई प्रकार के चित्र मिलते हैं। हमें इस वैवाहिक पद्धति को भी बदलना होगा। धन के आधार को मिटाना होगा, पुरुष की लम्पटता और अत्याचार को समाप्त करना होगा। तभी हमारा विवाहित जीवन सुखमय हो सकता है।

अन्य बुराईयाँ : 'गोदान' में कुछ अन्य सामाजिक बुराइयाँ भी बीभत्स रस या घृणा भाव के आश्रय रूप में प्रकट हुई हैं। नगरों में पाश्चात्य प्रभाव से नर-नारियों में स्वच्छन्द विहार और फैशन-परस्ती बुराई की हद तक बढ़ती जा रही है। मालती का आरम्भिक तितली-रूप ऐसा ही है। इसका बीभत्स रूप काश्मीरी गपड्ढू की स्वच्छन्द लड़कियों के प्रसंग में प्रकट हुआ है। पुरुष की लम्पटता और नैतिक पतन भी सामाजिक अभिशाप बने हुए हैं। खन्ना, दिग्विजय सिंह आदि पुरुष समाज की बुराइयों के आगार हैं। यही विलासप्रियता और नैतिक पतन वेश्यागामिता आदि बुराइयों को जन्म देते हैं।

आज के भौतिक-स्वार्थी युग में वणिक्-वृत्ति के प्रभाव से तखा-जैसे स्वार्थी, चालबाज, ढोंगी, खुशामदी व्यक्ति भी अपना निर्लज्ज अस्तित्व रखते हैं।

गाँवों में अशिक्षा के कारण किसानों में अंधविश्वास, छुआछूत, जात-पाँत, विधवा की विडम्बना, सास-बहू, ननद-भौजी, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, देवरानी-जेठानी के पारिवारिक झगड़े आदि बुराइयाँ पाई जाती हैं। इस प्रकार 'गोदान' में घृणा भाव तथा बीभत्स रस के आश्रय समाज की अनेकानेक बुराइयाँ प्रकट हुई हैं। निश्चय ही प्रेमचन्द का उद्देश्य इन सब बुराइयों के प्रति हमारी घृणा जगाकर, समाज के इस कुरूप को बदलने की प्रेरणा देना है। उदात्त बीभत्स रस का अनेक-मुखी प्रसार 'गोदान' की एक बड़ी औपन्यासिक शक्ति है। इसके बिना यह उच्च-कोटि की साहित्यिक कृति नहीं बन सकती थी। इस व्यापक रस-शक्ति की अवहेलना कोई कैसे कर सकता है ?

करुण रस : 'गोदान' कृषक जीवन की करुण कहानी है—ट्रेजेडी है ! उसका आरंभ भी करुण झाँकी से होता है, अंत भी घनीभूत करुणा में होता है। मध्य का सारा कार्य-व्यापार यही करुण कहानी कहता है। इसी से यह करुणरसप्रधान रचना है। यद्यपि होरी महाजनों और शोषकों के अत्याचार सहने पर भी, लुटते-

पिटते हुए भी, विवशता के कारण कर्म में लगा रहता है, पर एक-दो स्थानों को छोड़कर, वह कहीं कर्मवीर बना प्रतीत नहीं होता। वह तो सर्वत्र शोषण का शिकार बना हुआ है। वह सोलह आने करुणा का आलम्बन है। सारा उपन्यास उसके जीवन की करुण कथा है।

'गोदान' में करुण और बीभत्स रस के सह संचार-रूप में वर्ग-विषमता का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। कृषक की दयनीय करुण दशा तथा जमींदार, महाजन-पूँजीपति की बीभत्सतापूर्ण उच्चदशा वर्ग-भेद का स्पष्ट बोध कराती हैं। वर्ग-विषमता के साथ वर्ग-चेतना 'गोदान' में खूब उभरी हुई है, किन्तु वर्ग-संघर्ष का विशेष विकास 'गोदान' में नहीं पाया जाता। गोबर आदि कुछ पात्रों का विद्रोह और संघर्ष व्यक्तिगत प्रयास ही है। सामूहिक रूप में वर्ग-संघर्ष 'गोदान' में बहुत कम है। एक-दो स्थानों पर ही उसके स्वरूप का आभास मिलता है, जैसे मिल-मजदूरों की हड़ताल व संघर्ष, चमारों का गाँव में मातादीन को पकड़ना तथा रामसेवक का किसानों को बेसी लगान न देने को तैयार करना आदि प्रसंग। 'गोदान' में होरी की अपेक्षा धनिया, गोबर, शोभा, गिरधर आदि में असंतोष और विद्रोह की भावना प्रचण्ड है, जो बीभत्स रस, वीर रस, हास्यरस आदि कई रस-भावों की अनुभूति कराती है। परन्तु ये सब सामूहिक संगठित विद्रोह के लिए तैयार नहीं होते। इनका असंतोष और विद्रोह भी व्यक्तिगत निष्क्रिय विरोध ही बना रहता है जो अधिकतर घृणा या बीभत्स रस की ही अनुभूति कराता है, वीर और रौद्र रस की नहीं। दारोगा की धाँधली पर धनिया का विरोध, नोखेराम की बेईमानी पर गोबर की फटकार आदि कुछ प्रयास अपवाद हैं। गोबर जब शहर से कुछ कमा कर गाँव में आता है तो लगता है कि वह संगठित विरोध करेगा। वह शोषकों की खूब भद्द उड़ाता है। गोबर की शह पाकर "होली का प्रोग्राम बनने लगा।......और रंगों के साथ कालिख भी बने और मुखियों के मुंह पर कालिख ही पोती जाय। फिर स्वांग निकले और पंचों की भद्द उड़ाई जाय।" वे सब शोषकों को खूब भिगो-भिगो कर लगाते हैं। होली की रात खूब नकलें हुईं, मंडैती होती रही और सताये हुए दिल कल्पना में प्रतिशोध पाकर प्रसन्न होते रहे। परन्तु यह विरोध भी जबानी जमा-खर्च बना रहता है, सक्रिय विद्रोह नहीं बन पाता। इसकी अपेक्षा मजदूरों का विरोध अधिक सक्रिय है, यद्यपि उसका प्रसंग संक्षिप्त ही है। शायद यह युग-सत्य भी था। चमारों के संघर्ष को प्रकट करके प्रेमचन्द जी ने अपने युग से भी आगे की आहट ली है।

कृषक-जीवन की विषमता को प्रेमचन्द ने आरम्भ से अन्त तक अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। किसान की गरदन दूसरों के पाँवों तले दबी हुई है और वह उन 'पाँवों को सहलाने में ही अपनी कुशल' समझता है। धनिया को

'अपने विवाहित जीवन के बीस बरसों में अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को, दाँत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।'' कैसी विषमता है! गरीबों को पेट-भर मोटा-झोटा भोजन भी नहीं मिलता; 'घी-दूध अंजन लगाने तक को नहीं मिलता'; छत्तीस वर्ष की आयु में ही धनिया के सारे बाल पक गये थे, चेहरे पर झुरियाँ पड़ गई थीं और सुन्दर गेहुँआ रंग सँवला गया था; उसके बच्चे मामूली दवा-दारू के अभाव में चल बसे थे। उधर इन गरीबों के परिश्रम पर पलने वाले जमींदार, महाजन और पूँजीपति गुलछर्रे उड़ाते हैं, राग-रंग का जीवन बिताते हैं। गरीब किसान सारा साल गर्मी-सर्दी-बरसात में अपना खून-पसीना एक करता है, पर उसके घर एक दाना अनाज भी नहीं जा पाता, सारी उपज खलिहान में ही तुल जाती है। उसकी एक गाय की लालसा अतृप्त लालसा बनी रहती है। ऋण के भार से वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी दबता जाता है। जमींदार, कारिन्दा, कई-कई महाजन, पटवारी, थानेदार आदि सब मगरमच्छ बने उसकी छोटी-सी डगमगाती जीवन-नैया को निगलने पर उतारू रहते हैं। पौर-पौर और जौ-जौ घुन की तरह खाते रहते हैं, एक-एक बूँद रक्त चूसते हैं, और बेचारा किसान किसी तरह जीवित रहना चाहता है, पर नहीं रह पाता। वह टूट जाता है। मरते समय भी धार्मिक शोषण उसका पिंड नहीं छोड़ता। कैसी विचित्र बिडम्बना है कि जो व्यक्ति सारी उम्र एक गाय घर में नहीं जुटा सका, उससे ही मरते समय गोदान की आशा की जाती है! सारी करुण परिस्थितियाँ घनीभूत होकर होरी के अन्तिम समय पाठक को आठ-आठ आँसू बहाने पर विवश कर देती हैं। उसकी दुर्दशा का एक-एक प्रसंग रुलाने वाला है। गाय के मरने, पंचों और बिरादरी को डांड भरने, सारी फसल खलिहान में ही बँट जाने, ऊख की बिक्री से एक कौड़ी भी हाथ न आने, दाने-दाने के लिए तरसने, बच्चों के भूख से बिलखने, रूपा के विवाह की विवशता, शक्ति से बाहर काम करना, सरदी में ठिठुरना, मजूरी करना, झुलसती गर्मी में मिट्टी खोदना और टूटकर गिर जाना आदि दृश्य और प्रसंग हमारी तीव्र करुणा जगाते हैं—ऐसी करुणा जो उच्च कोटि की मानवीय सहानुभूति और समवेदना जगाकर पाठक के हृदय को उदात्त बनाती है।

कृषक जीवन की उपर्युक्त मुख्य करुणा के अतिरिक्त 'गोदान' में सिलिया, झुनिया और गोविन्दी के तीन और करुण नारी-चित्र मिलते हैं। तीनों की करुणा पुरुष के अत्याचारों का परिणाम है। इस प्रकार 'गोदान' में करुण परिस्थितियाँ खूब पाई जाती हैं। सच तो यह है कि करुण और बीभत्स रस का सह-संचार इस उपन्यास की शक्ति का रहस्य है। 'वेदना और भर्त्सना' का ऐसा सुन्दर सुयोग बहुत कम विश्व-विख्यात रचनाओं में होता है। 'गोदान' की सारी प्रभाव-शक्ति आकर्षण,

रोचकता, जीवन-दर्शन और जीवन-आलोचन, अवलोकन सब इन दो भाव-संवेदनाओं के आश्रय ही मुख्य रूप से प्रस्तुत हुए हैं।

शृंगार रस: प्रेम के विविध रूप : 'गोदान' में तीसरी प्रमुख भाव-संवेदना प्रेम है। प्रेम के भिन्न-भिन्न रूप इसमें पूर्ण उदात्तता के साथ प्रकट हुए हैं। दाम्पत्य प्रेम (शृंगार रस) के भी कई उदात्त चित्र पाये जाते हैं। होरी और धनिया के प्रौढ़ प्रेम से उपन्यास का आरम्भ होता है। यह प्रेम रीतिकालीन एकान्तिक सीमित प्रेम नहीं है, अपितु जीवन-संघर्षों में खिलने-खेलने और दृढ़ रहने वाला उदात्त प्रेम है। जीवन की विषमताएँ इसे डिगा नहीं सकतीं। मार-फटकार, गाली-दुत्कार आदि की कटुताओं में भी यह निश्चल रहता है। एक मधुर मुस्कान या विनोद में सारी खींझ, सारा क्रोध शान्त हो जाता है। इसमें चाहे शारीरिक उत्तमता न हो, पर प्रेम की प्रगाढ़ता और उदात्तता की दृष्टि से रीतिकाल की सैकड़ों नायिकाओं का प्रेम धनिया के पति-प्रेम के आगे पानी भरता है। होरी और धनिया के इस प्रौढ़ प्रेम के अतिरिक्त 'गोदान' में झुनिया और गोबर का अल्हड़ प्रेम और सिलिया का एकनिष्ठ प्रेम भी अत्यन्त मार्मिक है। सोना का तेजपूर्ण पातिव्रत्य भी अत्यन्त उदात्त है। सिलिया, झुनिया और सोना—इन तीन ग्राम-नारियों के जीवन और चरित्र में दाम्पत्य प्रेम के तीन आदर्श भिन्न-भिन्न रूपों में मिलते हैं। सिलिया अपने प्रेम में एकनिष्ठ है। वह जात-बिरादरी, मां-बाप-भाई, मरजाद किसी की परवाह नहीं करती। वह प्रेम का प्रतिदान भी नहीं चाहती। निराश्रिता होकर वह भूखी रहती है, अपने परिश्रम की बूंदें निकाल कर पेट की ज्वाला शांत करती है, पर मातादीन के नाम को नहीं छोड़ती। इस वियोगिनी बल्कि परित्यक्ता के हर्ष का उस दिन पारावार नहीं था, जब उसे मातादीन के भेजे दो रुपये मिलते हैं। पछताते मातादीन को पाकर तो यह प्रेम-पुजारिन अपने मन से जुड़ा लेती है। झुनिया अपने प्यार का पूरा प्रतिदान चाहती है। जितना प्यार देती है, ठीक उतना ही वापिस चाहती है। वह गोबर से साफ़ शब्दों में कह देती है—'सर्वस तो तभी पाओगे, जब अपना सर्वस दोगे।' गोबर के शहर से आने पर वह शोख मान का जो अभिनय करती है, वह बहुत भव्य है। शहर में गोबर उसकी उपेक्षा करने लगता है। वह धीरता और सहनशीलता दिखाती है। पति के चोट लग जाने पर वह उसकी खूब सेवा करती है। गोबर के मुँह से पाश्चात्ताप के शब्द सुनकर उसका प्रेम और भी हरा-भरा हो जाता है। सोना का आदर्श और भी प्रचण्ड है। वह पति का जरा-सा भटक जाना भी बर्दाश्त नहीं कर सकती। वह सच्ची पतिव्रता नारी है। जब अपने पति द्वारा सिलिया की छेड़-छाड़ का उसे पता चल जाता है तो वह एकदम उग्र हो जाती है। उसके सच्चे प्रेम की तेजस्विता से उसका अपराधी पति भी काँप उठता है। एक ही गाँव की ये तीनों नारियाँ अपने प्रेम में कितनी सजीव हैं!

प्रेमचन्द ने सिलिया और मातादीन के प्रेम की अन्तिम सफल प्रगाढ़ परिणति द्वारा एक अद्भुत क्रांतिकारी कार्य किया है। इस प्रकार का अन्त: जातीय मिलन और सम्बन्ध प्रेमचन्द-युग में तो एक कपोल-कल्पना था ही, आज भी गाँवों में यह विरल संयोग हैं। निश्चय ही प्रेमचन्द इस प्रेम-चित्रण में अपने युग से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। जहाँ पहले उपन्यासों में वे विजातीय और अन्त: जातीय सम्बन्ध कराते डरते थे, वहाँ गोदान' में उनका प्रगतिशील मन बिल्कुल निर्भय हो गया है। जहाँ 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया तथा 'कर्मभूमि' में सकीना और अमरकान्त की कहानी अधूरी ही रही, वहाँ 'गोदान' में प्रेमचन्द ने जाति, धर्म की संकीर्ण दीवारों को तोड़ कर रख दिया और मानव-प्रेम की शाश्वत कहानी को पूर्ण रूप दिया।

मेहता और मालती का पूर्वराग (courtship) तथा प्रेम भी अत्यन्त रोचक एवं उदात्त है। इस प्रेम की चरम परिणति अत्यन्त पवित्र भावना में होती है। वे छोटी-सी गृहस्थी के छोटे-से पिंजड़े में अपना प्रेम बंद करना नहीं चाहते। दोनों नर-नारी के ऐसे प्रेम-पाश में बँधते हैं, जहाँ शरीर के स्थान पर आत्मा, स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ, सांसारिकता की जगह आध्यात्मिकता और संकुचित गृहस्थ-धर्म के स्थान पर विश्व-मानव-धर्म की पवित्र भावनाएँ प्रमुख रहती हैं। सरोज और रुद्रपाल के स्वच्छन्द प्रेम का उल्लेख भी एक आदर्श प्रेरणा ही देता है।

इस प्रकार 'गोदान' में दाम्पत्य प्रेम के कई उदात्त रूप पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त वात्सल्य स्नेह, भ्रातृ-स्नेह, उदात्त मानवीय प्रेम आदि प्रेम की अन्य प्रवृत्तियों का भी भव्य प्रकाशन हुआ है। होरी और धनिया के वात्सल्य-पूर्ण हृदय कई झाँकियाँ पाई जाती हैं। धनिया का तो रोम-रोम संतान-प्रेम से भरा हुआ है। झुनिया, गोविन्दी और मालती के वात्सल्य की झाँकियाँ भी कई स्थानों पर मिलती हैं। रायसाहब का क्षुब्ध वात्सल्य भी कम आकर्षक नहीं है। मातादीन अपने अवैध पुत्र को देखने चोरी-चोरी आता है। उसका स्नेह भी कम उदात्त नहीं। होरी का भ्रातृ-प्रेम, निराश्रिता सिलिया को स्थान देने में धनिया-होरी का उदात्त उदार मानव-प्रेम आदि भी भाव-शिल्पी प्रेमचन्द की लेखनी के अमिट भाव-चित्र हैं। इन भाव-चित्रों के उद्घाटन के बिना, केवल समस्याओं के वैचारिक रूप और रचना-विधान की खोज-खबर लेने से प्रेमचन्द की कृतियों का साहित्यिक मूल्य नहीं आँका जा सकता। मानवीय भाव-संवेदनाओं को अत्यन्त उदात्त रूप में प्रस्तुत करना ही प्रेमचन्द की सफलता का रहस्य है। इस रस-भाव तत्त्व के बिना प्रेमचन्द की रचनाओं की शक्ति की विवेचना सच्ची साहित्य-आलोचना नहीं हो सकती। मानव-जीवन की अनेकानेक भाव-संवेदनाओं का रसपूर्ण प्रसार ही प्रेमचन्द की सिद्धि है।

: २० :

रंगभूमि : महाकाव्यात्मक उपन्यास

डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त

अन्य क्षेत्रों के समान साहित्य में भी कुछ ऐसी महान विभूतियाँ होती हैं, जो अपने देश-काल की सीमाओं को पार कर, एक देश या युग की न रहकर, युग-युग की हो जाती हैं। कुछ ऐसे भी कलाकार होते हैं जो अपनी मर्मस्पर्शिनी प्रतिभा के बल पर, अपनी गहरी और व्यापक दृष्टि द्वारा युग की गतिविधि को, युग-धर्म को अपनी कृति में समेट लेते हैं तथा अपने देश, समाज एवं वर्ग को उत्थान की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा देते हैं। प्रेमचन्द ऐसे ही अमर कलाकार थे। इस युग-प्रतिनिधि कलाकार ने अपनी महान् रचनाओं द्वारा अपने युग को साकार कर दिया है; उनमें अपने देश-काल को, युग-जीवन को प्रतिबिम्बित कर दिया है।

सामाजिक व्यवस्था और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन, समाज और उसकी समस्याओ के प्रति लेखक की दृष्टि, उसका वक्तव्य, उसके कथा स्थापन की पद्धति को भी प्रभावित करता है; साहित्य में अभिव्यक्ति के नये रूपों को जन्म देता है। नवीन जीवन की अभिव्यक्ति के लिए नये रूप-शिल्पों की सृष्टि अनिवार्य है; क्योंकि परम्परागत रचना-विधान को लेखक अपने विचारों के वहन करने में असमर्थ पाता है। वह अनुभव करता है कि उसे कुछ ऐसा कहना है, जो पुराने रूप-विधान में अट नहीं सकता, अत: वह अपनी बात को, अपने कथ्य को अधिकाधिक संप्रेषणीय और प्रभावशाली बनाने के लिए नये रूप-विधान की सृष्टि करता है जो परम्परा-विरोधी होने के कारण परम्परावादियों की आलोचना का विषय तो होता है, पर धीरे-धीरे जब प्रतिक्रियावादी की धूल बैठने लगती है, और उसका रूप स्पष्ट होने लगता है, और निर्मल हो उठता है, तो उसका सही मूल्यांकन होने लगता है। आधुनिक युग में, जो प्राय: गद्य का युग कहा जाता है और जब महाकाव्य कम लिखे जाते हैं, महाकाव्य का स्थान उपन्यास ने ले लिया है। वह आज सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सर्वग्राही विधा हो गया है। क्योंकि उसके द्वारा लेखक अपने

युग-जीवन — परिस्थितियों से संघर्ष-रत मानव-जीवन को, उसकी सबलताओं, दुर्बलताओं, परम्परा, जातीयता, सामाजिकता, संस्कृति, सुख-दुःख, उत्थान-पतन, आदि— को, उसकी उपलब्धियों और अभावों को अत्याधिक साम्मर्थ्य एवं सफलता के साथ चित्रित कर सकता है। इसीलिए राल्फ फाक्स ने कहा है, "उपन्यास न केवल गद्यात्मक कथा-साहित्य है; वह मानव-जीवन की प्रथम गद्य-कला है, जो सम्पूर्ण मनुष्य को ग्राह्य बनाने का प्रयत्न करता है और उसकी अभिव्यक्ति करता है।'[1]

यद्यपि 'जॉसफ एन्ड्रूज' नामक अपने उपन्यास को फील्डिंग ने महाकाव्यात्मक उपन्यास कहा था Comic epic poem in prose" तथा टामस हार्डी ने भी उपन्यास में महाकाव्य के लक्षण होने का संकेत दिया था, "Good fiction may be defined here as that kind of imaginative writing which lives nearest to the epic, dramatic and narrative masterpieces of the past" तथापि साहित्य-जगत् में 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' पद का प्रचलन टालस्टाय के 'वार एन्ड पीस' की रचना के बाद हुआ। इसमें व्यक्ति का संघर्ष समाज के विरुद्ध तक ही सीमित नहीं है, वरन् देशकाल निर्पेक्ष होकर संपूर्ण युग के मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों, भावनाओं और उत्थान-पतन का वैविध्यपूर्ण चित्रण किया गया है। जिस प्रकार महाकाव्य युग की संपूर्णता को चित्रित कर समाज को एक प्रकार की प्रेरणा देता है, उसी प्रकार 'वार एन्ड पीस' युग की संपूर्णता को प्रतिबिम्बित करता हुआ प्रेरणा प्रदान करता है।

प्रायः प्रश्न उठाया गया है कि क्या उपन्यास महाकाव्यात्मक (Epic in prose) हो सकता है ? डॉ० रणवीररांग्रा ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास' में अपना मत प्रकट किया है कि उपन्यास महाकाव्यात्मक नहीं हो सकता। उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं।

(१) उपन्यास रमणीयार्थ प्रतिपादक नहीं हो सकता जबकि आचार्य विश्वनाथ की उक्ति 'रमणीयार्थप्रतिपादकं शब्दं काव्यं' के अनुसार यदि उपन्यास को महाकाव्य होना है, तो उसमें रमणीयार्थ होना चाहिए ।

(२) अंग्रेजी शब्दकोशकार वैब्सटर के अनुसार महाकाव्य में वीरों का शौर्य और पराक्रम होता है, जबकि आज के उपन्यासों में इनका नितान्त अभाव है।

(३) महाकाव्य आदर्शोन्मुखी होता है जबकि उपन्यास यथार्थ की अधार भूमि पर टिका होता है।

(४) महाकाव्य के अन्त में नायक को फल प्राप्ति होती है, उपन्यास में यह आवश्यक नहीं कि अन्त सुनिश्चित हो ही और नायक किसी फल को प्राप्त करे।

---

१. राल्फ फाक्सः दि नावेल एन्ड दी पीपल, पृ० ६२

(५) महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होता है, उपन्यास का नायक खल पात्र, कुंठाओं से ग्रस्त, अत्यन्त दुर्बल, चंचल और असंतुलित भी हो सकता है।

(६) महाकाव्य में सनातन मानव-प्रकृति, शाश्वत एवं सार्वभौम प्रश्नों को उठाया जाता है, जबकि उपन्यास में समसामयिक जीवन और उसकी समस्याओं का लेखा-जोखा होता है, उसका कथानक और वर्ण्य-विषय देशकाल की परिधि में घिरा रहता है।

(७) महाकाव्य के पात्र वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, उपन्यास के पात्र व्यक्ति-चरित्र होते हैं।

वस्तुतः आचार्य विश्वनाथ और वैब्सटर की कसौटी आधुनिक महाकाव्यों के सन्दर्भ में भी अपूर्ण और भ्रामक है। अतः उनके आधार पर उपन्यास की परीक्षा करना उचित नहीं। आज रमणीयार्थ का अर्थ वह नहीं है जो विश्वनाथ के युग में था। आज बुद्धि-रस की भी चर्चा होती है। फिर मानव-हृदय का भाव संघर्ष, अन्त-र्द्वन्द्व, किसी विशिष्ट मनःस्थिति का भावोद्घाटन भी पाठक के चित्त को उतना ही तन्मय कर सकता है जितना काव्य का कोई मार्मिक स्थल। जिस शौर्य और पराक्रम की चर्चा वैब्सटर ने की है, वह परम्परागत महाकाव्यों—इलियट, औडेसी आदि के विषय में सत्य हो सकते हैं, आधुनिक महाकाव्यों के विषय में नहीं। और फिर शौर्य और पराक्रम का बाहुबल, शारीरिक पराक्रम, धैर्य, कष्टसहिष्णुता से ही सम्बन्ध क्यों जोड़ा जाय ? आत्मा का बल, नैतिक साहस, मानसिक शक्ति, अहिंसा में निहित कष्ट सहिष्णुता, त्याग आदि को भी तो शौर्य और पराक्रम के अन्तर्गत लिया जा सकता है। ऐसा करने पर आधुनिक उपन्यास में शौर्य और पराक्रम से युक्त पात्रों और कृत्यों की कमी न मिलेगी।

आज के उपन्यास उतने ही यथार्थवादी हैं जितनी कविता। आदर्शवादिता भी दोनों में बराबर पाई जाती है। नायक के धीरोदात्त होने का प्रश्न भी व्यर्थ है। आज न तो महाकाव्य में और न उपन्यास में ही ऐसे पात्रों की सृष्टि आवश्यक समझी जाती है। उपन्यासकार समसामयिक जीवन-चित्रण के साथ-साथ सनातन मानव-प्रकृति का चित्र भी उतारता है, विशिष्ट युग एवं देश के चित्र के माध्यम से समग्र मानवता का चित्र प्रस्तुत करता है। उसके पात्र एक देश-काल से आबद्ध होते हुए भी अपनी मूल वृत्तियों, सनातन प्रकृति के कारण सार्वकालिक और सार्वभौतिक होते हैं। अतः डा० रांग्रा के द्वारा प्रस्तुत तर्क न तो संगत ही हैं और न उनके आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास में महाकाव्यात्मक होने की क्षमता नहीं होती। डा० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'अनुसंधान और आलोचना' में महाकाव्य की देशकाल निरपेक्ष जो परिभाषा प्रस्तुत की है, वह वस्तुतः सर्वग्राह्य होनी चाहिये और यदि हम

उसके आधार पर आधुनिक उपन्यास की परीक्षा करें, तो टालस्टाय का वार एण्ड पीस' जेम्स जॉयस का 'यूलिसस' तथा अज्ञेय का 'शेखर: एक जीवनी' निश्चय ही 'Epic in prose' कहलाएँगे । इन पात्रों में विराटता है, (बाहर की न सही मन की अतल गहराइयों की) उनके कथानक अनियंत्रित और विस्तारपूर्ण हैं (कुछ में क्षेत्र ब्रह्मांड न होकर पिण्ड हो सकता है), उनकी शैली उदात्त है, उनका लक्ष्य महान् है ! अतः उपन्यास में महाकाव्यात्मक होने की सम्भावनाएँ हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

अस्तु, महाकाव्यात्मक उपन्यास में नियंत्रित एवं सुनिश्चित कथावस्तु के स्थान पर अनियंत्रित कथावस्तु होती है, उसका चित्रफलक विशाल होता है, उसमें सुसम्बद्धता नहीं होती, वह प्रभावान्विति पर बल नहीं देता अतः उसमें पाठक को प्रभावान्विति की ओर उन्मुख करने एवं एकाग्र बनाने की सामर्थ्य नहीं होती है । उसके पात्रों की संख्या भी स्वल्प न होकर अधिक होती है, चरित्रांकन में सीमाबद्धता नहीं होती । इस प्रकार कथावस्तु एवं चरित्रांकन दोनों अनियंत्रित होते हैं । इस प्रकार उपन्यास लेखक की दृष्टि प्रधानतः अपने महदुद्देश्य की पूर्ति में लगी रहती है, कथावस्तु और पात्र उसके साधन होते हैं ।

इन्हीं तीन आधारों—अनियंत्रित कथावस्तु वैविध्यपूर्ण चरित्रांकन और महान् लक्ष्य --की कसौटी पर हम 'रंगभूमि' का मूल्यांकन करेंगे ।

अनियंत्रित कथावस्तु : 'रंगभूमि' प्रेमचन्द का सबसे वृहदाकार उपन्यास है । उपन्यास का मुख्य मंच काशी के पास पांडेपुर की एक छोटी सी बस्ती है पर उसके दृश्य बनारस, उदयपुर रियासत और भीलों की एक बस्ती में भी घटित होते हैं

'रंगभूमि' में भाग लेनेवाले कई परिवार और वर्ग हैं । इसमें पाँच गृहस्थियाँ प्रस्तुत की गई हैं—

(१) कुंवर भरतसिंह और रानी जाह्नवी की ।
(२) राजा महेन्द्रकुमार और इन्दु की ।
(३) मिस्टर और मिसेज जॉन सेवक की ।
(४) ताहिरअली और कुलसुम की ।
(५) भैरों और सुभागी की ।

इनके अतिक्ति सूरदास और मिठुआ, विनय और सोफी (भीलों की बस्ती में), जगधर और उसके परिवार की भी झाँकी प्रस्तुत की गई है और इन सब परि-वारों की अलग-अलग विशेषताएँ हैं । इनके द्वारा जीवन की विविध समस्याओं, चरित्र के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है ।

यद्यपि उपन्यास की प्रमुख समस्या ग्रामीण संस्कृति और खेती बनाम औद्योगीकरण है, तथापि लेखक ने अन्य प्रश्नों—सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पर भी प्रर्याप्त प्रकाश डाला है । उसने ब्रिटिश प्रशासित प्रदेशों में स्वायत्त शासन और

विधान सभाओं की नपुंसकता एवं असहाय स्थिति, पुलिस और न्यायालयों की धांधलेबाजी तथा उत्कोच, अधिकारी वर्ग की निरंकुशता, भ्रष्टाचार और अन्याय आदि के चित्र प्रस्तुत किये हैं। पांडेपुर के मकानों के सम्बन्ध में तखमीने का अफसर रिश्वत लेकर मुआवजे के मामले में पूरी धाँधली करता है। पटवारी ही नहीं नायकराम पंडा तक इस रिश्वत में शामिल हैं। गाँववालों से मकान खाली कराते समय माहिरअली और उसके सिपाहियों ने मारपीट करते हुए जो लूटमार मचाई, वह शासन की क्रूरता एवं अव्यवस्था की परिचायक है। पुलिस सुपरिण्टेन्डेन्ट ब्राउन और क्लार्क निरीह जनता पर अनेक बार गोलियाँ चलाते हैं। क्लार्क की गोली से ही सूरदास की मृत्यु होती है। देशी रियासतों में पोलिटिकल एजेन्ट के अधिकारों, राजाओं की कापुरुषता और भीरुता, प्रजा पर होने वाले अत्याचारों,जेलों में बन्दियों की दुरवस्था का वर्णन भी इसमें मिलता है। वीरपालसिंह के माध्यम से यदि क्रान्तिकारी विचारधारा का परिचय दिया गया है, तो सूरदास का जीवन-दर्शन, विचारधारा और कर्मपथ गांधीवादी विचारधारा से परिचित कराते हैं। उदयपुर का राजा निकम्मा है अधिकारी मनमानी करते हैं और विचार-स्वातंत्र्य के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं। जो लोग जनता में जाग्रति उत्पन्न करने जाते हैं, उन्हें जेल में ठूँस दिया जाता है। वीरपालसिंह शासन के विरुद्ध क्रान्ति का झण्डा ऊँचा करता है, राज्य के दुष्ट कर्मचारियों को तंग करता है, रियासत का कोष लूटता है और पुलिस के आदमियों की हत्या करता है। उसकी नीति आतंकवादी है। डा० गांगुली सुधारवादी हैं वह समझते हैं कि कौंसिल में जाकर वे देश और जनता का हित कर सकते हैं। इंदु से वह कहते हैं, 'हमको कोई कह दे कि मरकर तुम फिर इसी देश में आएगा और फिर कौंसिल में जा सकेगा, तो हम यमराज से बोलेगा—बाबा, जल्दी कर।' लेकिन अन्त में लेखक ने उनकी इस आस्था को डिगाता हुआ दिखाकर यह बताया है कि इस मार्ग से स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी, देश की अवस्था नहीं सुधरेगी। समाजसेवा का व्रत लेने वालों के प्रतिनिधि हैं—रानी जाह्नवी, विनय और उसका सेवक-दल। इस प्रकार 'रंगभूमि' में क्रांतिकारी, सुधाबादी, समाजसेवी एवं साम्यवादी विचारों के अनुयायियों और उन के मतों का दिग्दर्शन कराकर लेखक ने युग को पूरी तरह प्रतिबिम्बित करने का प्रयास किया है। साम्यवाद की चर्चा कुंवर भरतसिंह के मुख से कराई गई है, उनकी इस विचारपद्धति के प्रति मौखिक सहानुभूति मात्र है, क्योंकि वह स्वयं धन से अन्त तक चिपके रहते हैं और अपनी रियासत को बचाने के लिए उसे कोर्ट ऑफ वार्डस के सुपुर्द कर देते हैं। राजा महेन्द्रकुमार भी एक स्थान पर अपने को जनवादी कहते हैं, पर वह केवल एक राजनीतिक चाल प्रतीत होती है, क्योंकि कर्म से वह अधिकारी वर्ग के संकेत पर नाचनेवाले और प्रजा के साथ निष्ठुरतापूर्वक आचरण करनेवाले अन्य उच्चवर्गीय भारतीयों की ही तरह हैं। जब सूरदास उनका विरोध करता है, तो वह स्पष्ट

कहते हैं कि यदि साम्यवाद का यही अर्थ है, तो ईश्वर हमें इससे बचाये। मि० क्लार्क सोफिया पर "बोलशेविकों की एजेन्ट होने का आरोप लगाते हैं और जिन शब्दों में यह आरोप लगाया गया है, उनसे इसके प्रति उनकी कोई अच्छी धारणा प्रकट नहीं होती। दीवान नीलकंठराव साम्यवाद के प्रचारकों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। मि० जानसेवक को सारा संसार जनवाद के आतंक से पीड़ित दिखाई देता है। ये सभी लोग, जिनके मुख से साम्यवाद की भर्त्सना कराई गई है पूँजीपति साम्राज्यवादी और सामन्तवादी हैं, अतः उनके विचारों से प्रेमचन्द की साम्यवाद के प्रति धारणा का सही-सही पता लगाना कठिन है, तथापि यह निश्चित है कि 'रंगभूमि' के रचनाकाल तक वह साम्यवाद से परिचित हो चुके थे और उन्होंने उसका संकेत इस उपन्यास में दिया है।

औद्योगीकरण के अभिशाप और दुष्परिणामों का विस्तृत उल्लेख उन्होंने पांडेपुर में फैक्टरी खुल जाने के बाद की स्थिति का चित्र देकर किया है, तो ग्रामीण अंधविश्वासों, छोटे-मोटे झगड़ों और स्वार्थपरता का यथार्थ चित्र वहाँ के जीवन की झाँकी देकर प्रस्तुत किया गया है। समाज में नारी की असहाय स्थिति का चित्र (सुभागी के द्वारा) दाम्पत्य जीवन की कटुता पर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश, सम्मिलित परिवार की समस्या (ताहिरअली के चित्रण द्वारा), भील जीवन की झाँकी आदि द्वारा लेखक ने जीवन को सम्पूर्ण आयामों और समग्र परिवेश में चित्रित करने का सफल प्रयास किया है।

इसमें उच्च, मध्य और निम्न तीनों वर्गों का, ईसाई, मुसलमान और हिन्दू सभी धर्मों के अनुयायियों का चित्र प्रस्तुत कर उपन्यास को विस्तृत चित्रफलक प्रदान किया गया है।

यद्यपि उपर्युक्त सभी कथा-खण्डों में सम्बन्ध-सूत्र तो हैं, लेकिन वे ऐसे नहीं जान पड़ते कि कथावस्तु की स्वाभाविक गति में अपने-आप जुड़ते जा रहे हों, लगता है जैसे लेखक जबर्दस्ती उन्हें जोड़ने का प्रयत्न कर रहा है। उदयपुर रियासत तथा पांडेपुर की कथा को जोड़ने वाली कड़ी—विनय—बड़ी कमजोर है। विनय-सोफी की प्रणय-गाथा शेष कथा से कटी-छटी लगती है। भीलों की बस्ती का प्रसंग बिलकुल ही विच्छिन्न है। ताहिरअली की कथा को अनुपात से अधिक विस्तार दे दिया गया है। इन सब कथा-सूत्रों को बाँधनेवाली कोई सुगठित कड़ी नहीं है, अतः वे बिखरे-बिखरे लगते हैं।

स्पष्ट है कि सबल सम्बन्ध-सूत्रों के अभाव में, कथावस्तु में अनियंत्रित फैलाव और शथिल्य के कारण इसका कथानक सुगठित नहीं हो पाया है। इसका प्रधान कारण यही है कि लेखक का लक्ष्य सुडौल, सुगठित कथानक देना न होकर समाज का विस्तृत चित्र प्रस्तुत करना था। उसकी दृष्टि कथावस्तु के गठन पर उतनी नहीं

रही जितनी समाज के सम्पूर्ण चित्रण पर रही है। समाज की समग्रता ही इन सम्बन्ध सूत्रों की सीमा है और सम्बन्ध-सूत्रों का शैथिल्य ही इस उपन्यास की विशेषता। यद्यपि 'रंगभूमि' का वस्तु-विकास उतना अनियंत्रित नहीं है जितना टाल्स्टाय के 'War and Peace' का, जिसकी कथावस्तु समय और स्थान की सीमाओं में अबद्ध नहीं है, (जिसका कार्य-व्यापार लगभग २० वर्षों की अवधि लिये है तथा वह मास्को, पीटर्सवर्ग एवं ब्लैकहिल्स तक फैला हुआ नहीं है, अनेक स्टेटों तक की यात्रा करता है; उसमें ५०० के लगभग पात्र हैं।) तथापि उसे महाकाव्यात्मक उपन्यास कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं।

वैविध्यपूर्ण चरित्रांकन—महाकाव्यात्मक उपन्यास में पात्रों की संख्या अत्यन्त विशाल होती है, उसके अनेक पात्र जीवंत होते हैं, जिनके द्वारा लेखक समाज की वैविध्यपूर्ण विशेषताओं का उद्घाटन करता है। जैसा कि हम अन्यत्र कह चुके हैं, इसमें पाँच परिवारों का चित्रण किया गया है जिससे समाज के विविध प्रकार के मानवों के स्वभाव और जीवन का परिचय मिलता है। 'War and Peace' में ग्रामीण जीवन के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा ही है, पर प्रेमचन्द ने नागरिक और ग्रामीण, अभिजात्य, मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग, क्रांतिकारी और सुधारक, देश और समाज के लिए उत्सर्ग करने वाले तथा देशभक्ति और समाज-सेवा की आड़ में अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले दंभी, हिन्दू, मुसलमान और ईसाई देशी रियासतों के शासक और अंग्रेज अधिकारी, सहिष्णु और असहिष्णु, उदार-मना तथा कट्टर सभी प्रकार के पात्रों का समावेश कर भारतीय समाज को उसके विविध रूपों में प्रस्तुत किया है। एक ओर हमें सूरदास के रूप में भारतीय संस्कृति का मूर्तिमान रूप, आत्मिक-शक्ति का प्रतीक, दुर्बल शरीर में आत्मा की भास्वर दीप्ति छिपाए, सिद्धान्तों पर मिटने वाले अद्भूत् होते हुए भी सामान्य व्यक्ति के दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर जाह्नवी के रूप में आदर्श वीर क्षत्राणी के, जो अपने कर्त्तव्य की वेदी पर एकमात्र पुत्र का बलिदान कर देती है, जिसके जीवन का स्वप्न ही अपने पुत्र को शिवाजी या महाराणा प्रताप के प्रतिरूप में देखना है। राजा महेन्द्रकुमार अभिजात्य वर्ग के उन व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मन से जनसेवी होते हुए भी अधिकार-लिप्सा, पदलोलुपता, मान और यश के लिए अपने सिद्धान्तों और आत्मा का दम घोटते रहते हैं। कुंवर भरतसिंह को मार-मार कर हकीम (देशभक्त एवं समाजसेवी) बनाया तो जाता है, पर उनसे रियासत का मोह नहीं छूटता। डा० गाँगुली उस युग के उन उदारमना, सुधारवादी राज-नीतिज्ञों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनकी प्रारम्भ में ब्रिटिश-नीति में आस्था थी, जिनका विश्वास था कि शनैः शनैः ब्रिटिश-शासन भारतीयों को उनके अधिकार दे देगा, अतः वैधानिक मार्ग का अवलम्बन ही उचित मार्ग है, पर जिनकी यह

आस्था धीरे-धीरे डगमगाई और जो निराशावादी हो गए। जानसेवक उद्योग-पतियों और व्यावसायिक मनोवृत्तिवाले व्यक्तियों के गुण-दोषों से समन्वित एक यथार्थवादी पात्र हैं और मिसेज सेवक उन ईसाई-महिलाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं जो धार्मिक विचारों में अनुदार ही नहीं, कट्टर हैं, जिसकी जीवनाकांक्षा है यूरोपीय समाज का अभिन्न अंग हो जाना और अपने आपको यूरोपीय कहलाना। ईश्वर सेवक द्वारा लेखक ने ईसाई परिवार के एक वृद्ध का चित्र अंकित किया है जिसकी अटूट धार्मिक श्रद्धा और सनक उसके तकियाकलाम 'ईसू, मुझे अपने दामन में छुपा' से प्रकट होती है। सोफी और प्रभुसेवक धार्मिक उदारता, मानवता और अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृ-भाव के प्रतिनिधि पात्र हैं, जिनसे आज का धार्मिकता की विषैली-वायु में साँस लेनेवाला व्यक्ति बहुत-कुछ सीख कर अपनी आत्मा को परिष्कृत और उदात्त बना सकता है।

ग्रामीण-जीवन की झाँकी देने के लिए 'रंगभूमिकार' ने अनेक पात्रों—दया-गिरि, जगधर, नायकराम पंडा, ठाकुरदीन भैरों एवं उसकी मा, बजरंगी, जमुना, सुभागी, ताहिरअली, उसकी पत्नी कुलसुम और विमाताओं—जैनब एवं रकिया बेगम—की सृष्टि की है। उनके द्वारा उनके पारस्परिक संघर्ष, ईर्ष्या-द्वेष के भाव, स्वार्थपरता, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, सम्मिलित परिवार की दुरवस्था आदि के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार 'रंगभूमि' में भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि पात्र विद्यमान हैं। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि समाज के सम्पूर्ण चरित्रांकन की विविधता के दिग्दर्शन के उद्देश्य से प्रेरित होकर भी लेखक कुछ पात्रों—सूरदास, सोफी, नायकराम पंडा, इन्दु आदि की व्यक्तिगत विशेषताओं का उद्घाटन करने में अत्यंत सफल और समर्थ हो सका है।

इसमें संक्षिप्तता को त्यागकर विस्तार की ओर प्रवृत्ति है। यदि किसी परिवार को लिया गया है तो उसके एक-एक पात्र की कथा बड़े मनोयोग से कही गई है। लेखक ने इसमें छोटे-से-छोटे पात्र की विशेषता का ध्यान रखा है। अपनी पात्रता के अनुसार लेखक ने उन सबके साथ न्याय किया है। सारांश यह है कि इस उपन्यास में इतनी संख्या में और इतनी विभिन्न प्रवृत्तियों से युक्त पात्रों की सृष्टि की गई है कि वह साधारण स्तर के उपन्यासों से भिन्न हो गया है।

महान लक्ष्य : महाकाव्यात्मक उपन्यास का लक्ष्य देश के सम्पूर्ण समाज का समग्र चित्र प्रस्तुत करना होता है। वह राष्ट्रीय भावना को प्रबुद्ध कर समाज और देश को विकास के पथ पर अग्रसर करता है। वह सम्पूर्ण समाज की गतिविधि पर प्रकाश डालता है। इस दृष्टि से 'रंगभूमि' को देखने पर हम उसके सम्बन्ध में वही बात कह सकते हैं जो स्ट्राकोव ने 'War and Peace' के विषय में कही थी।

'War and Peace' मानव-जीवन का सम्पूर्ण चित्र है, उस समय के रूप का समग्र चित्र है और वह ऐसा सम्पूर्ण चित्र है, जिसमें लोग अपने सुख-दुख और उत्थान-पतन देखते हैं।

'रंगभूमि' में भी लेखक ने अपने युग के भारत का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। अपने अन्य उपन्यासों की तरह इसमें उन्होंने किसी एक समस्या का, समाज के किसी एक विशेष अंग का, चित्रण नहीं किया है, वरन् समाज की विविध समस्याओं और उसके सम्पूर्ण अगों का चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने यथार्थवादी दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक गतिविधि और परिस्थितियों का चित्रण कर बदलती हुई मान्यताओं की ओर संकेत किया है। इतना ही नहीं, उसने एक नया जीवन-दर्शन प्रस्तुत कर उसे सामयिकता से ऊपर उठाकर सार्वभौम और चिरन्तन बनाने का भी सफल प्रयास किया है। उनका जीवन-दर्शन युग-युगों तक अमर सन्देश देता रहेगा। जैसा कि उपन्यास के नाम से ही प्रकट है, लेखक इस संसार को विशाल रंगभूमि मानता है, जिस पर जीवन का विराट् नाटक खेला जाता है। इस नाटक का सूत्रधार ईश्वर है और सांसारिक प्राणी उसके अभिनेता। अतः इस नाटक में हार-जीत, यश-अपयश, लाभ-हानि की चिंता किये बिना हमें अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए। सोफी का उदात्त प्रेम, सूरदास की मानवता, ताहिर-अली का त्याग, रानी जाह्नवी का आदर्श और अपूर्व बलिदान सभी मिलकर इसे अभूतपूर्व गरिमा प्रदान करते हैं। भौतिक-शक्ति पर आत्मिकशक्ति की विजय हमें नव-स्फूर्ति प्रदान करती है, हम में नया साहस जगाती है।

सारांश यह है कि 'रंगभूमि' अपने युग का दर्पण होने के साथ ही नवयुग की स्थापना की प्रेरणा भी देता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'रंगभूमि' का कथानक, चरित्रांकन और लक्ष्य उसे महाकाव्यात्मक उपन्यास की गरिमा प्रदान करते हैं।

●

: २१ :

'रंगभूमि' में गांधीवाद

श्री रामदीन गुप्ता

'रंगभूमि' का रचनाकाल भारत के राजनीतिक रंगमंच पर गांधीवाद के चरमोत्कर्ष का युग है। यह सन् २० तथा सन् ३० के बीच की कृति है जबकि गांधी जी का प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित किया जा चुका था और दूसरे बड़े सविनय अवज्ञा आन्दोलन की तैयारियाँ हो रही थीं। रंगभूमिकार प्रेमचन्द की मानसिक पृष्ठभूमि गांधी जी के इसी सत्याग्रह आन्दोलन की विचारधारा से ओत-प्रोत है।

'रंगूभूमि' की मुख्य समस्या औद्योगिक सभ्यता बनाम कृषि सभ्यता है। उपन्यास में जान सेवक औद्योगिक सभ्यता (पूंजीवाद) का और अंधा सूरदास कृषि सभ्यता (सामन्तवाद) का प्रतिनिधि है। जैसा कि हम देख चुके हैं, अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को शुद्ध कृषि-प्रधान देश बनाये रखने का पूरा प्रयत्न किया, लेकिन ऐतिहासिक ताकतों और आवश्कताओं के सामने उन्हें झुकना पड़ा। अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए विदेशी पूँजीवाद को देशी पूँजी से समझौता करना पड़ा। फलस्वरूप देशी पूंजी ने अकेले और विदेशी पूंजी के साझे में अनेक नई मिलें, फैक्टरियाँ और कारखाने स्थापित किए। भारत के औद्योगीकरण का इतिहास सन् १९१४ के प्रथम महायुद्ध से प्रारम्भ होता है। 'रंगभूमि' के रचनाकाल तक हालाँकि देश ने औद्योगीकरण की दिशा में काफी प्रगति कर ली थी, किन्तु अभी वह सामन्त-वाद पर पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सका था। 'रंगभूमि' सामन्तवाद और पूँजी-वाद, कृषि सभ्यता और औद्योगिक सभ्यता के इसी संघर्ष की गाथा है।

गांधी जी औद्योगिक सभ्यता की इस बढ़ती से अत्यधिक चिन्तित तथा आशंकित थे। वे औद्योगीकरण का विरोध इसलिए करते थे क्योंकि उनके मतानुसार इससे आर्थिक शोषण, नैतिक अधःपतन तथा सामाजिक दुर्गुणों और व्यसनों का प्रसार होता है। वे मानते थे कि आधुनिक अर्थशास्त्र का एकमात्र आधार भौतिक

उन्नति है। धर्म-नीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। वह पशुबल का पूजक और आत्मशक्ति का विरोधी है। इस अर्थशास्त्र का अनुगमन करने के कारण ही हमारे जीवन के दो अभिन्न अंगों में......नगर और देहात, उद्योग एवं कृषि...... परस्पर विरोध का आविर्भाव हो गया है।[1] उद्योगवाद के इस अन्ध प्रवाह में हमारे गाँव उजड़कर दिन-ब-दिन अधिकाधिक गरीब...आर्थिक ही नहीं सामाजिक, नैतिक और धार्मिक दृष्टि से भी ग़रीब..होते जा रहे हैं। गांधी जी कहा करते थे कि हमें अपने गाँवों को इस चौमुखी विनाश से बचाना है। वे मानते थे कि आज हमारे जीवन में जो कृत्रिमता, अधार्मिकता तथा अनैतिकता बढ़ रही है, सामूहिक और केन्द्रीकृत उत्पादन ही उसका मुख्य कारण है। यह निश्चित है कि जब तक हम जीवन के प्राचीन आदर्श 'सादा जीवन उच्च विचार' की ओर प्रत्यावर्त्तन नहीं करते तब तक इसी भाँति शान्ति की खोज में भटकते रहेंगे। इसीलिए गांधी जी जीवन के प्रत्येक विभाग में सादगी अर्थात् विकेन्द्रीकरण पर बल देते थे।

प्रेमचन्द भी नगरों की इस बढ़ती और ग्रामीण सभ्यता पर नागरिक सभ्यता (जिसे वे महाजनी सभ्यता कहा करते थे) के इस आक्रमण से अत्यन्त चिंतित थे। आधुनिक नगरों के कर्म-संकुल जीवन से दूर गाँवों के सरल एवं निश्छल जीवन के प्रति उनके हृदय में एक अपूर्व ललक विद्यमान थी। यही कारण है कि अपने जीवन का अधिकांश भाग शहरों में बिताकर भी मन से वे सदा देहातों में और देहातियों के बीच में रहे। मृत्यु के कुछ मास पूर्व उन्होंने उपेन्द्रनाथ अश्क को लिखा था: "भाई, मनुष्य का वस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे।"[2] प्रेमचन्द ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों काश्तकारों के बीच में रहकर उनकी सेवा में बिताने का निश्चय भी कर लिया था,[3] किन्तु उनकी यह आकांक्षा पूर्ण होने से पहले ही मृत्यु के शीतल अंक में समा गई। उनके समूचे साहित्य में ग्रामीण जीवन के प्रति एक सहज आकर्षण और लगाव की भावना मिलती है। 'रंगभूमि' में उन्होंने अपने एक पात्र जगफर के द्वारा कहलवाया है :—

"भैया, तुम्हारी मरजी है, तो सहर ही में चले जाओ, मैं बजरंग से लड़ाई थोड़े ही करता हूँ। पर दिहात दिहात ही है, सहर सहर ही! सहर में पानी तक तो अच्छा नहीं मिलता। वही बंबे का पानी पियो, धरम जाय, और कुछ सवाद भी न मिले।"[4]

---

१. गांधी-विचार-दोहन, पृ० ८७-८८
२. प्रेमचन्द स्मृति, पृ० २६
३. प्रेमचन्द : घर में, पृ० १७२
४. रंगभूमि, भाग, २, पृ० ३६६ (गंगा पुस्तकमाला, संस्करण सन् १९५५)

"'रंगभूमि' का संम्पूर्ण ढाँचा शहर के व्यवसायी जान सेवक द्वारा अपने सिगरेट के कारखाने के लिए पाँडेपुर में सूरदास की जमीन हथियाने के सफल प्रयत्नों और इस अन्याय के प्रतिकार में गाँव के अन्धे सूरदास के असफल सत्याग्रह के आधार पर निर्मित किया गया है। सूरदास के इस संघर्ष में उसका कोई साथी नहीं है, कोई सहायक नहीं है। जो उसके संगी थे और जिनके लिए वह इस संघर्ष में प्रवृत हुआ था, वे भी उसके प्रतिपक्षी हो जाते हैं। लेकिन सूरदास एक आदर्श सत्याग्राही है। वह धर्म के लिए, न्याय के लिए और सत्य के लिए अकेला ही लड़ता है। वह मानता है कि सत्य को, न्याय को किसी सहायक की आवश्यकता नहीं है,[1] क्योंकि गीताकार के शब्दों में "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"[2]

सूरदास गांधीवाद के इसी विश्वास से अनुप्राणित है। वह जिसे सत्य समझता है उसके लिए अपने प्राण भी देने को तैयार रहता है। सत्य के इस महानुष्ठान में उसे लोक-निन्दा या बदनामी का भी भय नहीं है। उसका विश्वास है कि "बदनामी के डर से जो आदमी धरम से मुँह फेर ले, वह आदमी नहीं है।"[3] वह मानता है कि यदि अपने धर्म के पालन में कलंक भी लगता है, तो भले ही लगे।[4] अपने इसी विश्वास के कारण सूरदास गाँव वालों के आक्षेपों और लाँछनों को सहकर भी निराश्रित सुभागी को अपनी झोंपड़ी में आश्रय देता है।

अंधे सूरदास का यह धर्मयुद्ध एक ओर जहाँ जान सेवक, राजा महेन्द्रकुमार तथा उनकी सहायक शक्तियों से है, वहाँ दूसरी ओर सुभागी के लिए अपने ही गाँव वालों से......विशेषतः भैरों से......है। सूरदास के धर्मयुद्ध अथवा सत्याग्रह के इन दो पक्षों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है। उसकी सत्यनिष्ठा ही वस्तुतः दोनों का मूल स्रोत है।

पहले हम आधुनिक औद्योगिक सभ्यता अथवा महाजनी सभ्यता के प्रतिनिधि जान सेवक तथा प्राचीन सामन्तवाद और नवीन पूंजीवाद के सम्मिलन से उत्पन्न वर्ग के प्रतिनिधि राजा महेन्द्रकुमार के साथ उसके संघर्ष को लें। सूरदास जानता है कि वह किसी भी कीमत पर अपनी जमीन की रक्षा नहीं कर सकता। वह इस सम्बन्ध में पूर्णतः निर्भ्रान्त है। इसीलिए संघर्ष के आरम्भ में ही वह गाँव वालों से कहता है : "मेरे देने पर थोड़े ही है भाई, मैं दूँ, तो भी जमीन निकल जायगी, न दूँ, तो

---

१. "जिधर न्याय है, उधर किसी की मदद की इतनी जरूरत भी नहीं है।"
—रंगभूमि भाग १, पृ० २३६

२. गीता अध्याय २, श्लोक १६

३. रंगभूमि, भाग १, पृ० १६०

४. रंगभूमि, भाग १, पृ० १६१

भी निकल जायगी।''[1] अतः स्पष्ट है कि सूरदास सामन्तवाद पर पूंजीवादी की अंतिम विजय के ऐतिहासिक अनिवार्यता से अपरिचित नहीं था। किन्तु फिर भी वह अपनी शक्ति भर जमीन नहीं देता, क्योंकि वह मानता है कि कारखाने का खुलना गाँव वालों पर विपत्ति का आना है। कारखाना खुल जाने पर गाँव वाले शहर के पूंजीपत्तियों के आश्रित हो जाएँगे, उसकी स्वाधीनता नष्ट हो जाएगी और उनमें नीति-धर्म का लेश भी बाकी नहीं रह जाएगा।[2] उसके विरोधी साम, दाम, दंड और भेद······सभी नीतियों से उस पर विजय पाने की कोशिश करते हैं, लेकिन वह अपने विश्वास पर अडिग रहता है। 'दाम' का उसे लोभ नहीं है, 'दंड' का उसे भय नहीं है। अतः राजा महेन्द्रकुमार उसके नाम से धर्मशाला, कुआँ और मन्दिर बनवाने का प्रलोभन देते हैं, किन्तु सूरा जानता है कि कारखाने की बाढ़ में मन्दिर, कुआँ और धर्मशाला···सब कुछ बह जाएगा। धर्मशाला तम्बाकू का गोदाम, मन्दिर मजदूरों का शयनागार और कुआँ गाँव की बहू-बेटियो पर आवाजें कसने का अड्डा बन जाएगा।[3] वह स्वीकार करता है कि कारखाना खुलने से बस्ती की रौनक जरूर बढ़ जाएगी और रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा। किन्तु इसके साथ ही मादक पदार्थों का प्रचार भी तो बढ़ेगा, जुए और व्यभिचार के अड्डे भी तो खुलेंगे, गाँव की बहू-बेटियों की इज्जत पर हमले भी तो होंगे, मजदूरी के लालच में गाँव वाले वहाँ आकर बुरी आदतें भी तो सीखेंगे।[4]

सूरदास की इस सत्यनिष्ठा और आत्मबल के लिए यह कहना शायद उचित नहीं होगा कि वह वस्तुस्थिति से आँखें बन्द करके अपने आप में डूबकर लड़ता रहता है।[5] इसमें संदेह नहीं कि 'रंगभूमि' का सूरदास जिस व्यवस्था की रक्षा के लिए लड़ता है, सामाजिक और ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से उसकी रक्षा न तो सम्भव ही है और न इसे अपने आप में डूबकर लड़ना कहा जा सकता।[6] 'रंगभूमि के सूरदास का महत्त्व इस बात में नहीं है कि वह किस व्यवस्था की रक्षा के हेतु

---

१. रंगभूमि, भाग १, पृ० ३५
२. रंगभूमि, भाग १, पृ० ३४
३. रंगभूमि, भाग १, पृ० १२८
४. रंगभूमि, भाग १, पृ० १२९
५. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, 'हंसराज 'रहबर', पृ० २४१ (दिल्ली, १९५१)
६. "सूरदास उत्तर प्रदेश के गरीब किसानों का प्रतिनिधि है। जब वह अपनी जमीन के लिए लड़ता है, तब वह सभी किसानों का प्रतिनिधित्व करता है। रूस और चीन की क्रान्तियों में भी किसान भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के लिए लड़े थे। इससे उन क्रान्तियों का जनवादी महत्त्व कम नहीं होता।"

लेखक के नाम डॉ० रामविलास शर्मा के पत्र दि० १२-७-५६ से उद्धृत

संघर्ष करता है। उसका महत्त्व इस बात में है कि वह अन्याय को चुपचाप न सहकर उसका सक्रिय विरोध करता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, सूरदास इस तथ्य से भली-भाँति परिचित है कि महाजनी सभ्यता को रोकने की शक्ति और सामर्थ्य उसमें नहीं है, किन्तु फिर भी वह अपनी शक्ति भर उसका मुकाबला करता है। यह उसकी दुर्बलता का नहीं, वरन् शक्ति का परिचायक है। अन्याय के विरोध में सूरदास सरीखा जीवट वाला और संघर्षशील चरित्र शायद समूचे हिन्दी कथा-साहित्य में दूसरा नहीं मिलेगा। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब सूरा यह जानता है कि जिस चीज के लिए वह संघर्ष कर रहा है वह प्राप्त होने वाली नहीं तो फिर व्यर्थ में यह संघर्ष करता ही क्यों है? उत्तर स्पष्ट है। प्रश्न सफलता और असफलता का नहीं, बल्कि अन्याय के प्रतिकार का है। सूरदास मानता है कि सफलता मिले या न मिले, अन्याय का प्रतिकार किया ही जाना चाहिए।[1] एक बात और, सूरदास का संघर्ष केवल ध्वंसात्मक या संहारात्मक ही नहीं है, उसमें नए निर्माण की एक अदम्य कामना और चेतना भी अन्तर्निहित है। मिठुआ के साथ उसका निम्नोक्त वार्त्तालाप आलोचकों द्वारा बार-बार उद्धृत किए जाने के बावजूद आज भी नए निर्माण का नया संदेश देने में समर्थ है :—

"मिठुआ ने पूछा—दादा, अब हम रहेंगे कहाँ?

सूरदास—दूसरा घर बनाएँगे।

मिठुआ—और जो कोई फिर आग लगा दे?

सूरदास—तो हम भी फिर बनाएँगे।

मिठुआ—और ....फिर लगा दे?

सूरदास—तो हम भी फिर बनाएँगे।

मिठुआ—और कोई हजार बार लगा दे?

सूरदास तो हम हजार बार बनाएँगे।"[2]

सिगरेट के कारखाने के विरुद्ध सूरदास का विरोध नैतिक और धार्मिक ही नहीं, आर्थिक और सामाजिक कारणों से भी है। बड़े-बड़े कारखाने, फैक्टरियाँ और मिलें केन्द्रीकृत जीवन के प्रतीक हैं। और, गांधी की भाँति प्रेमचन्द भी केन्द्रीकरण

---

१. "सूरदास...... ... मेरा धरम तो यही है कि जब कोई मेरी चीज पर हाथ बढ़ाए तो उसका हाथ पकड़ लूँ। वह लड़े, तो लड़ूँ, और उस चीज के लिए प्रान तक दे दूँ। चीज मेरे हाथ आएगी इसका मुझे मतलब नहीं, मेरा काम तो लड़ना है, और वह भी धरम की लड़ाई लड़ना।"

—रंगभूमि, भाग १. पृ० ३६०

२. रंगभूमि, भाग २, पृ० २०३-२०४

के समर्थक नहीं थे। प्रेमचन्द ने यद्यपि अपने साहित्य में सामन्तवाद के ह्रास और पूंजीवाद के उदय को एक महान् यथार्थवादी लेखक की वैज्ञानिकता से चित्रित किया है, किन्तु फिर भी (यह कहने की आवश्यकता नहीं कि) नवीन औद्योगिक सभ्यता के मुकाबले प्राचीन कृषि सभ्यता की कतिपय विशेषताओं के प्रति उनके हृदय में गहरी प्रशंसा और आकर्षण विद्यमान था। प्रेमचन्द के साहित्य का यह द्वन्द्व उसके आलोचकों को अक्सर भ्रम में डाल देता है। प्रेमचन्द मानते थे कि नवीन पूंजीवाद की अपेक्षा प्राचीन सामन्तवाद अधिक मानवीय समाज-व्यवस्था है। वह इतनी क्रूर, हृदयहीन, अन्यायपूर्ण और दया-धर्म के विचार से रहित नहीं है। उसमें जमींदार और किसान के मध्य एक प्रकार का पारिवारिक सम्बन्ध-सूत्र रहता है, लेकिन पूँजीवाद में मालिक और मजदूर के बीच शुद्ध व्यवसाय के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। प्रेमचन्द वस्तुतः सामन्तवाद को पुनरुज्जीवित करना नहीं चाहते थे। उनकी प्रगतिशीलता इस बात में है कि व्यक्तिगत रूप से पूंजीवादी सभ्यता के विकास के पृष्ठपोषक न होते हुए भी प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में उसकी विजय दिखाई है। 'रंगभूमि' के अन्त में हम देखते हैं कि पांडेपुर पूर्णतः नष्ट हो गया है और जान सेवक का कारखाना दिन-व-दिन बढ़ता जा रहा है। अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को एक ओर रखकर इस प्रकार रंगभूमिकार सामाजिक यथार्थ तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रति न्याय करने में सफल हो सकता है। अपने समस्त आदर्शवाद के बावजूद रंगभूमिकार का यह यथार्थवाद उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

सूरदास गांधी जी का ही प्रतिरूप है, कहना चाहिए उनका लघु साहित्यिक संस्करण है। वह गांधी जी के विचारों और उनके अहिंसात्मक सत्याग्रह का सजीव प्रतिनिधि है। श्री हंसराज 'रहबर' का मत है कि सूरे को अन्धा दिखाकर उपन्यासकार ने जाने या अनजाने गांधीवाद पर व्यंग्य किया है।[1] सूरदास के चरित्र की आदर्शवादजन्य समस्त खामियों को स्वीकार करते हुए भी श्री 'रहबर' की इस कल्पना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। सूरे को अन्धा दिखाकर प्रेमचन्द ने भौतिक अर्थात् शारीरिक दृष्टि से उसकी पंगुता और निरीहता ही व्यक्त की है, गांधीवाद पर किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यंग्य नहीं। गांधीवाद शरीरबल अथवा पशुबल पर आत्मबल की प्रतिष्ठा करता है। प्रेमचन्द के समस्त कथा-साहित्य में सूरा पशुबल पर आत्मबल की विजय कीं सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। शारीरिक दृष्टि से अपंग होते हुए भी अपने आत्मबल के सहारे वह साम्राज्यवाद, सामन्तवाद तथा पूंजीवाद की सम्मिलित ताकतों से अकेला ही लोहा लेता है और उनके दाँत खट्टे कर देता है। निस्सन्देह सूरदास के समस्त संघर्ष का अन्त उसकी असंदिग्ध पराजय में होता है (सामाजिक विकास के नियमानुसार जो बिल्कुल स्वाभाविक और आवश्यक है), किन्तु

१. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, पृ० २४१

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भौतिक दृष्टि से पराजित होकर भी नैतिक दृष्टि से वह अपराजित रहता है। सूरदास की नैतिक विजय अपनी झोंपड़ी और जमीन बचा लेने में नहीं, बल्कि अपने प्रतिपक्षियों पर भी अपनी सत्यप्रियता और न्यायप्रियता की अमिट छाप छोड़ जाने में है। स्वयं प्रेमचन्द यह स्पष्ट कर देते हैं कि सूरे को वे नैतिक दृष्टि से विजयी क्यों मानते हैं ? उनके अनुसार उसकी सबसे बड़ी विजय यह थी कि शत्रुओं को भी उससे शत्रुता न थी। उसकी अन्त्येष्टि क्रिया में सोफिया, गाँगुली, जान्हवी, भरतसिंह, नायकराम, भैरों आदि मित्र पक्ष के व्यक्ति ही नहीं, अपितु जान सेवक, महेन्द्रकुमारसिंह, जगधर, मि० क्लार्क आदि शत्रु पक्ष के व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं।[1] पाँडेपुर में सूरदास की प्रतिमा स्थापित किए जाने के अवसर पर हुए प्रीति-भोज में छूत और अछूत एक ही पंगत में बैठकर खाते हैं। प्रेमचन्द के अनुसार यह उसकी दूसरी बड़ी नैतिक विजय थी।[2]

सत्याग्राही की योग्यताओं पर विचार करते हुए २६ मार्च, १९३९ के हरि-जन-बन्धु' में गांधी जी ने उनके लिए कम-से-कम सात योग्यताएँ आवश्यक मानी थीं। उनमें सर्वप्रमुख है : "उसे ईश्वर पर ज्वलंत विश्वास होना चाहिए, क्योंकि वही एक मात्र अटूट आधार है।"[3] गांधी जी मानते थे कि ईश्वर में जीवित विश्वास के बिना सत्याग्रह के सफल प्रयोग की क्षमता का अर्जन नहीं किया जा सकता। आदर्श सत्या-ग्राही पूर्णतः अहिंसक होता है। वह प्रत्येक अवस्था में पूर्ण अहिंसा—जिसका अर्थ है किसी भी प्रकार के भय, क्रोध या प्रतिशोध के बिना प्राण देने की क्षमता—का पालन करता है। किन्तु गांधी जी सत्याग्राही के लिए ईश्वर का कोई निश्चित या पूर्व-निर्धारित स्वरूप प्रस्तुत नहीं करते। वे केवल ईश्वर की आस्था पर बल देते थे, उसके सम्बन्ध में किसी विशिष्ट कल्पना पर नहीं।

'रंगभूमि' का सूरदास भी इसी निष्ठा के साथ ईश्वर पर आस्था रखता है। वह मानता है कि यदि कोई कार्य न्यायपूर्ण है तो उसके करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं करनी चाहिए। सत्याग्रही को केवल भगवान का ही भरोसा करना चाहिए, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं।[4] सूरदास का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने पूर्वजन्म के भले-बुरे कर्मों के अनुसार ही इस जन्म में सुख-दुःख भोगना पड़ता है।[5] किन्तु सूरदास यह भूल जाता है कि पूर्व-जन्म और कर्म-फल की प्रति-

---

१. रंगभूमि, भाग २, पृ० ४०७
२. रंगभूमि, भाग २, पृ० ४२८
३. गाँधी-विचार-दोहन, पृ० ७३
४. रंगभूमि, भाग १, पृ० २३५
५. "सूरदास—भगवान अन्यायी नहीं है, मेरे पूर्व-जन्म की कमाई ही ऐसी थी। जैसे कर्म किए हैं, वैसे फल भोग रहा हूँ। यह सब भगवान की लीला है।"
—रंगभूमि, भाग १, पृ० १७

क्रियावादी विचारधारा में विश्वास करने वाले व्यक्ति के लिए अन्याय तथा अत्याचार का प्रतिकार किए जाने की बातें बिल्कुल व्यर्थ, अनावश्यक और अर्थहीन हो जाती हैं। जब हम अपने पूर्व-जन्म के पापों के कारण ही इस जन्म में दुःख-दर्द झेल रहे हैं तो फिर उनके विरुद्ध संघर्ष करने का सवाल ही नहीं उठता ? कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की विचारधारा पर चलकर शोषण, अन्याय और अत्याचार को समाप्त नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि यह विचारधारा सदा से मालिक श्रेणी की प्रिय विचारधारा रही है और इसने सदा शोषितवर्ग की सामाजिक चेतना कुंठित करने का प्रयास किया है। सूरदास के चरित्र के इस प्रतिक्रियावादी तत्त्व को आँखों से ओझल करके 'रंगभूमि' और उसके रचयिता की मानोभूमि की तह तक नहीं पहुँचा जा सकता।

एक सच्चे सत्याग्रही की भाँति सूरदास अपने विरोधी का पूरी शक्ति से विरोध करते हुए भी उसका बुरा नहीं चाहता। उसका जीवन-दर्शन एक खिलाड़ी का दर्शन है, जो हार कर अपने प्रतिपक्षी पर क्रोध नहीं करता और जीतकर उसका उपहास नहीं करता।[1] सोफिया द्वारा उकसाए जाने पर भी सूरदास अपने सिद्धान्त-पथ से विचलित नहीं होता। वह स्पष्ट शब्दों में कह देता है कि उसके हृदय में अपने विरोधी राजा महेन्द्रकुमारसिंह के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं है।[2] सूरदास का यह विश्वास गांधी जी के उस मत पर आधृत है जिसके अनुसार "यदि विरोधी उसे बीस बार धोखा देता है, तो भी सत्याग्रही इक्कीसवें बार उसका विश्वास करने को तैयार रहता है, क्योंकि मनुष्य-स्वभाव में श्रद्धा उसके सिद्धान्त का सार है।[3] सूरा स्वयं तो इस विश्वास से अनुप्राणित है ही, साथ ही वह यह मानने को भी तैयार नहीं है कि उसका प्रतिपक्षी उसके प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना या द्वेष से प्रेरित है। भैरों के प्रति सूरदास का व्यवहार उसके इसी विश्वास का द्योतक है।[4] सत्याग्रही को निरन्तर भलाई पर भलाई करते देख कर विरोधी स्तंभित रह जाता

१. "सूरदास—नहीं मिस साहब, यह खिलाड़ियों की नीति नहीं है। खिलाड़ी जीतकर हारने वाले खिलाड़ी की हँसी नहीं उड़ाता। × × × × खेल खतम होते ही दोनों मित्र बन जाते हैं, उनमें कोई कपट नहीं रहता।"
—रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ ३५६

२. रंगभूमि, भाग १, पृष्ठ ३५६

३. सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृष्ठ १३६ पर उद्धृत

४. "सूरदास—भैरों, हमारी तुम्हारी दुश्मनी कैसी ? मैं तो किसी को अपना दुश्मन नहीं देखता।.........तुमने मेरे साथ कोई बुराई नहीं की। तुम्हारी जगह में होता, और समझता कि तुम मेरी घरवाली को बहकाए लिए जाते हो, तो

है। भैरों की सूरदास की आंतरिक निर्बलता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अन्त में वह अपने अपराधों को स्वीकार कर लेता है।[1] और ताड़ी-शराब के धंधे को छोड़ देता है। वह अनुभव करने लगता है कि वह व्यवसाय ही वास्तव में खराब है, क्योंकि इसमें दिन-रात बुरे आदमियों का साथ रहता है और उसके साथ रहकर अप्रत्यक्ष रूप से उनका आचरण हमें भी प्रभावित करता है।[2] इस प्रकार एक दीन-हीन अन्धे प्राणी के सद्प्रयासों से भैरों का पुनर्जन्म होता है।

इसी भाँति अपने सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी जान सेवक के प्रति भी सूरदास अपने मन में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं पालता।[3] विरोधी के प्रति भी सूरदास अपने कर्त्तव्य का पालन कितनी नैतिकता से करता है, इसका परिचय उस समय मिलता है जब वह जान सेवक को मिठुआ द्वारा पुतलीघर में आग लगाने की बात से सावधान करता है।[4] इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मिठुआ सूरे को प्राणाधिक प्रिय था और वह उसे पुत्रवत् मानता था। फिर भी, जान सेवक को मिठुआ की दुराकांक्षा से सचेत कर देना वह अपना धर्म समझता है।

सूरदास एक आदर्श सत्याग्रही की भाँति अहिंसा का अनन्य उपासक है। उसकी जमीन के प्रश्न को लेकर नगर में एक विशाल आन्दोलन उठ खड़ा होता है, जो स्वभावतः ज्यादा दिनों तक अहिंसक नहीं रह पाता। एक दिन कई सौ लठैतों ने जान सेवक के गोदाम को घेर लिया और सीमेंट, चूना इत्यादि के ढेर को बिखेरने लगे। अपनी सहानुभूति में होने पर भी सूरदास लोगों के इस हिंसापूर्ण कृत्य को सहन नहीं कर पाता। गांधीवाद की भाषा में वह उनसे कहता है : "तुम लोग यह ऊधम मचाकर मुझे क्यों कलंक लगा रहे हो ? आग लगाने से मेरे दिल की आग न बुझेगी, लहू बहाने से मेरा चित्त शांत न होगा। आप लोगों की दुआ से यह आग

मैं भी यही करता, जो तुमने किया।"

× × ×

"सूरदास—तुमने मेरे साथ कौन-सी दुश्मनी की ! तुमने वही किया जो तुम्हारा धरम था।" —रंगभूमि, भाग २, पृ० १५५

१. रंगभूमि, भाग २, पृ० १५६-५७

२. रंगभूमि, भाग २, पृ० १५७-५८

३. सूरदास—मेरा तो आपने कोई अहित नहीं किया, मुझसे और आपसे दुश्मनी ही कौन सी थी। हम और आप आमने-सामने की पालियों में खेले। आपने भरसक जोर लगाया, मैंने भी भरसक जोर लगाया। जिसको जीतना था जीता, जिसको हारना था हारा।" —रंगभूमि, भाग २, पृ० ३६२

४. रंगभूमि, भाग २, पृ० ३६३

और जलन मिटेगी। परमात्मा से कहिए, मेरा दु:ख मिटाए।"[1] किन्तु उस उत्तेजित भीड़ में अन्धे की अहिंसा, धर्म और शांति की बातें सुनने वाला स्वभावतः कोई नहीं था। इस पर सूरे ने वह कार्य किया, जो औलिया ही कर सकते हैं। उसने पत्थर का एक बड़ा-सा टुकड़ा उठाकर कहा: "अगर तुम लोग अब भी मेरी बिनती न सुनोगे, तो इसी दम इस पत्थर से सिर टकराकर जान दे दूँगा। मुझे मर जाना मंजूर है; पर यह अन्धेर नहीं देख सकता।"[2]

दूसरी ओर सूरदास का संघर्ष स्वयं अपने ही गाँव वालों से है। सारे गाँव का कोप-भाजन बनकर भी वह निराश्रिता सुभागी को अपनी झोंपड़ी में आश्रय देता है। उसके चरित्र पर तरह-तरह के लांछन लगाए जाते हैं, फिर भी वह अपने पथ से विचलित नहीं होता। भलाई-बुराई प्रशंसा-निन्दा की परवाह किए बिना वह अपना कर्त्तव्य निभाए चला जाता है। पांडेपुर में कारखाना खुलने से वहाँ वातावरण में अविचार और अनैतिकता के जो संक्रामक कीटाणु फैलते हैं, उनसे मिठुआ, विद्या, घीसू आदि गाँव के लड़के प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। फलतः वे शराब, जूआ व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों में पड़ जाते हैं। बात यहाँ तक बढ़ती है कि एक रात विद्या और घीसू सुभागी पर बलात्कार करने की नीयत से सूरे की झोंपड़ी में घुस आते हैं, किन्तु पकड़ लिए जाते हैं। समस्त गाँव की भाँति सूरे के हृदय में भी स्त्री-जाति के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति की भावना है। स्त्री के सम्मान के प्रश्न पर वह किसी भी प्रकार का समझौता करना नहीं चाहता। बजरंगी, जगधर, और नायकराम की धमकियों को सुनकर सूरदास कहता है: "पंडा जी, तुम भी औरों की-सी कहने लगे। दुनिया में कहीं नियाव है कि नहीं? क्या औरत की आबरू कुछ होती ही नहीं? सुभागी गरीब है, अबला है, मजूरी करके अपना पेट पालती है, इसलिए जो कोई चाहे उसकी आबरू बिगाड़ दे? जो चाहे उसे हरजाई समझ ले?[3]

दूसरे दिन दरोगाजी इस कांड की तहकीकात करने आते हैं, लेकिन एक भी आदमी गवाही देने के लिए तैयार नहीं होता। पर सत्य और न्याय सूरदास के पक्ष में था। सूरदास मुहल्ले वालों को सम्बोधित करके कहता है: "यारो, सच्ची बात कहने से मत डरो। मेल-मुरौवत इसे नहीं कहते कि किसी औरत की आबरू बिगाड़ दी जाय और लोग उस पर परदा डाल दें; किसी के घर में चोरी हो जाय, और लोग छिपा लें। अगर यही हाल रहा, तो समझ लो कि किसी की आबरू न बचेगी।"[4]

---

१. रंगभूमि, भाग १, पृ० ३४२
२. रंगभूमि, भाग १, पृ० ३४२
३. रंगभूमि, भाग २, पृ० २८२
४. रंगभूमि, भाग २, पृ० २८६

सत्य के सम्मुख झूठ का साहस विचलित हो जाता है और एक-एक करके गाँव वाले सच्ची बात स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु यहाँ पर प्रश्न उठता है कि सूरदास द्वारा विद्या और घीसू को पुलिस के हवाले किया जाना क्या पशुबल का आश्रय लेना नहीं है ? गाँधीजी मानते थे कि सत्याग्रह को प्रतिपक्षी के विरुद्ध पुलिस की सहायता नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि यह बल-प्रयोग का साधन है हृदय-परिवर्तन का नहीं।[1] उनके अनुसार वीर मनुष्य चोर को मारता नहीं बल्कि पुलिस को सौंप देता है। उससे अधिक वीर वह होता है जो उसे अपने घर से बाहर मात्र निकाल देता है। सर्वश्रेष्ठ वीर वह है जो चोर के साथ भी अहिंसक व्यवहार करता है।[2] इस कसौटी के अनुसार सूरदास का व्यवहार एक अहिंसक वीर का व्यवहार अवश्य है, किन्तु सर्वश्रेष्ठ वीर का नहीं। गांधीजी की विचारधारानुसार सूरदास को चाहिए था कि वह विद्या और घीसू को केवल अपने झोंपड़े से बाहर निकाल देता —गाँव वालों की धमकियों के भय से नहीं, बल्कि उस विशाल क्षमा के कारण जो प्रत्येक सत्याग्रही के हृदय में अवस्थित होती है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस दुर्घटना के दौरान में सूरे को कहीं भी क्रोध या आवेश नहीं आया। यह सूचित करता है कि अपराधियों के प्रति उसके हृदय में किसी प्रकार की प्रतिहिंसा की भावना नहीं थी। नायकराम स्वीकार करता है कि "घीसू और विद्या की तो बात ही क्या, मिठुआ भी होता, तो सूरे उसे भी नहीं छोड़ता।[3] घीसू को लेकर बजरंगी सूरदास का कट्टर शत्रु हो जाता है, पर कालान्तर में उसे भी सूरे की सच्चाई तथा ईमानदारी का कायल होना पड़ता है और वह अपनी भूल पर पश्चाताप करता है।[4] इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना होगा कि यद्यपि गांधीजी प्रत्येक परिस्थिति में अहिंसा के पालन पर ही बल देते थे, लेकिन स्त्री के सम्मान की रक्षा के लिए वे हिंसा के प्रयोग के भी विरुद्ध नहीं थे।

रंगभूमिकार का गांधी-दर्शन के सिद्धान्तों में कितना विश्वास है, यह 'रंगभूमि'

---

१. देखिए 'सर्वोदय तत्त्व-दर्शन', पृ० १५७

२. देखिए 'सर्वोदय तत्त्व-दर्शन', पृ० १२५

३. रंगभूमि, भाग २, पृ० २८२

४. "बजरंगी —संच कहते हो भैया, आदमी नहीं था, देवता था। ऐसा शेर आदमी नहीं देखा। सचाई के सामने किसी की परवा नहीं की, चाहे कोई अपने घर का लाट ही क्यों न हो। घीसू के पीछे मैं उससे बिगड़ गया था, पर अब जो सोचता हूँ, तो मालूम होता है कि सूरदास ने कोई अन्याय नहीं किया।"
—रंगभूमि, भाग २, पृ० ४००

के दोनों गीतों से स्पष्ट हो जाता है।[१] इन गीतों में सत्याग्रह के मूल सिद्धान्तों एवं विश्वासों की अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। इनका महत्त्व कवित्व की दृष्टि से नहीं, गांधीवादी विचारधारा की दृष्टि से है। इन गीतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द इनके द्वारा स्वाधीनता संग्राम के वीर सेनानियों को गांधी-दर्शन के मूल सिद्धान्तों का बोध करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि यह संग्राम शांति-समर अर्थात् अहिंसक युद्ध है, जिसमें कठिन-से-कठिन और विपरीत-से-विपरीत परिस्थितियों में भी हमें प्रतिपक्षी के प्रति अपने हृदय में द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, प्रतिशोध आदि विभाजक अर्थात् हिंसक-प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। सत्याग्रही को धर्म की अन्तिम विजय में अचल विश्वास होना चाहिए। उसके लिए मृत्यु भय की वस्तु नहीं होती, क्योंकि वह जनता है कि शरीर नश्वर है। वह विजय और पराजय दोनों को समभाव से ग्रहण करता है। उसे विजय की कामना नहीं होती और परा जय की चिंता नहीं। गीता का निम्मोक्त श्लोक उसका मार्ग-दर्शक होता है :—

"सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।"

—गीता २।३८

'रंगभूमि' के सूरदास का इस सिद्धान्त में अबाध विश्वास है। वह मानता है कि खेल को खेल की तरह न खेलना हमारी बहुत बड़ी भूल है। अधर्म और अनीति से यदि जीवन रूपी खेल में विजय प्राप्त कर भी ली तो उसका मूल्य क्या है ?[२] अर्थात् सूरदास मानता है कि हमारा साध्य ही उच्च एवं श्रेष्ठ नहीं, प्रत्युत् साधन

---

१. (क) **"शांति-समर में कभी भूलकर धैर्य नहीं खोना होगा,
बज्र-प्रहार भले सिर पर हो, नहीं किन्तु रोना होगा।
× × ×
होगी निश्चय जीत धर्म की, यही भाव भरना होगा।
मातृ-भूमि के लिए जगत में जीना और मरना होगा।"**

—रंगभूमि, भाग १, पृ० ५४

(ख) **"भई, क्यों रन से मुँह मोड़े ?
× × ×
तू रंगभूमि में आया, दिखलाने अपनी माया,
क्यों धरम-नीति को तोड़े ?
भई, क्यों रन में मुँह मोड़े ?**

—रंगभूमि, भाग १, पृ० ३२४

२. **रंगभूमि, भाग २, १५७**

भी तदनुरूप होने चाहिएँ ।

यहाँ पर इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है कि सूरदास के विचारों में एक अजीब आत्मविरोध मिलता है । एक ओर तो वह औरत की आबरू तक को 'हँसी-खेल' मानने के लिए तैयार नहीं है और उसके पीछे खून की नदी तक बहाने को तैयार है, पर दूसरी ओर वह जीवन की गंभीरतम सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि समस्याओं को भी खेल की उपमा देकर उनका महत्त्व कम करने की कोशिश करता है ।[1] कहना न होगा कि सूरदास का यह आत्मविरोध उसके सृष्टा का ही आत्मविरोध है । अपने मध्यवर्गीय स्वभाव के कारण प्रेमचन्द 'औरत की आबरू' को जीवन की अन्य किसी भी 'आबरू' से कहीं अधिक महत्त्व दे देते हैं । हम यह नहीं कहते कि 'औरत की आबरू' को कोई महत्त्व ही नहीं दिया जाना चाहिए या उसकी रक्षा नहीं की जानी चाहिए, हमारा तात्पर्य केवल इतना है कि जीवन के दूसरे प्रश्नों तथा पक्षों के मुकाबले उसे इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए ।

'रंगभूमि में प्रेमचन्द ने अतंकवाद के विरुद्ध गांधीजी की अहिंसक क्रांति तथा हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त का समर्थन किया है । प्रेमचन्द ने हालांकि आतंकवादी वीरपालसिंह का चरित्र-चित्रण सहानुभूति तूलिका से किया है, किन्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि वे उसके हिंसापूर्ण आराजकतावादी कृत्यों के समर्थक नहीं थे । विनय उपन्यासकार के इसी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि है और वह वीरपालसिंह का विरोध करता है । विनय के अनुसार रक्तपातपूर्ण हत्याकांड तथा लूट-मार से अधिकारियों में प्रजापरायणता का भाव उत्पन्न करने की आशा भ्रमपूर्ण ही नहीं निर्मल भी है। रोग के निवारणार्थ स्वयं रोगी का अन्त कर देना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती । अग्नि को शान्त करने के लिए आग नहीं, पानी चाहिए । हिंसा के विरोध में अत्यन्त प्राचीन काल से हूबहू इसी प्रकार की दलीलें दी जाती रही हैं । स्वभावतः अब उनमें अपेक्षत शक्ति और प्रभाव नहीं रह गया है। और फिर, विनय जैसे अस्थिरचित्त एवं दुर्बल चरित्र के द्वारा कहलवाकर प्रेमचन्द ने अपने तर्क को और भी प्रभावहीन बना दिया है । विनय के मुकाबिले वीरपालसिंह के चरित्र में कहीं अधिक मानवीय गरिमा और शक्ति है।

'रंगभूमि' के प्रणय के लगभग दस वर्ष पश्चात् २६ दिसम्बर १९३४ को लिखे गए डॉ० इन्द्रनाथ मदान के नाम अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने ध्वंसात्मक क्रांति के प्रति अपनी विरक्ति के कारणों को स्पष्ट करते हुए लिखा था : "हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ । अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रांति होती है । मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना । × × × × यदि मुझे यह विश्वास हो जाता और

मैं जान लेता कि ध्वंस से हमें स्वर्ग मिलेगा तो मैंने ध्वंस की भी चिन्ता न की होती।''[1] उक्त अवतरण से स्पष्ट हो जाता है कि मध्यवर्गीय प्रेमचन्द की क्रांति के सही स्वरूप तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में गंभीर ग़लतफ़हमी थी। अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण वे आतंकवादी तोड़-फोड़ और ध्वंस को ही क्रांति समझ लेते हैं। आतंकवाद साधारणतः तोड़-फोड़ और ध्वंस ही करता है, भावी समाज-व्यवस्था के निर्माण का कोई निश्चित रचनात्मक कार्यक्रम उसके पास नहीं होता। प्रेमचन्द यह भूल जाते हैं कि क्रांति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू निर्माण है, मात्र ध्वंस नहीं। क्रांति का ध्येय एक ऐसी नवीन समाज-व्यवस्था का निर्माण करना है जिसमें उत्पादन और विनियम के साधनों पर किसी श्रेणी-विशेष का नहीं बल्कि पूरे समाज का अधिकार हो, ताकि समाज में कोई भी व्यक्ति भूखा, नंगा, बेघर और अशिक्षित न रह सके। स्पष्ट है कि ऐसी क्रांति को मात्र विध्वंस के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि जिसे प्रेमचन्द 'स्वर्ग' कहते हैं, वह ध्वंस से नहीं निर्माण से ही मिल सकता है। किन्तु ऐसी शोषणमुक्त समाज-व्यवस्था के निर्माण के लिए वर्तमान शोषणप्रधान समाज-व्यवस्था का ध्वंस आवश्यक है।

प्रेमचन्द के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज की भावी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक रूपरेखा के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण पर गांधीजी की विचारधारा का निर्णायक प्रभाव पड़ता है। महात्मा गांधी का विश्वास था कि वर्तमान दोषपूर्ण तथा असमान धन-वितरण का प्रश्न हिंसक साधनों द्वारा सम्पत्तिवालों की सम्पत्ति छीनने से हल नहीं हो सकता। इस समस्या का अन्तिम समाधान उसी समय होगा जब धनवान स्वयं निचले वर्गों के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझकर साग्रह अपने अधिकारों को त्याग देंगे। यह आदर्श एवं स्पृहणीय समाज-व्यवस्था क्रांति द्वारा नहीं, हृदय-परिवर्तन के आध्यात्मिक साधन द्वारा ही लाई जा सकती है।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्थिक समता को प्राप्त करने के लिए गांधीजी जो अहिंसक कार्यक्रम सुझाते हैं वह अपर्याप्त ही नहीं, इतिहास और सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से अव्यवहार्य भी है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, प्रश्न व्यक्तियों के हृदय-परिवर्तन का नहीं, उस व्यवस्था के परिवर्तन का है जिसने एक विशिष्ट वर्ग को शोषण के अधिकार और साधन प्रदान किए हुए हैं।

'रंगभूमि' पर गांधीवाद के प्रभाव का अध्ययन उपन्यास के नायक विनय के

---

१. देखिए 'प्रेमचन्द के पात्र' पृ० ११२

२. "धन-बाहुल्य को दूर करने के लिए वह यथासंभव कानूनद्वारा सम्पत्ति जब्त करना या स्वामित्व का अधिकार छीनना नहीं चाहते थे।"

—सर्वोदय तत्त्व-दर्शन, पृ० २०७

चरित्र का विश्लेषण किए बिना अपूर्ण ही रहता है। विनय प्रेमचन्द के उपन्यासों में कोई नया चरित्र नहीं है। थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ उसे 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' के प्रेमशंकर, चक्रधर और अमरकान्त में देखा जा सकता है।

विनय प्रकृत्या एक दुर्बल एवं अस्थिरचित उच्चवर्गीय युवक है, जो राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के देशव्यापी आन्दोलनमय वातावरण से प्रभावित होकर अपने संकुचित नीड़ को त्यागकर जन-प्रांगण में आता है, किन्तु अपने वर्गगत संस्कारों और दुर्बलताओं के कारण जनवाद और सामन्तवाद के मध्य इतस्ततः भटकता रहता है। विनय को सच्चा देश-सेवक बनाने के लिए रानी जाह्नवी ने अपनी समझ में सभी उपाय किए, पर राजमहलों में पले विनय में कभी भी देश-सेवक की कठोरता, स्थिरता और अपने ध्येय के प्रति एकाग्रता तथा ईमानदारी नहीं आ सकी। सच तो यह है कि विनय में देश-सेवक होने की क्षमता है ही नहीं। वायु के प्रबल वेग के अधीनस्थ तिनके के समान वह आद्योपांत ईसाई लड़की सोफिया के प्रेम और देश-प्रेम के बीच में उड़ता फिरता है। स्वभावतः अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह एक बहुत ही दयनीय चरित्र रह जाता है।

जसवन्तनगर में सोफिया का अपहरण होने के पूर्व तक विनय एक सच्चे सेवाव्रतधारी देशानुरागी के रूप में हमारे सामने आता है। उसके प्रयत्नों से कुछ ही मास के अल्प समय में जसवंतनगर की काया-पलट हो जाती है। उसकी त्यागमयी सेवा के कारण देहात के बच्चे-बच्चे को उससे प्रेम हो जाता है।[1] इस समय विनय में आत्मबलिदान के लिए अपेक्षित नैतिक साहस भी प्रभूत मात्रा में है। डाकिए को बचाने के लिए वह स्वयं मृत्यु का आलिंगन करने को तैयार हो जाता है। सूरदास की भाषा में वह वीरपालसिंह और उसके साथियों से कहता है : "जब तक मेरी हड्डियाँ तुम्हारे घोड़ों के पैरों तले न रौंदी जायेंगी, मैं सामने से न हटूँगा। ··· मेरा जो धर्म है, वह मैं करता हूँ; तुम्हारा जो धर्म हो, वह तुम करो। गरदन झुकाए हुए हूँ।"[2] विजय के सद्प्रयत्नों से जसवन्तनगर में होनेवाली

---

१. "जसवंतनगर के प्रांत में एक बच्चा भी नहीं है, जो उन्हें न पहचानता हो। देहात के लोग उनके इतने भक्त हो गए हैं कि ज्योंही वह किसी गाँव में जा पहुँचते हैं, सारा गाँव उनके दर्शनों के लिए एकत्र हो जाता है। उन्होंने उन्हें अपनी मदद आप करना सिखाया है। × × × ×
सफाई की ओर भी लोग ध्यान देने लगे हैं, दरवाजों पर कूड़े-करकट के ढेर नहीं जमा किए जाते। ···सामूहिक जीवन का फिर पुनरुद्धार होने लगा है।"
—रंगभूमि, भाग १, पृ० २९३

२. रंगभूमि, भाग १, पृ० २९७

जिस काया-पलट या अहिंसक क्रांति का उल्लेख प्रेमचन्द ने यहाँ किया है, वह सर्वथा अस्वाभाविक, कृत्रिम और बलपूर्वक लादी हुई प्रतीत होती है, क्योंकि विनय के इन प्रयत्नों का कोई स्पष्ट रूप पाठकों के सामने नहीं आ पाया है। पाठकों को यह नहीं बताया गया कि जसवंतनगर की काया-पलट कब और कैसे हुई, विनय ने उसमें क्या भाग लिया ? विनय के चरित्र में कहीं भी कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो उसकी इस सेवापरायणता, आत्मबलिदान की भावना और संगठन की क्षमता का औचित्य सिद्ध कर सके।

रियासत के अधिकारी विनय पर वीरपालसिंह का साथी होने का झूठा अभियोग लगाकर बिना मुकदमा चलाए जेल में डाल देते हैं। वीरपाल अपने कारण विनय के साथ हुए इस अन्याय के प्रतिकार-हेतु उसे जेल से निकालने का प्रयास करता है; किन्तु गांधीवादी विनय तथाकथित अधर्मियों की सहायता से इस प्रकार जेल से भागना अस्वीकार कर देता है।[1] धर्म और न्याय की दुहाई देने वाला यही विनय आगे चलकर नायकराम की प्रेरणा और सहायता से जेल से भागना स्वीकार कर लेता है।[2] नायकराम के साथ जेल से भागने के बाद से विनय अपने असली रूप में हमारे सामने आता ह। यहाँ से उसके चरित्र में अपकर्ष आरम्भ होता है और इस अपकर्ष का चरमान्त लोक-प्रवादों को न सह पाने के कारण पांडेपुर में उसके द्वारा आत्महत्या में होता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह मन्तव्य कि ऐसा करके उपन्यासकार ने उसके साथ अन्याय किया है,[3] तर्क-संगत नहीं है, क्योंकि इस पतन के बीज उसमें पहले से ही विद्यमान थे। विनय के प्रति आलोचक वाजपेयी की यह सहानुभूति अनावश्यक ही नहीं, अनौचित्यपूर्ण भी है। विनय जैसे दुर्बल एवं अस्थिरचित्त पात्र से इससे अधिक की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। संभवतः यह उसके जीवन का सर्वाधिक स्वाभाविक अन्त था। वह किसी 'काज' के लिए अथवा अपने जीवनोद्देश्य की सच्चाई और ईमानदारी सिद्ध

---

१. रंगभूमि, भाग १, पृ० ३०६

२. रंगभूमि, भाग २, पृ० ५४-५५

३. "विनय का प्राणान्त अद्भुत परिस्थितियों में होता है। वह अपने विरोध में उठी हुई लोक-वाँछना को सहन नहीं कर पाता और आत्म-हत्या द्वारा अपने जीवनोद्देश्य की सच्चाई और ईमानदारी सिद्ध करता है। वास्तव में उसका यह कार्य उसके महत्त्व के अनुरूप नहीं है। कदाचित् यह उसके चरित्र की सबसे दुर्बल रेखा है। प्रेमचन्दजी ने इस रेखा द्वारा उसके चरित्र के साथ अन्याय किया है।"

—प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० ८१

करने के लिए नहीं, बल्कि यह दिखाने के लिए मरता है कि रईसों के बेटे क्योंकर प्राण देते हैं। जाहिर है कि प्रेमचन्द ने उसकी इस आत्महत्या को आत्मबलिदान और शाहदत की गरिमा प्रदान करने का जो प्रयत्न किया है वह सर्वथा अनुचित है। विनय के सम्बन्ध में आचार्य वाजपेयी की धारणा मूलतः गलत है, क्योंकि जनता का सेवक वह कभी नहीं रहा। सोफिया के लापता हो जाने पर वह जिस तत्परता और निरंकुशता से अधिकारियों के साथ मिलकर रियासत को तथाकथित विद्रोहियों से 'पाक' करता है। उसे केवल आवेशजनित और आकस्मिक ही नहीं कहा जा सकता। उसके पिता कुंवर भरतसिंह प्रभुसेवक से कहते हैं कि अगर विनय को सोफी से प्रेम न भी होता तो भी वह इस अवसर पर यही करता, क्योंकि जनता का यह विद्रोह उसके साम्यवाद के सिद्धान्तों को हिला देने के लिए पर्याप्त था।[1] सोफिया भी इसी तथ्य को प्रकट करती है, किन्तु जरा और अधिक स्पष्टता के साथ वह कहती है : "बिलकुल झूठ है, कलंक है, यह सब मेरी खातिर नहीं, अपनी खातिर था। इसका उद्देश्य केवल उस नीच निरंकुशता को तृप्त करना था, जो तुम्हारे अन्तःकरण में सेवा का रूप धारण किए हुए बैठी है।"[2] विनय उन देशसेवकों में से है जो प्रजा को सदा इसी भाँति सहनशील और शांतिप्रिय देखना चाहते हैं। उसे यह बिल्कुल भी पसन्द नहीं है कि जनता युगों पुरानी तंद्रा से जागकर विद्रोह के पथ पर चले। वह मानता है कि वर्तमान दशा में प्रजा का यही धर्म है कि उस पर चाहे कितने ही अत्याचार किए जाएँ, पर वह मुंह न खोले।[3] देशी रियासतों के सम्बन्ध में भी उसका दृष्टिकोण सामन्तवादी, अतः प्रतिक्रियावादी है। और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वह स्वयं भी तो एक बड़े जागीरदार का बेटा है। वीरपालसिंह द्वारा रियासत के अधिकारियों के अत्याचारों की गाथा सुनकर वह कहता है। "अगर तुम्हारी बातें अक्षरशः सत्य हों, तो भी मैं कोई ऐसा काम न करूँगा, जिससे रियासत की बदनामी हो।[4] "वह रियासत के महाराजा साहब को किसी संकट में डालना नहीं चाहता, क्योंकि वे राणा साँगा और प्रताप के वंशज हैं। वह महाराजा को अपना रक्षक, हितैषी और क्षत्रिय-कुल-तिलक समझता है।[5] विनय दावा तो करता है सत्य और अहिंसा का, पर है वास्तव

---

१. रंगभूमि, भाग २, पृ० १७५

२. रंगभूमि, भाग २, पृ० ८६

३. रंगभूमि, भाग २, पृ० ७१

४. रंगभूमि, भाग १, पृ० ३१०

५. रंगभूमि, भाग १, पृ० ३११

में पिस्तौलबाज । अतः विनय के प्रति आलोचकों की सहानुभूति सर्वथा अप्रासंगिक है । विनय अपने युग के सेवा-समिति मार्का गांधीवादी नेतृत्व का एक बहुत बड़ा व्यंग्य-चित्र है ।

इसे हम रंगभूमिकार की प्रगतिशीलता और सामाजिक यथार्थ के प्रति उसकी ईमानदारी कहेंगे कि सूरदास जैसे सशक्त गांधीवादी चरित्र की सृष्टि करके ही वह संतोष नहीं कर लेता, विनय के रूप में गांधीवादी नेतृत्व का दूसरा पहलू भी हमें दिखलाता है । प्रेमचन्द का यह प्रगतिशील दृष्टिकोण ही उन्हें गांधीवाद को सम्पूर्णतः अपनाने से रोकता रहा है, किन्तु 'रंगभूमि' उस समय की रचना है जबकि उन पर गांधीजी का प्रभाव अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था । यही कारण है कि 'रंगभूमि' उनके समस्त औपन्यासिक कृतित्व में गांधी-दर्शन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली अभिव्यक्ति है ।

: २२ :

निर्मला : एक समीक्षा

डॉ० उर्मिला कुमारी गुप्ता

'निर्मला' प्रेमचन्द का प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास है जिसकी रचना सन् १९२३ के लगभग हुई थी। दहेज प्रथा और अनमेल विवाह की सामाजिक समस्याओं की आधारभूमि पर निर्मित यह उपन्यास प्रेमचन्द का ऐसा प्रथम उपन्यास है जिसमें उनकी सुधारवादी प्रवृत्ति ने समस्या के समाधानस्वरूप किसी आश्रम की स्थापना न कराकर अथवा आदर्श का आश्रय न लेकर समस्याविशेष का उसके यथार्थ रूप में दिग्दर्शन कराया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस उपन्यास का नामकरण प्रेमचन्द ने अपने अन्य उपन्यासों की भाँति किसी घटना के आधार पर न करके नायिका के नाम पर क्यों किया ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि उपन्यास में दो ही समस्याएँ प्रमुख हैं—दहेज प्रथा और अनमेल विवाह ; और इन दोनों का ही सम्बन्ध उपन्यास के किसी अन्य पात्र या घटना से न होकर नायिका निर्मला से है। 'गबन' उपन्यास में गबन एक घटना है जो कि आभूषण-लालसा का चरम रूप है। इस आभूषणप्रियता का सम्बन्ध भी अनेक पात्रों से है। परन्तु 'निर्मला' उपन्यास में तो उक्त दोनों समस्याओं से मात्र निर्मला का जीवन प्रभावित होता है। इस उपन्यास की कोई भी घटना ऐसी नहीं है जो निर्मला से पृथक् करके चित्रित की जा सके।

कथावस्तु

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक समाज के एक मध्यवर्गीय परिवार से सम्बन्धित है। इसमें निर्मला की कथा आधिकारिक कथा के रूप में आई है। उपन्यास का आरम्भ ही उसकी चरित्रगत विशेषताओं के आख्यान और विवाह की चिन्ता से होता है। इसके पश्चात् भी निर्मला के विवाह और उसके वैवाहिक जीवन-क्रम के आख्यान से सम्पूर्ण उपन्यास भरा हुआ है। निर्मला की मुख्य कथा के अतिरिक्त सुधा और भुवनमोहन सिन्हा तथा कृष्णा की कथाएँ प्रासंगिक कथाओं के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। इन दोनों गौण कथाओं का मुख्य कथा के साथ गहरा सम्बन्ध है।

भुवनमोहन सिन्हा वही व्यक्ति थे जिनसे निर्मला का पहले विवाह होना निश्चित हुआ था; और कृष्णा तो निर्मला की बहन ही थी। इन दोनों कथाओं ने मुख्य कथा के विकास को प्रभावशाली बनाने में पर्याप्त सहयोग दिया है। निर्मला को अपने अनमेल विवाह से विशेष दुःख तब होता है जब वह सुधा के दाम्पत्य जीवन और अपनी छोटी बहिन के पति को देखती है। उसकी कथा इसी कारण अधिक मार्मिक बन सकी है।

'निर्मला' की मुख्य कथा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—निर्मला के विवाह के पूर्व की कथा, वैवाहिक जीवन के आरम्भ से लेकर मंसाराम की मृत्यु तक की कथा, और इसके बाद से लेकर निर्मला के मरण तक की कथा। ये तीनों भाग परस्पर सम्बद्ध हैं। कथा का विकाश अधिकांशतः स्वाभाविक ढंग से ही हुआ है, परन्तु इसमें कुछ त्रुटियाँ द्रष्टव्य हैं। आरम्भ में ही उदयभानु की मृत्यु कुछ अस्वाभाविक सी लगती है वह पाठक के मन में उपयुक्त करुणा नहीं जगा पाती। इसके पश्चात् सुधा के पति की मृत्यु भी व्यर्थ ही कराई गई है, इससे मुख्य कथा पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी ये त्रुटियाँ नगण्य हैं : उपन्यास की आत्मा इनसे बाधित नहीं हुई है।

प्रस्तुत उपन्यास में घटनाओं का घात-प्रतिघात इतने वेग से हुआ है कि पाठक की रुचि अन्त तक बनी रहती है। आरम्भ में विवाह की तैयारियाँ, उदयभानु की मृत्यु, नवीन वर की खोज, अनमेल विवाह, निर्मला के ऊपर कलंक, मंसाराम की मृत्यु आदि के अनगिनित घटनाएँ इस प्रकार एक के बाद एक घटती जाती हैं मानो उनमें आगे निकलने की होड़ लगी हुई हो। पाठक की उत्सुकता के बढ़ने के साथ ही जिज्ञासाओं का शमन भी होता जाता है। प्रेमचन्द ने भावी घटनाओं का संकेत पहले ही दे दिया है। निर्मला का स्वप्न उसके भावी वैवाहिक जीवन को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है कि उसका विवाह किसी वृद्ध से होगा। उदयभानुलाल और कल्याणी के वार्त्तालाप में उदयभानु की मृत्यु की पूर्व सूचना दे दी गई है। कहीं-कहीं उपन्यासकार ने प्रत्यक्षरूप में भी भावी घटनाओं की सूचना दी है। उदाहरणस्वरूप उदयभानु की मृत्यु से पूर्व का कथन उल्लेखनीय है—"पर यह कौन जानता था कि यह सारी लीला विधि के हाथों रची जा रही है।......यह कौन जानता था कि नकल असल होने जा रही है, अभिनय सत्य का रूप ग्रहण करने वाला है।"[1] इसके अतिरिक्त पात्रों की प्रतिज्ञा अथवा संकल्प से भी भावी घटना की सूचना मिल जाती है। डा० भुवनमोहन के संकल्प से पाठक को ज्ञात हो जाता है कि कृष्णा का विवाह डा० साहब के छोटे भाई से होगा।

---

१. निर्मला, पृष्ठ ३५

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त 'निर्मला' में घटनाओं की नियोजना भी मौलिक ढंग से की गई है। कथानक में रोचकता का गुण भी उल्लेखनीय है। बाबू मालचन्द्र सिन्हा का परिचय, मोटेराम शास्त्री का भोजन, कृष्णा के विवाह के अवसर पर सुधा और निर्मला तथा कृष्णा का वार्त्तालाप इतना रोचक है कि पाठक मुस्कराए बिना नहीं रह सकता। समग्र रूप से 'निर्मला' उपन्यास कथानक की दृष्टि से सफल है।

चरित्र-चित्रण

प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में, अपने अन्य उपन्यासों की भाँति, वर्गगत और व्यक्तिस्वरूप पात्रों की सृष्टि की है। निर्मला उन सभी नारियों का प्रतिनिधित्व करती है जिनका विवाह अनमेल ढंग से होता है। वह भी उन्हीं की भाँति अपने वृद्ध पति से जी चुराती है। धन और आभूषणों से उसे बहुत मोह है, क्योंकि वृद्ध पति की तो पता नहीं कब मृत्यु हो जाए: इस धन के ही सहारे वह अपनी शेष पहाड़ सी जिन्दगी काट सकती थी। वृद्ध पति की अपेक्षा उसे युवक मंसाराम से बोलना अधिक अच्छा लगता है, क्योंकि उसकी विलासिनी वृत्ति इससे तुष्ट होती है। संक्षेप में निर्मला के चरित्र-चित्रण में लेखक को अत्यधिक सफलता मिली है। नवयौवना निर्मला की मर्मान्तक वेदना को तो लेखक ने मानो साकार कर दिया है—"लेकिन निर्मला को न जाने क्यों तोताराम के पास बैठने और हँसने-बोलने में संकोच होता था। इसका कदाचित् यह कारण था कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी। अब उनकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था।"[1]

निर्मला के अतिरिक्त मुंशीजी, भुवनमोहन सिन्हा, रुक्मिणी आदि पात्रों का चरित्र भी 'वर्ग' के अन्तर्गत आता है। मुंशीजी दूसरा विवाह करनेवाले, शक्की मिजाजी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, भुवनमोहन पैसे से प्यार करने वाले युवकों का और रुक्मिणी 'ननद' वर्ग की प्रतिनिधि है। भुवनमोहन की प्रायश्चित करने की प्रवृत्ति व्यक्तिगत है। सुधा और मंसाराम के व्यक्तित्व व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त हैं। अपने पति के आत्महत्या करने पर सुधा जैसी रमणी ही यह वाक्य कह सकती है कि वह बेहयायी के जीवन से वैधव्य को बुरा नहीं समझती। मंसाराम जैसा चरित्र तो प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलना कठिन है। स्वाभिमानी, परिश्रमी मंसाराम अपने सिर से कलंक को धोने के लिए अपने प्राणों की भी आहुति दे देता है। रुक्मिणी के शब्दों में "वह उन लड़कों में नहीं है, जो खेल में मार भूल जाते हैं। बात उसके दिल पर पत्थर की लकीर हो जाती है।"[2]

१-२. निर्मला, पृ० ५९, ९४

प्रस्तुत उपन्यास में प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रण की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता चरित्रों का यथार्थ अंकन है। निर्मला, रुक्मिणी आदि सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण मानवीय पात्रों के अनुरूप गुण और अवगुणमय है। इसके अतिरिक्त स्थिर और गतिशील दोनों प्रकार के पात्र मिलते हैं। निर्मला तथा भुवनमोहन गतिशील पात्र हैं और सुधा, रुक्मिणी एवं मुंशीजी स्थिर पात्र हैं। प्रेमचन्द ने चरित्र-चित्रण में विश्लेषणात्मक और नाटकीय दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। उपर्युक्त उद्धरण में जो मंसाराम का चरित्र स्पष्ट किया गया है, वह नाटकीय शैली द्वारा ही किया गया है; और विश्लेषणात्मक शैली तो सर्वत्र ही अपनायीं गई है। निर्मला के चरित्र पर जब एक और सन्देह किया जाता है और दूसरी ओर मंसाराम भी उस पर अविश्वास करता है तब निर्मला की जो मानसिक स्थिति हो जाती है, उसे जो अभिनय करना पड़ता है, उसका विश्लेषण लेखक ने इतने सुन्दर ढंग से किया है कि पाठक का हृदय निर्मला के साथ एकाकार हो जाता है। निष्कर्ष रूप में इस उपन्यास में प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रण की मौलिकता, स्वाभाविकता, सजीवता, यथार्थ आदि विशेषताएँ प्रमुख हैं।

कथोपकथन

उपन्यास में कथोपकथन कथा-विकास पात्रों के चरित्र-चित्रण, वातावरण-निर्माण तथा लेखक के उद्देश्य को अभिव्यक्ति देने में सहायक होते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में अनेक स्थानों पर कथोपकथन द्वारा कथा का विकास हुआ है। उदाहरणतया मंसाराम की मृत्यु के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है मानो कथा का विकास अवरुद्ध हो गया हो। परन्तु तभी सुधा और निर्मला के वार्त्तालाप से कथा पुनः तीव्र गति से आगे बढ़ने लगती है। निर्मला अपने वार्त्तालाप से अपने पूर्व जीवन के बारे में बताती है कि किस प्रकार दहेज के अभाव में उसका निश्चित हुआ विवाह टूट जाता है और उसे विवश होकर एक वृद्धसे विवाह करना पड़ता है।[1] इस कथोपकथन के पश्चात् ही कृष्णा का विवाह, भुवनमोहन की आत्महत्या आदि घटनाओं से कथा की एकरसता कुछ कम होती है।

प्रेमचन्द ने अनेक स्थानों पर कथोपकथन द्वारा भावी घटना का संकेत दिया है। उदाहरणतया कल्याणी और उदयभानु के वार्त्तालाप से उदयभानु की मृत्यु की पूर्व सूचना मिल जाती है।

"कल्याणी—इसमें बिगड़ने की तो कोई बात नहीं। मरना एक दिन सभी को है। कोई यहाँ अमर होकर थोड़े ही आया है। आँखें बन्द कर लेने से तो होने वाली बात न टलेगी। रोज आँखों देखती हूँ, बाप का देहान्त हो जाता है और

---

१. देखिये 'निर्मला', पृ० १२६-१२७

उसके बच्चे गली गली ठोकरें खाते फिरते हैं। उदयभानु ने जलकर कहा—तो अब समझूँ कि मरने के दिन निकट आ गए, यही तुम्हारी भविष्यवाणी है।''[1]

''निर्मला' के कपोपकथन पात्र के चरित्र-चित्रण में भी सहायक हुए हैं। उदाहरणस्वरूप भुवन और उसकी माता का वार्तालाप भुवन की लालची प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है :

''रंगीली—वह देखो, तुम्हारी ससुराल से यह खत आया है। तुम्हारी सास ने लिखा है।······तुम्हें शादी करना मंजूर है या नहीं ?

भुवन—शादी करनी तो चाहिए अम्मां, पर मैं करूँगा नहीं।

रंगीली—क्यों ?

भुवन—कहीं ऐसी जगह शादी करवाइए कि खूब रुपये मिलें। और न सही एक लाख का डौल हो, वहाँ अब क्या रखा है। वकील साहब रहे ही नहीं, बुढ़िया के पास अब क्या होगा ?''[2]

इस प्रकार के वार्तालाप से लेखक दहेज प्रथा की बुराइयों और अनमेल विवाह के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए वातावरण का निर्माण करता है, क्योंकि भुवन के इन्कार करने पर ही निर्मला का विवाह किसी वृद्ध से करना पड़ता है।

प्रस्तुत उपन्यास में कथोपकथन की सफलता उनके रोचक, सजीव और स्वाभाविक होने में है। यथा; कृष्णा के विवाह के अवसर पर उसकी जेठानी सुधा भी आई हुई थी, परन्तु यह किसी को भी नहीं पता था कि सुधा कृष्णा की जेठानी है। इसी अनभिज्ञता से लाभ उठाकर सुधा कृष्णा को चिढ़ाती है—

''सुधा—सुना है, दूल्हा की भावज बड़े कड़े स्वभाव की स्त्री है।

कृष्णा—कैसे मालूम ?

सुधा—मैंने सुना है इसलिए चेताये देती हूँ, चार बातें गम खाकर रखना होगा।

कृष्णा—जब मेरी तरफ से कोई शिकायत ही न पायेंगी तो क्या अनायास ही बिगड़ेंगी ?

सुधा—हाँ सुना तो ऐसा ही है, झूठ मूठ लड़ा करती हैं।''[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'निर्मला' में कथोपकथन की रचना सोद्देश्य की गई है। इन्होंने उपन्यास को सजीव और रोचक बनाने में पर्याप्त योगदान किया है।

देशकाल

प्रस्तुत उपन्यास में प्रेमचन्द ने तत्कालीन सामाजिक अवस्था का जीता-

१. निर्मला, पृष्ठ ३२

२-३. निर्मला, पृष्ठ ४८, १४४

जागता चित्र प्रस्तुत किया है। उन्होंने समाज के मध्यवर्ग की प्रदर्शन की प्रवृत्ति को उनके नग्नरूप में उपस्थित किया है। निर्मला के पिता बाबू उदयभानु के पास अधिक धन नहीं है, परन्तु औरों के सम्मुख अपनी शान दिखाने के लिए वे सैकड़ों रुपये व्यर्थ की बातों में व्यय कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विवाह के पूर्व ही पति-पत्नी में झगड़ा हो जाता है और फलस्वरूप परिवार को विपत्ति का सामना करना पड़ता है। मालचन्द्र सिन्हा में भी दिखावे की यह प्रवृत्ति मिलती है। उसके पास वेतन देने के लिए पैसे नहीं हैं, परन्तु नौकर अवश्य रखना है। वह पुरोहित के सम्मुख अपनी शान बघारने के लिए अनेक नौकरों का नाम लेता है, जब कि वास्तव में उसके पास एक कहार ही है। अपनी झूठी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए ही वह पंडित को दस रुपये देता है।

तत्कालीन समाज में स्त्रियों में धीरे धीरे जागृति आ रही थी। नारियाँ अपने अधिकारों के प्रति सचेत होकर प्राचीन ढर्रे का विरोध करने को तत्पर थी। कल्याणी अपने पति बाबू उदयभानु से स्पष्ट शब्दों में कहती है कि "ऐसी स्त्रियाँ और होंगी जो मर्दों की जूतियाँ सहा करती हैं।" सुधा भी ऐसी ही स्वाभिमानिनी नारी है जो अपने पति की लालची प्रवृत्ति के लिए उसको खूब खरी-खोटी सुनाती है और बाद में जब भुवन निर्मला के साथ अनुचित व्यवहार करता है तब उसका इतना तिरस्कार करती है कि उसे आत्महत्या करनी पड़ती है।

प्रेमचन्द ने तद्‌युगीन दहेज प्रथा और अनमेल-विवाह की ज्वलन्त समस्याओं पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। हिन्दू-समाज में उसी समय क्या, आज भी दहेज प्रथा इतनी अधिक प्रचलित है कि लाखों नवयौवना रमणियों का जीवन इसी कारण बरबाद हो जाता है। दहेज प्रथा ही अनमेल विवाह का सबसे बड़ा कारण है। समाज में रहते हुए कन्या का विवाह तो अत्यावश्यक है, परन्तु पास में धन न हो तो अभिभावकों के पास अनमेल विवाह के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं होता। कितनी मर्मान्तक वेदना होती है निर्मला को अपने इस विवाह से। उसके पास असीम सौन्दर्य है, गहने हैं, कपड़े हैं और जीवन के सब ऐश्वर्य हैं, परन्तु इन सबका उसके लिए कोई उपयोग नहीं क्योंकि इनका पारखी कोई नहीं है। वह किसको अपना सौन्दर्य दिखाए? निर्मला के जैसी कितनी ही नारियों का जीवन हमारे समाज में इतना करुणाजनक है कि उनका कोई हिसाब नहीं रखा जा सकता। लड़के वाले हजारों से कम में बात नहीं करते और उतना दे देने पर भी किसी न किसी बात में दोष निकालते ही रहते हैं। कल्याणी के शब्दों में "जब से ब्रह्मा ने सृष्टि रची, तब से आज तक कभी बरातियों को कोई प्रसन्न नहीं रख सका। उन्हें दोष निकालने और निन्दा करने का कोई न कोई अवसर मिल ही जाता है। जिसे अपने घर सूखी

रोटियाँ भी मयस्सर नहीं, वह भी बारात में जाकर तानाशाह बन बैठता है।[1]

सामाजिक स्थिति के अतिरिक्त धार्मिक, स्थिति पर भी प्रेमचन्द ने प्रकाश डाला है। साधुओं के वेष में गुंडे और ढोंगी व्यक्ति भी हो सकते हैं; इसलिए प्रेमचन्द के अनुसार उन पर विश्वास नहीं करना चाहिये। ये ढोंगी शिकार की तलाश में इधर-उधर फिरते रहते हैं और छोटे-छोटे अबोध बालकों को फँसाकर अपने साथ ले जाते हैं और उन्हें भी वैसा ही करने को विवश करते हैं। इस उपन्यास में सियाराम को ऐसे ही साधुओं ने फँसाया था।

भाषा-शैली

प्रेमचन्द का भाषा पर अभूतपूर्व अधिकार था। सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति भी उन्होंने बड़े सहज ढंग से की है। प्रस्तुत उपन्यास में भी बोलचाल की स्वाभाविक भाषा का प्रयोग किया गया है। इसमें मजाल, बेदखल, कचहरी, खानदान जैसे उर्दू-फारसी के शब्द, बहुरिया जैसे बोलचाल के शब्द तथा कहीं-कहीं अंग्रेजी के शब्द अनायास ही आ गये हैं। ये विविध शब्द उपन्यास की भाषा से इतने घुलमिल गये हैं कि इनका पृथक् अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। इन्हीं के कारण भाषा में स्वाभाविकता, सजीवता आदि गुण आ पाए हैं। भाषा की समृद्धि के लिए लेखक ने मुहावरों, लोकोक्तियों, प्रतीकों और अलंकारों का भी सुविधानुसार प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ मुंशी जी के प्रति रुक्मिणी की इस उक्ति में अलंकार शैली देखिये—"उसने तीर खींचा और तुम काठ के सिपाही की तरह तलवार निकालकर खड़े हो गये।"[2] प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बड़ी सफलता यह है कि उनमें पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है। शैलीगत विविधता की ओर भी प्रायः यथोचित ध्यान दिया गया है। उदाहरण स्वरूप नाटकीय शैली का यह उदाहरण देखिये:—

"कृष्णा—तो क्या यह घर तुम्हारा नहीं है ?

निर्मला—नहीं, मेरा होता तो कोई जबरदस्ती निकाल देता ?

कृष्णा—इसी तरह मैं भी किसी दिन निकाल दी जाऊँगी ?

निर्मला—और नहीं क्या तू बैठी रहेगी ? हम लड़कियाँ हैं, हमारा घर कहीं नहीं होता।

कृष्णा—चन्दर भी निकाल दिया जायगा ?

निर्मला—चन्दर तो लड़का है उसे कौन निकालेगा ?"[3]

उद्देश्य

प्रस्तुत उपन्यास में प्रेमचन्द का उद्देश्य समाज की समस्याओं को अभिव्यक्त करना था। हमारे समाज का अधिकांश भाग मध्यवर्ग से सम्बन्ध रखता है जिसकी

---

१. निर्मला, पृष्ठ ३१
२-३. निर्मला, पृष्ठ ६३, २७

आर्थिक स्थिति प्रायः शोचनीय रहती है। परन्तु; यह उसकी उपेक्षा कर मिथ्या-प्रदर्शन की भावना से प्रेरित होकर अपनी स्थिति को और भी दयनीय बना लेता है। प्रेमचन्द ने अपने लगभग सभी उपन्यासों में इस मिथ्या-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का कुपरिणाम दिखाकर परोक्ष रूप से इससे मुक्त होने का सन्देश दिया है। इस उपन्यास में भी उन्होंने बाबू उदयभानुलाल के घर की बरबादी दिखाकर इस प्रवृत्ति का तिरस्कार किया है।

इसके अतिरिक्त दहेज प्रथा और अनमेल विवाह की बुराइयों को दिखाना भी प्रेमचन्द का उद्देश्य रहा है। समाज की इन ज्वलन्त समस्याओं ने उसकी नींव को अन्दर से बिलकुल खोखला कर दिया है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में निर्मला के जीवन के माध्यम से इन दोनों समस्याओं को यथार्थतम रूप में दिखाया है। दहेज के कारण ही निर्मला का विवाह भुवन से न हो सका और उसे जीवनभर के लिए एक ऐसे वृद्ध व्यक्ति के साथ बाँध दिया गया जिसका यौवन विदा हो चुका था और जिसके विचारों और भावों में निर्मला से बहुत अन्तर था। मुंशी जी के शक्की मिजाज ने निर्मला के जीवन को और भी दयनीय बना दिया था। प्रेमचन्द ने इस समस्या को तो प्रस्तुत किया है, परन्तु इसका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुतः निर्मला और सुधा के दाम्पत्य जीवन का वैपरीत्य दिखाकर लेखक ने परोक्ष रूप से इसका समाधान व्यंजित कर दिया है।

'निर्मला' उपन्यास की उपर्युक्त विवेचना के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि यह प्रेमचन्द का प्रथम नायिका प्रधान उपन्यास है जिसमें उन्होंने अन्त में किसी समाधान को प्रस्तुत न कर करुणान्त की प्रवृत्ति अपनायी है। लेखक की इसी यथार्थ-वादी प्रवृत्ति के कारण पाठक का इसके साथ सहज ही तादात्म्य हो जाता है, जो उपन्यास की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी है।

●

: २३ :

कर्मभूमि : प्रेमचन्द की अमर कृति

श्री बल्देव कृष्ण

निस्सन्देह प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामयिक सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं; परन्तु उनके उपन्यासों की साहित्यिक समीक्षा करते समय इन्हीं समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करना लेखक के प्रति अन्याय होगा। प्रेमचन्द के साहित्यिक व्यक्तित्व में व्यक्ति और समाज का, अनुभूति और कल्पना का, कला और नीति का, क्रान्ति और शान्ति का अभूतपूर्व समन्वय दृष्टिगोचर होता है। प्रायः समालोचकों ने यह परिणाम निकाला है कि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं को प्रधानता देकर शाश्वत जीवन समस्याओं की अवहेलना की है अर्थात् वे बहिर्मुखी अधिक रहे हैं, अन्तर्मुखी कम। वे बाहरी जगत् के रूपों और व्यापारों के जटिल-जाल में उलझकर आन्तरिक जगत् के मधुर संस्पर्श से वंचित रहे हैं। यही कारण है कि उनमें नीति की, उपदेश की, आदर्श की मात्रा उचित अनुपात से अधिक हो गई है। इन समालोचकों की उक्त धारणा एकांगी है। गम्भीर विश्लेषण से यह बात सिद्ध की जा सकती है कि उनके उपन्यासों में क्रमशः समाज की अपेक्षा व्यक्ति प्रधान होता गया है।

मानव का वैयक्तिक जीवन मस्तिष्क और हृदय के समाहार का परिणाम है। मस्तिष्क जीवन का मार्ग बनाता है और हृदय उसमें गति लाता है। इन दोनों के सन्तुलन से जीवन में सुख की समृद्धि होती है। जटिलताएँ सरल हो जाती हैं। कभी-कभी हृदय मस्तिष्क से अधिक प्रबल हो उठता है। ऐसी स्थिति में जीवन संकल्पात्मक अनुभूति के सहारे तीव्रगति से गतिशील होने लगता है। फलतः व्यक्ति का भावना-केन्द्र अनियन्त्रित हो जाता है। इस अनियन्त्रित अवस्था में व्यक्ति व्यावहारिक जगत के लिए अनुपयोगी हो जाता है। वह अपने लिए तथा समाज के अन्य व्यक्तियों के लिए दुःख का कारण बन जाता है। मानव-जीवन का यह तथ्य जिन उपन्यासों में चित्रित होता है उन्हें व्यक्तित्व प्रधान उपन्यास कहा जाता है। इसके विपरीत जिन उपन्यासों

में भावना-केन्द्र को नियन्त्रित अवस्था में, विकल्पात्मक अनुभूति एवं तर्क के द्वारा गतिशील होना चित्रित किया जाता है उन्हें सामाजिक समस्या प्रधान उपन्यास कह दिया जाता है।

यदि 'निर्मला' से 'कर्मभूमि' तक प्रेमचन्द की साहित्यिक यात्रा का विवेचन किया जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वे उत्तरोत्तर व्यक्तित्व प्रदर्शन की ओर उन्मुख होते चले गये हैं अर्थात् उन्होंने अपने पात्रों की अनावृत्ति को उनके चेतना-केन्द्र की अपेक्षा अधिक गतिशील चित्रित करने का यत्न किया है। 'गबन' में रमानाथ में यह प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट हो गई है और 'कर्मभूमि' के अमरकान्त में इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है। फिर भी समालोचकों ने प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिकता को ही अपनी आलोचना का मुख्य लक्ष्य बनाया है। इसका कारण समझने के लिए हमें प्रेमचन्द के व्यक्तित्व-चित्रण और तथाकथित व्यक्तित्व-प्रधान उपन्यासों के व्यक्तित्व-चित्रण के अन्तर को समझना आवश्यक होगा।

जब हम इस अन्तर पर विशेषतया दृष्टिपात करते हैं तो हम यह अनुभव करते हैं कि प्रेमचन्द अपने प्रधान पात्र को जब किसी विकृत मनोवृत्ति का शिकार चित्रित करते हैं तब वे उस पात्र के आस-पास ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि उस प्रधान पात्र के भावात्मक संस्थान में संचित अन्य प्रवृत्तियाँ भी सक्रिय होने लगती हैं। फलतः उस दूषित मनोवृत्ति का ऐसा कोई दुष्परिणाम नहीं निकलता कि पाठक उसी दूषित मनोवृत्ति पर मँडराने लग जाए। इसके विपरीत वे उस विकृत मनोवृत्ति के दोष के सुधार का अथवा उसके उदात्तीकरण का प्रयास करते हैं। इसके लिए उन्हें कुछ ऐसी घटनाओं की सृष्टि करनी पड़ती है जिनमें उस मनोवृत्ति की बुराई छिपने लगती है। इस प्रकार वह विकृत मनोवृत्ति वाला पात्र जहाँ एक ओर अपनी उस वृत्ति द्वारा किसी उलझन में पड़ता, दुःख उठाता दृष्टिगोचर होता है वहाँ वह अपनी अन्य सद्वृत्तियों द्वारा शिष्ट-व्यवहार करता हुआ अपने प्रति पाठकों की सहानुभूति भी प्राप्त करता प्रतीत होता है। वृत्तियों के उदात्तीकरण के लिए प्रेमचन्द ने मुख्यतया दो उपाय अपनाये हैं। एक उसी पात्र में अन्य सुवृत्तियों की योजना, दूसरा उसके पार्श्ववर्ती पात्रों में शुभ वृत्तियों की स्थिति का प्रदर्शन। इस प्रकार जब वे अपने पात्र के विकृत मनोविकार को परिष्कार में प्रवृत्त होते हैं तो स्वभावतः ही उन्हें सामाजिक विषयों को ग्रहण करना पड़ता है। मानव-वृत्तियों का परिमार्जन अपने संकुचित घेरे से बाहर निकलने में ही सम्भव हो सकता है। इसीलिए प्रेमचन्द के पात्रों का जीवन सामाजिक परिस्थितियों में, सामाजिक क्षेत्र में व्यतीत होना परिलक्षित होता है। परिणामतः समालोचक का ध्यान इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में उलझने लगता है और वह यह धारणा बनाने के लिए विवश हो जाता

है कि उन उपन्यासों में सामाजिक तत्व ही प्रमुख हो गये हैं, व्यक्ति के व्यक्तित्व का सफल प्रतिफलन नहीं हुआ है। 'कर्मभूमि' के सम्बन्ध में भी समालोचकों ने इसी प्रकार का परिणाम निकाला है। एक प्रतिष्टालब्ध समालोचक ने इसी आधार पर यह कह दिया है—"प्रेमचन्द जी ने मुख्यत: इसमें (कर्मभूमि) राजनीतिक समस्याओं को ही उठाया है। इसमें उन्होंने 'सकीना', 'मुन्नी' आदि को लाकर आन्तरिक भावनाओं को स्पर्श करने का प्रयास किया है, किन्तु अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई।"

व्यक्तित्व-प्रधान उपन्यासों के पात्रों के विश्लेषण के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनके पात्र अस्थिर चित्त, दुर्बल, अव्यावहारिक, निकम्मे, उत्तर दायित्वहीन, अकर्मव्य, अपने लिए तथा अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के लिए उलझन उत्पन्न करने वाले होते हैं। उनके पाँव सदा लड़खड़ाते रहते हैं। भाव विशेष की आँधी आते ही वे एक दिशा की ओर उड़ने लगते हैं और थोड़ी-सी रोक पाते ही अन्य दिशा की ओर तीव्रगति से दौड़ने लगते हैं। समाज के बन्धन व लोकमर्यादा उनके भाव-पथ में बाधक नहीं हो सकती। वे तो अपनी समझ के पीछे दीवाने बने आत्मविस्मृत-से रहते हैं। उन्हें सीधे मार्ग पर लाने के लिए भावना के माध्यम से ही नियंत्रित किया जा सकता है, अन्यथा वे अनियन्त्रित रहते हैं। तर्क उनका मार्ग अवरुद्ध नहीं कर पाता। उनकी अपनी वृति का माधुर्य उनके व्यक्तित्व पर घटाटोप की भाँति छाया रहता है। ठीक यही स्थिति हम प्रेमचन्द के पात्रों में क्रमश: विकसित होती पाते हैं। 'गबन' का रमानाथ अपनी संकोचवृति के कारण अस्थिर डाँवाँडोल एवं दुर्बल है। उसमें आवश्यक व्यावहारिक बुद्धि का अभाव है; वह अकर्मण्य है; मुखापेक्षी है; परान्नभोजी है। वह स्वयं उलझन में पड़ता है; अपने मित्रों सम्बन्धियों को उलझन में डालता है। वह इतना अव्यावहारिक एवं अनुपयोगी है कि वह स्वयं पुलिस के हाथों में फँस जाता है। 'कर्मभूमि' के अमरकान्त में भी ऐसी ही अस्थिरता, दुर्बलता, अव्यावहारिकता, अकर्मण्यता है। वह भी सनकी है, उसमें भाव-ग्रन्थियाँ हैं जो उसके जीवन में स्थिरता नहीं आने देतीं। अन्य व्यक्ति प्रधान उपन्यासकारों से प्रेमचन्द की यह विशेषता है कि वे अपने इस प्रकार के विकृत पात्र में भी कुछ सत्प्रवृत्तियाँ अंकित करते हैं जिनसे उनके प्रति पाठक की विरक्ति की सृष्टि नहीं होती। दूसरे उपन्यासकार उनकी भाँति अपने पात्र में सत्प्रवृत्तियों की योजना नहीं करते। प्रेमचन्द तो अपने विकृत पात्रों के आस-पास सजीव, सशक्त पात्रों की योजना कर देते हैं जिससे उनकी विकृत भावनाओं का परिमार्जन एवं समाज के अमंगल का विनाश सम्भव हो जाता है। वे अपने पात्र को स्वच्छन्द, अपनी झोंक के अनुसार विचरता नहीं दिखाते अपितु उसे अन्य पात्रों से नियन्त्रित एवं मर्यादित ही चित्रित करते हैं। परिणाम स्वरूप ऐसे विकृत पात्र या तो सुधर जाते हैं या समाज

में मंगल-वृद्धि के कारण बनते हैं। वे अपने दोषों के कीटाणु समाज में प्रसारित नहीं कर पाते। उनके मनोविकार अप्रेष्य हो जाते हैं और समाज उनकी बुराई से बचा रहता है।

'कर्मभूमि' का अमरकान्त इसी प्रकार का पात्र है। उसके मन में भी भाव-ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि उसकी अपनी पारिवारिक स्थिति से उत्पन्न हुई है। उसकी माता की मृत्यु छोटी आयु में ही हो जाती है। वह अपनी माता के लाड़-प्यार से वंचित हो जाता है। उसका पिता समरकान्त दूसरा विवाह कर लेता है। विमाता के आने पर उसे लाड़-प्यार के स्थान पर डाँट मिलने लगती है। उसे अपनी विमाता से द्वेष हो जाता है। धीरे-धीरे वह हठी, दुराग्रही, निरंकुश, स्वेच्छाचारी होने लगता है। उसका पिता समरकान्त जो काम करता है वह उसे अरुचिकर प्रतीत होता है। पिता पूजा-पाठ करता है तो वह इसे ढोंग समझता है, पिता अर्थ का लोभी है तो वह पैसे को ठीकरा समझता है 'अमरकान्त' चरित्र का निर्माण पितृ-द्वेष के हाथों होने लगता है।

लेखक ने अपने इस प्रधान पात्र का परिचय इस रूप में दिया है :—"अमरकान्त की अवस्था १९ साल से कम न थी, पर देह और बुद्धि को देखते हुए, अभी किशोरावस्था ही में था। देह का दुर्बल, बुद्धि का मन्द। पौधे को कभी मुक्त प्रकाश न मिला, कैसे बढ़ता, कैसे फैलता।" इसी अविकसित अवस्था में 'अमरकान्त' का विवाह हो जाता है। इसके व्यक्तित्व का निर्माण करते समय प्रेमचन्द की अन्तश्चेतना में व्यक्ति का वही स्वरूप झलकता है जो अन्य व्यक्ति प्रधान उपन्यासकारों की कल्पना में रहता है। अमरकान्त और उसकी विवाहिता पत्नी के चरित्र की विषमता का प्रतिपादन प्रेमचन्द ने इन शब्दों में किया है : "वह युवक प्रकृति की युवती ब्याही गई युवती प्रवृति के युवक से, जिसमें पुरुषार्थ का कोई गुण नहीं। अगर दोनों के कपड़े बदल दिए जाते तो एक दूसरे के स्थानापन्न हो जाते। दबा हुआ पुरुषार्थ ही स्त्रीत्व है।" अमरकान्त की विषम परिस्थितियाँ उसके पुरुषत्व को दबा देती हैं। वह दुर्बल हो जाता है और भावनाओं के झोंकों में गिरता-पड़ता उड़ता जा रहा है।

यह कहा जा चुका है कि व्यक्ति को प्रधानता देकर भी प्रेमचन्द अपनी दो विशेषताओं के कारण सामाजिक क्षेत्र में ही विचरते दीख पड़ते हैं। पहली विशेषता के अनुरूप उन्होंने इस विकृत प्रकृतिवाले युवक को राजनीतिक आन्दोलन की ओर उन्मुख प्रदर्शित किया है। देश की स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भाग लेना सत्प्रवृत्ति का सूचक समझा जाता है। यद्यपि अमरकान्त अपनी विकृत मनोवृत्ति के ही परिणाम-स्वरूप इस ओर प्रवृत्त होता है तथापि शुभकार्य में प्रवृत्त होने के कारण उसकी यह विकृति पाठक की दृष्टि से ओझल रहती है। वह उसे देश-भक्त समझने लगता है। आगामी जीवन में उल्लिखित उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं के प्रति भी वह सहानुभूति

धारण, करता है। दूसरी विशेषता के अनुरूप अमरकान्त का सम्बन्ध सुलझे हुए सजीव एवं दृढ़ चित्तवाले पात्रों के साथ कर दिया गया है जो उसे पतन से बचाते चलते हैं, जो उस पर अंकुश रखते हैं और उसे अनियन्त्रित नहीं होने देते। फलतः सारे उपन्यास का वातावरण व्यक्ति वैचित्र्यवादी उपन्यासों से भिन्न प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः 'कर्मभूमि' में व्यक्ति और समाज के समन्वय में व्यक्तिका अनुपात बढ़ गया है। इसी अनुपात में यथार्थता की भी वृद्धि हुई है। हाँ, यथार्थता में नग्नता अवश्य नहीं आने पाई है।

अमरकान्त की पत्नी 'सुखदा' अपनी माता की इकलौती बेटी है। अपनी परिस्थितियों के फलस्वरूप उसमें त्याग के स्थान पर भोग, शीत की जगह तेज, कोमलता की जगह कठोरता के संस्कार पनपते रहे हैं। वह अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं स्थिर प्रकृति की है। अमरकान्त और सुखदा के विचारों में; व्यवहारों में; स्थानों में किसी प्रकार का स्वामंजस्य नहीं है। विवाह हो जाने पर वे परस्पर हृदय से या शरीर से सुखद सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके हैं। इतने समीप रहकर भी वे एक-दूसरे से कोसों दूर होते चलते हैं। अपनी माता रेणुका के सबल व्यक्तित्व के कारण सुखदा अपने ऐसे निरंकुश पति को नियन्त्रित करने के योग्य बन जाती है। रेणुका अपनी पुत्री सुखदा को यह समझाती है :—"बेटी, बुरा न मानना, मुझे तो बहुत कुछ तेरा ही दोष दीखता है। तुझे अपने रूप का गर्व है। तू समझती है, वह तेरे रूप पर मुग्ध होकर तेरे पैरों पर सिर रगड़ेगा? ऐसे मर्द होते हैं, यह मैं जानती हूँ पर वह प्रेम टिकाऊ नहीं होता।···सच कहती हूँ मुझे उस पर दया आती है। बचपन में तो बेचारे की मा मर गई, विमाता मिली वह डाइन। बाप हो गया शत्रु। घर को अपना घर न समझ सका। जो हृदय चिन्ताभार से इतना दबा हुआ हो उसे पहले स्नेह और सेवा से पोला करने के बाद तभी प्रेम का बीज बोया जा सकता है।"

रेणुका अपने स्नेह से अमरकान्त की विवृति में सुधार उपस्थित करने का प्रयास करती है। अमरकान्त का प्रेम-शून्य हृदय अब कोमल भावनाओं के अनुकूल होने लगता है। विलासिता का द्रोही, सरल जीवन का उपासक अमरकान्त अच्छा खासा रईसजादा बन बैठता है। विचित्र प्रकृति के इस युवक में सामान्यता, लौकिकता लाने के लिए उसे सरस एवं तरल बनाने की आवश्यकता थी, वह पूरी कर दी जाती है। अब वह समाज के उपयोगी ढाँचे में ढाला जा सकता है। रेणुका उससे दैनिक समाचारपत्र पढ़वा कर सुना करती है। फलत; विलासिताके साथ उसमें राजनीतिक परिस्थितियों का ज्ञान भी बढ़ाने लगती है। रेणुका के सत्प्रयास से वह राजनीतिक विचारधारा में डुबकी लगाने के योग्य होने लगता है। जो मंगलमयी राजनीतिक संस्थाएँ उस समय राष्ट्रीय उत्थान के लिए उद्योग कर रही थीं उनसे उसे सहानुभूति

हो जाती है। वह अपने नगर की कांग्रेस-कमेटी का मेम्बर बन जाता है और उसके कार्यक्रमों में भाग लेने लगता है। भावों का रोगी भावों के उपचार से ही स्वस्थ हो सकता है। उपचार किया जाता है। विकृत, भावों की रोक के लिए अन्य भावों का समावेश उसके व्यक्तित्व में सम्पन्न किया जाता है। विकृति के साथ सुकृति का सुन्दर सामंजस्य प्रेमचन्द की अपनी विशेषता है। इसीलिए ऐसे व्यक्तियों का 'अमरकान्त' पर अंकुश स्थापित कर दिया जाता है जो उसे समाज-विरोधी प्रवृत्तियों से रोककर उपयोगी कार्यों में संलग्न कर सकें।

'अमरकान्त' का अभिन्न-हृदय मित्र सलीम सुलझा हुआ है, लौकिक व्यवहार का ज्ञाता है। डा० शान्तिकुमार यथार्थोन्मुख आदर्शवादी है। घर में उसकी पत्नी और उसकी सौतेली बहन नैना का सशक्त व्यक्तित्व उसे अपने नियन्त्रण में रख परिचालित कर रहा है। एक दिन अमरकान्त अपने मित्र सलीम तथा डा० शान्तिकुमार के साथ देहातों की आर्थिक दशा की जाँच-पड़ताल करने निकलते हैं। मार्ग में एक दुर्घटना हो जाती है। तीन गोरे सैनिक एक ग्रामीण युवती का सतीत्व अपहरण कर रहे हैं। इस युवती के चीत्कार को श्रवण कर देहाती लोग घटनास्थल पर एकत्रित हो रहे हैं परन्तु कुछ कर नहीं पाते हैं। सलीम और डा० शान्तिकुमार इस अपमानिता युवती की करुण दशा को देखकर उत्तेजित हो जाते हैं और उन गोरों पर आक्रमण कर देते हैं। डा० शान्तिकुमार इस झगड़े में सैनिकों की गोली से घायल हो जाता है। लेखक का प्रधानपात्र अमरकान्त केवल घटना की व्याख्या करने में ही अपनी इतिकर्तव्यता समझ रहा है। इस विकारग्रस्त पात्र में अपने सहभोगियों के सदृश कर्मण्यता नहीं है। वह तो अपनी कच्ची बुद्धि की बहक में ही बहता है। प्रेमचन्द ने इस पात्र का व्यक्तित्व व्यक्ति-वैचित्र्य प्रधान उपन्यासों के पात्रों के अनुरूप ही चित्रित किया है परन्तु इसकी बहक में वे भाव पर दिए हैं जिनके प्रति मानव समाज की श्रद्धा है, भक्ति है, अनुराग है, सहानुभूति है। अमरकान्त की बहक का स्वरूप देखिए :—

"इन टके के सैनिकों की इतनी हिम्मत क्यों हुई? ये गोरे सिपाही इंगलैंड की निम्नतम श्रेणी के मनुष्य होते हैं। इनका इतना साहस कैसे हुआ? इसीलिए भारत पराधीन है। ये लोग जानते हैं कि यहाँ के लोगों पर उनका आतंक छाया हुआ है। वे जो अनर्थ चाहें, करें कोई चूं नहीं कर सकता। यह आतंक दूर करना होगा। इस पराधीनता की जंजीर को तोड़ना होगा।" अमरकान्त अपनी भव्य सनक के कारण प्रिय एवं सहानुभूति का पात्र बन रहा है।

अमरकान्त का यह संकल्प स्थिर नहीं रहता है। प्रारम्भ में वह अपनी सनक में आकर काँग्रेस के कार्यों में बड़े उत्साह से सम्मिलित होता है। जनता को उत्तेजित करने के लिए वह अपनी उग्र भावनाओं से भरी वक्तृताएँ देने लगता है। पुलिस के

सुपिरन्टैण्डैण्ट इसके पिता समरकान्त को चेतावनी दे जाते हैं। इन दिनों में अमरकान्त सुखदा और रेणुका के अंकुश के नीचे परिचालित हो रहा है। सुखदा का सशक्त व्यक्तित्व इस भावुक प्राणी को किस रूप में नियन्त्रित कर रहा है इसकी झलक सुखदा के इन शब्दों में प्रतिध्वनित हो रही है। सुखदा कहती है—"क्यों तुम से शान्तिपूर्वक नहीं बैठा जाता ? तुम अपने मालिक नहीं हो कि जिस राह चाहो जाओ। तुम्हारे पाँव में बेड़ियाँ हैं; क्या अब भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलतीं ?" अमरकान्त पर इस सशक्त व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ जाता है। वह अपने संकल्प से परे हट जाता है। उसका संकल्प दृढ़ नहीं, वह तो जरा सी ठेस लगते ही कभी इधर और कभी उधर छलकने लगता है। लेखक ने उसका व्यक्तित्व कुछ उपहासास्पद बना दिया है। वह कहता है—"अच्छी बात है। आज से अपना मुँह सी लूंगा फिर तुम्हारे सामने ऐसी शिकायत आए तो मेरे कान पकड़ना।"

अमरकान्त केवल भावुक है, वह अपना कर्त्तव्य, अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता है। सुखदा उसे प्रबोध देती है और उसके कर्त्तव्य का संकेत देती हुई कहती है :—"पिता को दुःखी और सन्तान को निस्सहाय छोड़ कर देशधर्म को पालना ऐसा ही है जैसे कोई अपने घर में आग लगा कर खुले आकाश में रहे।" अमरकान्त गोरों के अनुचित व्यवहार को देख कर केवल भावतरंगों में ही प्रवाहित होता है, वह अपने यथार्थ कर्त्तव्य की ओर ध्यान नहीं दे सका है। भावुक व्यक्ति लड़खड़ाता बढ़ता है। वह स्थिरता से पग नहीं उठा पाता। वह तो आकाश में उड़ना चाहता है, धरती पर पाँव रखकर स्थिर निश्चय से कर्मरत होना नहीं जानता। प्रेमचन्द का अमरकान्त भी इसी प्रकार का व्यक्ति है। उसे सुखदा उसकी भूल समझती है और भावना को क्रियात्मक रूप देने का उपाय भी सुझाती है। वह पूछती है—"स्त्री की कुछ खबर मिली जिसे गोरों ने सताया था ?" अमरकान्त ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया है अतएव वह उसे डाँटती है ;—"एक दिन जाकर सब कोई उसका पता क्यों नहीं लगाते ? या स्पीच दे कर ही अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो गए। ऐसे होशियारी से पता लगाओ कि किसी को कानोंकान खबर न हो, अगर घर वालों ने उसका बाहिष्कार कर दिया हो तो उसे लाओ। अम्मा को उसे अपने साथ रखने में कोई आपत्ति न होगी और होगी तो उसे मैं अपने पास रख लूंगी।" समाज को केवल भावुक व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं उसे तो वास्तविक परिस्थितियों के अनुरूप कर्म में प्रवृत होनेवाले सशक्त व्यक्तियों की आवश्यकता है। 'सुखदा' के माध्यम से प्रेमचन्द ने अपनी उक्त भावना को पाठक के सम्मुख मूर्त्तरूप में लाकर रख दिया है। कला की दृष्टि से उनका यह आदर्शवाद सराहनीय है। नीति अपना कलेवर बदलकर उनकी रचना में आ बैठी है।

एक दिन अमरकान्त की दुकान पर दो गोरे कुछ गहने बेचने आते हैं। इसी

समय एक भिखारिन उन गोरों की हत्या कर देती है। यह भिखारिन वही युवती है जिसके सतीत्व का अपहरण किया गया था और जो अपने अपमान का बदला चुकाने के लिए कई महीनों से पागलों की भाँति घूमती रहती है। इस भिखारिन को गिरफ्तार कर लिया जाता है और उस पर हत्या का अभियोग चलाया जाता है। डा० शान्तिकुमार तथा सलीम के सहयोग से अमरकान्त सारे नगर से इस युवती के बचाव के लिए चन्दा एकत्रित करना है। सरकार पर दबाव डालने के लिए प्रचण्ड आन्दोलन चलाता है। जिस दिन जज अपना निर्णय सुनाते हैं उसी दिन अमरकान्त की पत्नी सुखदा पुत्र को जन्म देती है। अमरकान्त इसी आनन्द में आत्मविभोर होकर अपने सामाजिक कर्त्तव्य को भूल जाता है।

मुन्नी भिखारिन को दोषमुक्त कर दिया जाता है और उसके अभिनन्दन के लिए विशाल आयोजना की जाती है परन्तु मुन्नी चुपके-से किसी अज्ञात स्थान को प्रस्थान कर जाती है। मुन्नी का चरित्र भी बड़ा सशक्त है। वह समाज की यथार्थ स्थिति को समझती है। वह अपने कलंक के कारण अपने पुत्र और पति को किसी उलझन में डालना नहीं चाहती है। लेखक उसे कोरा आदर्शवादी या कोरे तर्क के सहारे चलनेवाली नारी चित्रित करते हैं। वह कोरे तर्क के आधार पर भावना का विरोध करना चाहती है। कोरा तर्क मानव को उसके अपने कर्त्तव्य-पथ से विमुख कर देता है और कोरी भावना भी उसे कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर रहने नहीं देती है। अन्तर केवल इतना ही है कि कोरे तर्क के कारण जीवन में स्थिरता तो आती है परन्तु साथ ही निरसता भी आ जाती है। दूसरी ओर भावना के प्रभाव से जीवन में सरलता तो आ जाती है परन्तु वह सरलता स्थिरता को बहा देती है। पलायन-वादिता दोनों पक्षों में समान रूप से दृष्टिगोचर होती है। मुन्नी और अमरकान्त के चरित्र में इसी तथ्य पर प्रकाश डाला गया है। मुन्नी दोषमुक्त होकर कर्म-पथ से पलायन कर जाती है। उसे उसका तर्क पलायन के लिए विवश कर देता है। वह भावना की उपेक्षा कर देती है। डा० शान्तिकुमार से वह सानुरोध निवेदन करती है ;—"अब मुझे जल्दी से ले चलिए। अपने बालक को देखकर मेरे हृदय में मोह की ऐसी आँधी उठेगी कि मेरा सारा विवेक और विचार उसमें तृण के समान उड़ जाएगा। उस मोह में मैं भूल जाऊँगी कि मेरा कलंक उसके जीवन का सर्वनाश कर देगा।" इसी प्रकार अमरकान्त भावना की डोर से बँधा है और कठपुतली की तरह नाच करता है। उसकी थिरकन पलायन का प्रतीक है।

अमरकान्त का पिता समरकान्त धन का लोभी है। उसकी लोभ वृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह सन्तुलित होकर औचित्यानौचित्य की भावना का ही परित्याग कर देता है। जब अमरकान्त अपनी उमंग में आकर सारा समय सार्वजनिक कार्यों

लगाने लगता है और म्यूनिसिपल कमिश्नर बन जाता है तब समरकान्त की धन लिप्सा को आघात पहुँचता है। फलतः उसका मनोयन्त्र असुन्तुलित हो जाता है। वह अमरकान्त को घर से निकाल देता है। आतमसम्मान की भावना से प्रेरित होकर सुखदा तथा नैना भी घर से निकल पड़ती हैं। ये सब किराये पर मकान लेकर रहने लगते हैं। सुखदा एक संस्था में पढ़ाने का काम करने लगती है और अमरकान्त बड़ी तत्परता से कपड़े की फेरी लगाने लगता है। गलियों में वह स्वयं अपने कन्धे पर कपड़े के गट्ठे को उठाकर बेचता फिरता है। भावुक व्यक्तियों में जब भावावेश उचित सीमा का अतिक्रमण करने लगता है तब वे सामान्य कोटि से निकलकर विशिष्ट बन जाते हैं। उसमें कुछ ऐसे असामान्य गुणों, व्यापारों की प्रतिष्ठा होने लगती है कि वह विलक्षण प्रतीत होने लगता है। चरित्रप्रधान उपन्यासों के पात्र इसीलिए कुछ विक्षिप्त से हो जाते हैं। भाव का उन्माद उनके मानसिक सन्तुलन को विकृत कर देता है, अन्य लोग उन्हें विक्षिप्त समझने लगते हैं। प्रेमचन्द के भावुक पात्र असामान्यता की उस सीमा तक नहीं पहुँचते जहाँ पहुँचकर वे विक्षिप्त प्रतीत होने लगें। इस स्थिति में प्रेमचन्द की सामाजिकता, लोकहित कामना एवं मंगलभावना उनकी सहायता करती है। वे अपने असामान्य पात्रों से कुछ ऐसे कार्य करवाते लगते हैं जिनके प्रति सामान्य लोगों के अन्तःकरण में श्रद्धा या आदर का भाव होता है। अमरकान्त म्यूनिसिपल कमिश्नर है उसका कन्धे पर कपड़े का गट्ठा उठाए गलियों में फिरना सामान्य जन-व्यवहार के प्रतिकूल है। उसका यह व्यवहार उपहास का विषय हो सकता है परन्तु प्रेमचन्द इस भावोन्माद की दशा में अमरकान्त के मुँह में ऐसे शब्दों की प्रतिष्ठा कर देतें हैं जो उसे पागल मानने से रोकते हैं। वह विशिष्ट होकर भी सामान्य व्यक्ति के सदृश व्यवहार करता दृष्टिगोचर होता है। एक व्यक्ति उसे इस प्रकार भार ढोते देखकर उपहास करते हुए कहता है :—"अरे यार यह क्या गजब करते हो, म्यूनिसिपल कमिश्नरी की तो लाज रखते, समा भद्द कर दिया" इसके उत्तर में अमरकान्त कहता है, "मजूरी करने से म्यूनिसिपल कमिश्नरी की शान में बट्टा नहीं लगता। बट्टा लगता है धोखे-धड़े की कमाई खाने में।" अमरकान्त के मुँह की यह उच्च नीति की बात उसके उन्माद को ढाँप लेती है। वह अपने आप को साम्यवादी सिद्ध कर देता है जब वही व्यक्ति वस्तु-स्थिति का उल्लेख करता है—"छोटे बड़े तो भाई साहब, हमेशा रहे हैं और हमेशा रहेंगे। सब को आप बराबर नहीं कर सकते।" तब अमरकान्त का उत्तर उसे न्यायप्रिय, कर्मठ व्यक्तियों जैसा बना देता है। लोग उसके ये शब्द सुनकर; "दुनिया का ठेका नहीं लेता। अगर न्याय अच्छी चीज है तो वह इसलिए खराब नहीं हो सकती कि लोग उसका व्यवहार नहीं करते। उसे भावोन्मत्त नहीं समझते वे तो उसे अच्छा तार्किक विवेकशील उदारचेता समझ लेते हैं। इस कुशल विधान में

ही प्रेमचन्द की कला का सौन्दर्य अन्तर्निहित है। पाठकों को कहीं अमरकान्त की इन उक्तियों से भ्रान्ति न हो जाए इसीलिए वे स्वयं उसके चरित्र का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं :—"त्यागी दो प्रकार के होते हैं। एक वह जो त्याग में आनन्द मानते हैं, जिनकी आत्मा को त्याग में सन्तोष और पूर्णता का अनुभव होता है, जिनके त्याग में उदारता और सौजन्य है ; दूसरे वह, जो दिलजले त्यागी होते हैं, जिनका त्याग अपनी परिस्थितियों से विद्रोहमात्र है, जो अपने त्यागपथ पर चलने का तावान संसार से लेते हैं, जो खुद जले हैं, इसलिए दूसरों को भी जलाते हैं। अमर इसी तरह का त्यागी था।"

सकीना की माता को लाला समरकान्त ५) रुपये प्रतिमास दिया करते थे। एक दिन अमरकान्त सकीना की बुढ़िया माता के साथ उसके घर पहुँच जाता है। वहीं सकीना से उसकी प्रथम भेंट हो जाती है। यह भेंट उसके हृदय पर सकीना की छाप अंकित कर देती है। घर की विकट परिस्थितियों के कारण वह सकीना से मिलने नहीं जा सकता है। एक दिन सकीना का पत्र उसे मिलता है। पत्र पाते ही वह उसे मिलने जाता है। सकीना घर पर अकेली है। उसके प्रेमभरे उपालम्भ को सुनकर अमरकान्त का अन्तस्तल भाव-तरंगों से उद्वेलित हो उठता है। वाष्पप्रेरित यन्त्र की भाँति उसकी बाहें ऊपर उठती हैं और सकीना को अपनी परिधि में लेने के लिए तेजी से आगे बढ़ती हैं। इधर वह सकीना को अपनी ओर खींचता है उधर घर का दरवाजा खुलता है। सकीना की बुढ़िया माता अन्दर प्रविष्ट होती है। भावशक्ति जहाँ मानव को कठिन से कठिनतर कार्य के लिए सक्षम बना सकती है वहाँ अतिशयता की स्थिति में कायरता भी उत्पन्न कर देती है भावोन्मत अमरकान्त इसी अतिशयता के कारण दुर्बल है, कायर है, परिस्थितियों पर विजय पाने में अक्षम है। बुढ़िया की फटकार सुनकर वह संज्ञाशून्य हो जाता है। सकीना उसे आत्मसमर्पण करने को उद्यत है, वह उसके साथ रहकर परिस्थितियों का सामना करने को तत्पर है परन्तु अमरकान्त वीरता, कार्यकुशलता तथा साहस कहाँ से लाए ? ये शक्तियाँ तो जीवन में संयम से आती हैं। अनियन्त्रित भावोन्माद में वह संयम कहाँ ? अमरकान्त भागता है, बुरी तरह भागता है, सिर पर पाँव रखकर भागता है। मित्र सलीम रोकता है, धन का लोभी पिता भी आश्वासन देता है कि "भूल-चूक सभी से होती है। बुढ़िया को दो चार सौ रुपये दे दिये जाएँगे। तुम्हें घर से भागने और शहर भर में ढिंढोरा पीटने की क्या जरूरत है।" उन्माद के प्रबल प्रवाह में कर्तव्य ठहर नहीं पाता है। भावावेश में अमरकान्त की कर्त्तव्यभावना विलुप्त हो जाती है, उसका मन चंचल हो उठता है। वह असंयत होकर पलायन करने में प्रवृत्त हो जाता है। अब वह निर्बाध हो जाना चाहता है वह रूढ़ियों और बाधाओं का दास नहीं बनना चाहता है। इस झोंक में उसे यह नहीं

सूझता कि मर्यादा में ही जीवन है अन्यथा वह तो मरण है। उन्माद में प्रत्येक वस्तु उलटी दृष्टिगोचर होती है। वह जीवन को मरण और मरण को जीवन समझ रहा है। वह जीवन के लिए जीवन से पलायन कर रहा है, वह किनारे पर पहुँचने के लिए मंझधार में कूद रहा है। ऐसे व्यक्तियों के साथ अन्य तो नहीं कूद सकते वे तो केवल शुभकामना ही कर सकते हैं। पाठकों की ओर से मानों समरकान्त ही इस कर्त्तव्य विमूढ़ को आशीर्वाद दे देता है।

व्यक्ति वैचित्र्यवादी उपन्यासों की भाँति प्रेमचन्द के इस उपन्यास की घटनाएँ भी परस्पर कार्य कारण भाव से सुसम्बद्ध नहीं हैं। यहाँ पर आकांक्षा बनी रहती है कि पात्र का यह व्यापार किस कारण से हो रहा है। अनुकूल परिस्थितियों के होने पर भी जब पात्र उनसे दूर भागना चाहता है तब पाठक उसके कारण की ढूँढ़ में संलग्न हो जाता है। कर्मभूमि और अन्य व्यक्ति वैचित्र्यवादी उपन्यासों में केवल इतना ही अन्तर है कि इसके पात्र विशिष्ट होकर भी किसी-न-किसी वर्ग में निहित किये जा सकते हैं; दूसरा भेद यह भी हो सकता है कि इसमें घटनाओं का केन्द्र एक न होकर अनेक हैं। इस प्रकार घटनाक्षेत्र अधिक व्यापक है। व्यक्ति के साथ समाज का भी सम्मिश्रण हो गया है।

नर और नारी के सहज आकर्षण का भी व्यक्ति वैचित्र्यवादी उपन्यासों में पर्याप्त उपयोग लिया जाता है। उनमें एक नर के साथ कई नारियों को उलझता प्रदर्शित किया जाता है। 'कर्मभूमि' का अमरकान्त भी कई नारियों से उलझता है परन्तु प्रेमचन्द की कल्पना में निहित नीति उसे उलझाकर भी एक नहीं होने देती। काशी में वह अपनी पत्नी सुखदा के साथ रहत है। सकीना से भेंट हो जाती है तब यह उसी ओर लपकता है। सकीना उस पर मुग्ध हो जाती है। वह कुल-लाज, लोकलाज सबको भुलाकर अमरकान्त के साथ चलने को उद्यत हो जाती है। प्रेमचन्द की नीति बीच में आ जाती है, वह नर नारी के सहज आकर्षण का स्पर्श मात्र करके पीछे हट जाती है। अमरकान्त में लोकलाज का प्रादुर्भाव हो जाता है। वह काशी से भागकर एक पहाड़ी गाँव में जाकर शरण लेता है, वहाँ उसे मुन्नी भिखारिन के निकट-सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। रात के समय एकान्त पाकर मुन्नी प्रार्थना करती है :— "बस, इतना ही चाहती हूँ कि तुम मुझे अपनी समझो, मुझे मालूम हो कि मैं भी स्त्री हूँ, मेरे सिर पर भी कोई है, मेरी जिन्दगी भी किसी के काम आ सकती है।" भावुकता से भरा प्याला थोड़ा-सा रस पाकर उछलने लगता है। यह आत्मसमर्पण उसे विचलित कर देता है। मन विवेक का बन्धन ढीला करके मुक्त होने के लिए छटपटा उठता है। अमरकान्त कह उठता है—"आओ, हम तुम कहीं चले चलें, मुन्नी!" प्रेमचन्द की चेतना में विराजमान संयम आगे बढ़ जाता है और उसकी कलम को रोक लेता है। झट

मुन्नी करवट ले लेती है और कहती है—"मैं तुम से सगाई नहीं करूँगी। तुम्हारी रखेली भी नहीं बनूँगी। तुम मुझे अपनी चेरी समझते रहो, यही मेरे लिए बहुत है।" इस प्रकार नीति ने, संयम ने सहज पिपासा को अतृप्तावस्था में ही रहने दिया। यही संयम प्रेमचन्द को उत्तरवर्गी व्यक्ति वैचित्र्यवादी उपन्यासकारों में विशेष स्थान दिलाने में समर्थ कहा जा सकता है।

मुन्नी ने भावना-विरोध का मार्ग अपनाया था। उसने पति की भावना का, पुत्र के मोह का अनादर किया था। फलतः उसका जीवन अधूरा था, अतृप्त एवं नीरस था। अमरकान्त के गाँव न आने पर वह अपनी भूल को समझने लगती है। इसी भूल के कारण वह अपने प्रिय पति तथा प्रिय पुत्र से वंचित हो जाती है। अब अमरकान्त उसे अपने साथ कहीं ले चलने को उद्यत है, परन्तु उसका विवेक अथवा प्रेमचन्द की नीति उसको आगे बढ़ने से रोक लेती है। लेखक उसे अब भावना-विरोध का दुष्परिणाम समझाकर कोमल-तरल बना लेता है। अब वह उसकी वृत्ति का उदात्तीकरण करना चाहता है। प्रेमचन्द 'कर्मभूमि' के माध्यम से यह सन्देश देना चाहते हैं कि ज्ञान और भाव का सामंजस्य होना चाहिए। इससे जीवन में सन्तुलन हो जाता है। ज्ञान बुरा नहीं, भाव भी अच्छा है परन्तु एक-दूसरे के बिना वे अधूरे हैं। इनकी अपूर्णता जीवन में असन्तुलन उत्पन्न करके अतृप्त की सृष्टि करती है। 'आनन्द' जीवन का लक्ष्य है। वह इन दोनों के सामंजस्य से उपलब्ध होता है। अमरकान्त और मुन्नी के द्वारा लेखक ज्ञान और भाव के सामंजस्य का प्रतिपादन करने में समर्थ हो सका है। 'कर्मभूमि' के पहले दो भागों में यही जीवन-तथ्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया है। अगले भागों में सभी पात्र अपने उदात्तीकृत रूप में हमारे सम्मुख आते हैं।

प्रेमचन्द मानव की वृत्तियों का दमन सम्भव नहीं मानते हैं। उनका यह मन्तव्य है कि सदुपयोग से वृत्तियाँ व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, सर्व संसार के लिए मंगलकारिणी हो सकती हैं। लोभ की वृत्ति बुरी मानी जाती है। परन्तु यदि लोभवृत्ति का दमन कर दिया जाए तो धर्म-प्रेम, जाति-प्रेम, देश-प्रेम और विश्व-प्रेम की कल्पना ही समाप्त हो जाए। ये सब उत्तम प्रेम लोभमूलक ही हैं। प्रेम का प्रथम अवयव लोभ ही माना जाता है, अतः लोभ वृत्ति का विनाश लाभदायक नहीं परन्तु उसका उदात्तीकरण एवं सदुपयोग मंगलप्रद है। प्रेमचन्द का समरकान्त धन का लोभी है। इसी के कारण उसके जीवन की सब कामनाएँ अतृप्त रहती हैं। वह अपने पुत्र से, परिवार से विमुक्त हो जाता है। अन्त में उसकी आँखें खुलती हैं। वह अपनी भूल समझता है। वह धर्म, देश, जाति के प्रति लोभ करके अपनी वृत्ति का उदात्तीकरण कर लेता है, जिससे उसके जीवन की अतृप्ति तृप्ति में परिणित हो जाती है।

सुखदा में आत्मसम्मान और मिथ्या अभिमान का विलक्षण सम्मिश्रण है। इस सम्मिश्रण में से 'मिथ्या' का अंश निकल जाने पर ही उसका परिष्कार किया जा सकता है। इसी उद्देश्य से प्रेमचन्द उसे भी समरकान्त की भाँति व्यक्ति के संकुचित क्षेत्र से बाहर करके सामाजिक धरातल पर लाने का उपक्रम करते हैं। मन्दिर में कथा होती है। कथा संचालक हरिजनों को मन्दिर में प्रविष्ट नहीं होने देते। डा० शान्तिकुमार उनके अधिकारों की रक्षा के लिए हरिजन-सभा बुलाते हैं और उन्हें बलपूर्वक मन्दिर में प्रविष्ट हो जाने के लिए उत्तेजित करते हैं। समरकान्त के इशारे पर पुलिस उन हरिजनों पर गोली चला देती है। वे हताहत होने लगते हैं। सुखदा का हृदय द्रवीभूत हो जाता है। उसके तरल-प्रवाह में मिथ्या अभिमान बह जाता है और वह उदात्त चरित्रा हो जाती है। लेखक इसी तथ्य को इन शब्दों में उल्लिखित कर देता है—"वही तेजस्विता, जो अभिमान बनकर उसे विलासिनी बनाए हुई थी, जो उसे छोटों से मिलने न देती थी, जो उसे किसी से दबने न देती थी, उत्सर्ग के रूप में उबल पड़ी।" गोलियों की मार से भयभीत होकर भागने वाले सत्याग्रही वीरों के पाँव संभल गए। एक महिला को गोलियों के सामने खड़ी देखकर कायरता भी लज्जित हो गई।

मानव की कोई भी वृत्ति बुरी नहीं। उसके विनाश या दमन की आवश्यकता नहीं। उसे तो वैयक्तिक घेरे से बाहर सामाजिक क्षेत्र में प्रवृत्त करने की आवश्यकता है। इससे वही वृत्ति लोकमंगल विधायिनी बन जाती है। प्रेमचन्द इसी तत्त्व का प्रदर्शन इस उपन्यास के द्वारा करना चाहते हैं। इसी प्रधान लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उन्होंने देश की राजनीतिक प्रवृत्तियों के अनुशीलन का अवसर भी प्राप्त कर लिया है। हम उन समीक्षकों के साथ सहमत नहीं हो सकते हैं जो इसी प्रासंगिक अनुशीलन के आधार पर उन्हें आंचलीय या एक विशिष्ट कालीन उपन्यासकार सिद्ध करने का यत्न करते हैं, अथवा उनके उपन्यासों में केवल सामयिक समस्याओं का ही चित्रण स्वीकार करते हैं और जो साध्यरूप से प्रतिपादित मनो-वैज्ञानिक तत्वों की उपेक्षा कर देते हैं।

सुखदा के उत्सर्ग का शुभ परिणाम निकलता है। मन्दिर के द्वार हरिजनों के लिए भी खोल दिये जाते हैं। सुखदा आज विजय की देवी है। उसकी विजय राजनीतिक विजय ही नहीं नैतिक विजय है। उसने अपनी दूषित मनोवृत्ति पर शासन करने में विजय प्राप्त की है। मनोवृत्तियों पर विजय पानेवालों पर फूलों की वर्षा होती है, रुपयों की वर्षा होती है। यहाँ वृत्ति का नाश नहीं हुआ उदात्तीकरण हुआ है, उसे एक स्थूल विषय से हटाकर सूक्ष्म विषय के साथ जोड़ दिया गया है; वह नियन्त्रित हो गई है।

आजकल बुद्धि व्यवसायात्मक व्यापारों की वृद्धि हो रही है। कहा जाता है

कि सभ्यता बढ़ रही है। इस सभ्यता ने मानव की वृत्तियों को अपने नीचे ढाँप लिया है। शुभ से शुभ, उच्च से उच्च कर्म के मूल में भी मानव की वृत्ति का सम्बन्ध बना हुआ है। प्रेमचन्द ने इन तथाकथित देशप्रेम के, स्वतन्त्रताप्रेम के मूल में कुलबुलाती वृत्तियों के अनुशीलन का सराहनीय प्रयास किया है।

डा० शान्तिकुमार अध्यापक हैं और सार्वजनिक कार्यों में बढ़-चढ़कर भाग लेता है। सच्चे सत्याग्रहियों की भाँति वह डटकर लाठियों की मार भी सहता है। वह सेवाव्रत के आधार पर अपने जीवन का निर्माण कर रहा है। वह अविवाहित है। जब नैना अमरकान्त के पुत्र को लाकर डा० शान्तिकुमार की गोद में बिठलाती है तो इस सामान्य व्यापार की प्रतिक्रिया बड़ी विलक्षण होती है। निस्सन्देह, प्रेमचन्द सेवा-उत्सर्ग आदि नैतिक गुणों के पक्षपाती हैं परन्तु वे मनोवृत्तियों का दमन करनेवालों के साथ सहमत नहीं हैं। इन वृत्तियों के ध्वंस पर जीवन-भवन का निर्माण करनेवालों की भूल को स्पष्ट करने के लिए डा० शान्तिकुमार की मानसिक प्रतिक्रिया का चित्रण इस रूप में करते हैं :—"आज उन्हें स्वयं अपने जीवन में एक अभाव का, एक रिक्तता का आभास हुआ। जिन कामनाओं का वह अपने विचार में सम्पूर्णतः दमन कर चुके थे, वह राख में छिपी हुई चिनगारियों की भाँति सजीव हो गई।"

यद्यपि 'कर्मभूमि' में सामाजिक समस्याओं को प्रासंगिकरूप से ही लाया है तथापि उनका अनुपात अधिक होता प्रतीत होता है। फलतः कभी-कभी सामाजिकता उपन्यास के वातावरण में प्रमुखता प्राप्त करने लगती है और वैयक्तिकता दबने लगती है। प्रेमचन्द इसको उभारने के लिए विश्लेषण पद्धति का अनुसरण करते चलते है। सार्वजनिक कार्यों में संलग्न हो जाने पर भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के बन्धन में जकड़ा ही रहता है। वह उससे सर्वथा विलिप्त नहीं हो सकता। यह तथ्य उपन्यास के इतिवृत्त से सुस्पष्ट हो जाता है। सुखदा सर्वथा जिस जीवन को मजदूरों के मकान बनवाने के लिए म्यूनिसिपल बोर्ड से खरीदना चाहती है बोर्ड के मेम्बर उसे अन्य किसी धनवान को देने का फैसला कर देते हैं। सुखदा इस निर्णय के विरुद्ध हड़ताल करवाना चाहती है। डा० शान्तिकुमार में इस कार्य के प्रति विशेष उत्साह नहीं है। नैना भी इस कार्य में सुखदा का साथ नहीं दे पाती है। सामान्य जन जिनके लाभ के लिए वह संघर्ष करना चाहती है—भी अपने वैयक्तिक स्वार्थों की चिन्ता के कारण इस समष्टि-कार्य में संलग्न होने से झिझकते हैं। प्रेमचन्द ने यह सारा वर्णन बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है। यदि सुखदा को इस सार्वजनिक कार्य में सबसे अधिक उत्साह है, रुचि है तो उसके मूल में उसका निजी व्यक्तित्व है। यदि सामान्य जन हड़ताल में पूरा सहयोग नहीं दे पाते तो उसके मूल में भी उनका व्यक्तिगत स्वार्थ है। यदि शान्तिकुमार इस हड़ताल को

पसन्द नहीं करता तो इसमें भी उसका अपना स्वार्थ छिपा हुआ है। यदि नैना को यह आन्दोलन नहीं भाता तो उसकी अपनी वैयक्तिक परिस्थितियाँ ही इसमें मूल कारण हैं। ये सब के सब सर्वजनहिताय की भावना से प्रेरित होकर कार्य करने वाले हैं परन्तु वे भी अपना व्यक्तित्व नहीं भुला सके हैं। इसी के स्पष्टीकरण में प्रेमचन्द को सार्वजनिक कार्यों की व्याख्या में अपनी कथावस्तु का अधिक भाग लगा देना पड़ा है। परिणामस्वरूप सामाजिकता उभरती प्रतीत होती है, वैयक्तिकता दबने लगती है। यही कारण है कि उन्हें कुछ देर तक इन्ही प्रसंगों का उल्लेख करने के उपरान्त अपनी ओर से विश्लेषण करने के लिए स्वयं उपस्थित होना पड़ता है। सुखदा के अन्तस्तल में अज्ञानरूप से प्रेरणा देनेवाली वैयक्तिकता का दर्शन कराने के लिए वे लिखते हैं कि "सुखदा सन्ध्या करने बैठी हुई थी। उस गहरे आत्मचिन्तन में उसके मन की दुर्बलता किसी हठीले बालक की भाँति रोती हुई मालूम हुई। क्या मणिराम ने उसका अपमान न किया होता तो वह हड़ताल के लिए इतना जोर लगाती ?"

सुखदा की प्रेरणा से नगर में हड़ताल हो जाती है। सरकार उसे गिरफ्तार कर जेल में डाल देती है। जनता उसका जयजयकार करती है। जैसे व्यष्टि रूप में मानव का अपना निजी व्यक्तित्व उसे परिचालित करता है ठीक उसी प्रकार समष्टिरूप में मानव अपने सामूहिक व्यक्तित्व से नियन्त्रित रहता है। व्यष्टि की मनोवृत्तियों से ही सर्वथा विलक्षणरूप में समष्टि मनोवृत्ति का निर्माण हो उठता है। इस तथ्य का दिग्दर्शन भी उपन्यास की घटना द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। उपन्यास की निम्नलिखित पंक्तियाँ सुखदा के सामूहिक व्यक्तित्व पर प्रकाश डाल रही हैं :—

"सुखदा के हृदय में गर्व न था, उल्लास न था, द्वेष था, केवल वेदना थी, जनता की इस दयनीय दशा पर, इस अधोगति पर जो डूबती हुई दशा में तिनके का सहारा पाकर भी कृतार्थ हो जाती है।"

किसी कार्य का केवल औचित्य ही उसे करने के लिए उत्साह प्रदान नहीं रता है। जब वह औचित्य किसी मानसिक वृत्ति के रस से संसिक्त हो जाता है तब वह कार्य करने की तत्परता को द्विगुणित कर देती है। अमरकान्त का इतिवृत्त यह तथ्य स्पष्ट कर देता है। अमरकान्त की भावनापरिधि में सामाजिकता प्रारम्भ से ही है। वह अपने स्वप्नों का धनी है। रैदासों के, अछूतों के गाँव में, अपने स्वप्नों की मधुर झाँकी से मन्त्रमुग्ध हो निवास कर रहा है। उसे पता चलता है कि उसकी अभिमानिनी पत्नी सुखदा अपनी सहज विलासिता को तिलांजलि देकर सार्वजनिक कार्यों में बढ़-चढ़कर भाग ले रही है और उसने काशी के नागरिक जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया है। सलीम इसी इलाके में आई-ए० एस०

की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् उच्चाधिकारी बनकर आ जाता है। जब अमरकान्त उससे मिलता है तब उसे अपनी पत्नी के उत्सर्ग की सूचना मिलती है। वह अत्यन्त विस्मित होता है। जिन बातों की वह कल्पना भी नहीं कर सकता था वही बातें सुखदा के हाथों सम्पन्न हो गई हैं। उसे स्पर्धा होती है। उसके वृत्ति-मण्डल में आवेग का संचार होता है। उसके जीवन में उत्साह का प्रवेश होने लगता है। वह अपनी जीवन-यात्रा में अब एक नये घोड़े पर सवार हो सरपट भागने लगता है। अपनी लगन, कार्य-तत्परता, उत्साह तथा आत्मबल से वह अपने सह-योगियों पर शासन करने लगता है फिर भी वह अपनी भावना का दास ही रहता है। अभी वह अपनी वृत्ति पर शासन नहीं कर सकता है। मुन्नी का शासन अब भी उस पर पूर्ववत् चल रहा है। जब वह सामने आती है तो उसे अपनी सम्मोहिनी शक्ति से आत्मविस्मृत सा कर डालती है।

जन-समूह की मनोवृत्ति का भी इस कथानक द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। जनता मानववृत्तियों से खेलनेवाले, भड़काने वाले के पीछे चलती है। वह अन्धी होती है। एक दिशा में कदम बढ़ाकर वह बहरी हो जाती है, कुछ सुनती ही नहीं। इस कथानक में आत्मानन्द इसी प्रकार का क्रान्तिवादी है जो जनता को भड़काकर आग में धकेल देता है और फिर आप भाग जाता है। हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के आन्दोलन में भाग लेता है परन्तु जब पुलिस की गोलियाँ बरसती हैं तो भाग खड़ा होता है। वह काशी में अमरकान्त के पास पहुँच जाता है। वस्तुओं के भाव अचानक गिर जाते हैं। किसानों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो जाती है। वे सरकारी लगान भी दे नहीं पाते हैं। किसानों की सभा होती है। आत्मानन्द जनता को भड़का देता है। इस इलाके का जमींदार महन्त है। जनता ठाकुरद्वारे को घेरने को उद्यत हो जाती है। अमरकान्त क्रान्ति के उपाय को सर्वनाश का मार्ग समझता है। वह जनता को इस मार्ग से हटाना चाहता है परन्तु जनता उसकी एक नहीं सुनती। अमरकान्त महन्त से मिलकर परस्पर सद्भावना से मामला निपटाने का प्रयास करता है।

प्रसंगवश इन ठाकुरद्वारों और महन्तों का चित्रण भी हो गया है। आस-पास मन्दी के कारण सारी प्रजा आर्थिक कठिनाई का सामना कर रही है। किसान एक-एक दाना बेच डालता है, भूसे का एक तिनका भी अपने पास नहीं रखते लेकिन सब कुछ करने पर भी वे लगान का चौथाई भाग भी दे नहीं पाते हैं। दूसरी ओर ठाकुरद्वारे में उत्सव होते हैं, भण्डारे के लिए बड़ी-बड़ी कढ़ाइयों में पूरियाँ-कचौरियाँ बन रही हैं। अमरकान्त इस विषमता को देखकर अत्यन्त चकित होता है। सात दिन की प्रतीक्षा के पश्चात् वह महन्त से मिल पाता है। महन्त लगान में आधी छूट देने का आश्वासन देता है परन्तु दो सप्ताह बीत जाने पर भी इस छूट की

विधिवत् घोषणा नहीं करता ।

अन्त में महन्त सरकारी फैसले के आने तक रुपये में चार आने की छूट की घोषणा कर देता है । महन्त के कारिन्दे बकाया लगान वसूल करने के लिए चेष्टा करने लगते हैं । इस नई स्थिति पर विचार करने के लिए किसानों की सभा होती है । अमरकान्त जनता को शान्ति-मार्ग अपनाने का परामर्श देता है और क्रान्ति का विरोध करता है। इसी बीच उसे बहन नैना के पत्र से सुखदा की गिरफतारी की सूचना मिलती है । भावावेश में आकर वह शान्ति का मार्ग छोड़ देता है और जनता को क्रान्ति के लिए भड़काने लगता है । सरकार अमरकान्त को गिरफतार कर लेती है ।

राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक जीवन के अतिरिक्त भी मानव जीवन है । बाह्य जीवन में विचरता हुआ, उच्च कोटि की राजनीति की, धर्म की, संस्कृति की, परोपकार की तथा उदारता की बातें करने वाला, व्यक्ति अपने अन्तर्जगत् में कुलबुलानेवाली चित्रवृत्तियों के शासन में आकर सुख दुःखात्मक अनुभूतियाँ करता ही है । ये ही तो उसकी मूल अनुभूतियाँ हैं । शेष सब व्यापार या विकार का बाह्य स्थितिजन्य हैं । भले ही कोई साधु हो, महात्मा हो, वीतराग हो, संन्यासी-त्यागी-परोपकारी सर्वजनहितकारी हो वह इन दो अनुभूतियों से रहित नहीं हो सकता । इन्हीं से रासायनिक मिश्रण से बननेवाली वृत्तियों का दमन करना जीवन का दमन करना है, निर्जीव बनना है । सुखदा निर्धनों के लिए एक शक्तिशाली सरकार से टक्कर लेने को उद्यत हो जाती है । उसे सरकार की तोपें, लाठियाँ, लोगों की निन्दा-स्तुति विकल नहीं कर सकती हैं परन्तु जब उसे बाह्य जीवन से पृथक् करके जेल की कोठरी में डाल दिया जाता है तब उसका अन्तर्जगत् सक्रिय हो उठता है । बाहर के आन्दोलन सबकी दृष्टि में आते हैं, अन्तश्चेतना की हलचल को सब नहीं जान सकते हैं । जो सुखदा अपनी वक्तृताओं से जनता को प्रचण्ड अग्नि में भी जलने के लिए प्रेरित कर सकती है, जो अपने स्वार्थ का, सुख का परित्याग कर सकती है वही सुखदा अपने पति अमरकान्त की गिरफ्तारी का समाचार सुनकर अपने ससुर समरकान्त को उसकी सहायता के लिए चले जाने का आग्रह करती है । सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सन्देश 'कर्मभूमि' के द्वारा लेखक यही देना चाहता है कि संसार में कोई भी व्यक्ति हर्ष-क्षोभ से, अपने योग-क्षेम से, हानि-लाभ से, स्वार्थ चिन्तन से रहित नहीं हो सकता है । इनके अभाव में मानव मानव ही नहीं रहता, वह देवता भी नहीं हो सकता है । वह तो जड़ हो जाता है । स्वार्थ तुच्छ हो तो स्वार्थ कहलाता है, बड़ा हो 'उपकार' कहलाता है अतः वृत्तियों का दमन भ्रान्ति है । इन्हें कोमल या तरल बनाकर किसी उत्तम साँचे में ढालने की आवश्यकता है । यही इस उपन्यास

का नैतिक पक्ष है ।

समरकान्त सलीम से मिलता है । धर्म की बड़ी गहरी बातें करता है । धर्म की ऊँची बातों के मूल में स्वार्थ अन्तर्हित है । समरकान्त पुत्रमोह से प्रेरित होकर ही सलीम से मिलने आया है । पुत्र जेल में है । वहाँ उसे कष्ट न हो यही चिन्ता उसे यहाँ ले आई है । ऊँची धर्म की बातों के बीच में से उचकती मोहवृत्ति अपना कार्य करती दृष्टिगोचर होती है । ऐसे स्थलों को पढ़ते समय प्रेमचन्द की कला में नीति का – उपदेश का– भ्रम होने लगता है ।

उपन्यास के अन्तिम भाग में प्रायः सभी प्रधान पात्रों की मनोवृत्तियाँ परिस्कृत तो हो गई हैं परन्तु उनका सर्वथा अभाव नहीं हो सका है । वे अपने स्वार्थ का नाश नहीं कर सके हैं । वे अपने स्वार्थ के साथ परस्वार्थ को लेकर चलते हैं । इसी में मानव जीवन की व्यापकता एवं सार्थकता है । लेखक की दृष्टि इसी पूर्णता पर टिकी हुई है । अमरकान्त समझौते के मार्ग का समर्थक है परन्तु नैना के पत्र को पढ़ते ही युद्ध का मार्ग अपना लेता है । जेल में उसके भाव का आवेश शान्त होता है । तब उसे पता चलता है कि उसके इस कार्य के मूल में उसकी अपनी मनोवृत्ति ही है । वह सारी स्थिति पर विवेचना करने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचता है कि "मालूम हुआ, यह यश-लालसा का, व्यक्तिगत स्पर्धा का सेवा के आवरण में छिपे हुए अहंकार का खेल था ।" यह स्पष्ट है कि लेखक इस उपन्यास में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति को अपना रहा है । उससे सामाजिक क्षेत्र में मनोवृत्तियों के प्रसार का स्वरूप अंकित करके उनके परिष्कार का उपाय सुझाया है ।

व्यक्ति वैचित्र्यवादी उपन्यासकार अपने पात्रों को प्रायः अधम, नीच एवं कुत्सित वृत्तियों का दास सिद्ध करते हैं । 'कर्मभूमि' में भी मानव के अन्तस्तल को इसी प्रकार नीच सिद्ध करने का प्रयास परिलक्षित होता है । निस्सन्देह मानव-मन का यह रूप सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं के जाल में विलीन सा हो गया है । राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेने से, कुछ दीन, असहाय तथा निर्धन व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति दिखलाने से ही कोई व्यक्ति तुच्छ या महान् नहीं बन सकता । चोरी आदि नीच कृत्यों में संलग्न व्यक्ति भी अपनी अन्तश्चेतना में उदात्त हो सकता है । जेल के अन्दर कालेखाँ डाकू में ईश्वरनिष्ठा, परसेवा, धार्मिक भावना का सजीव रूप देखकर, जाति का नेता, दीन-हीन किसानों के लिए संकट में पड़नेवाला अमरकान्त जब भारत निरीक्षण करता है तो उसे आत्म-ग्लानि होती है । वह अपने आप को कालेखाँ की तुलना में नीच एवं अधम पाता है । वह अपने आप को सुखदा से भी अधिक विलासता में लिप्त अनुभव करता है । वह अपने आपको मुन्नी और सकीना के प्रति भी अपराधी समझता है और सोचता है कि उसे दोनों रमणियों के चरणों पर सिर रख कर यह कहना चाहिए :—"देवियो ; मैंने तुम्हारे साथ छल

किया है, तुम्हें दगा दी है। मैं नीच हूँ, अधम हूँ, मुझे जो सजा चाहे दो, यह मस्तक तुम्हारे चरणों पर है।" उक्त शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द के इस उपन्यास में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का अव्यक्त रूप अंकित हो गया है। उत्तरवर्ती उपन्यासकारों के पात्रों से प्रेमचन्द के अमरकान्त की समता की जा सकती है। अन्तर केवल इतना ही रहता है कि अमरकान्त अपना आत्मपरिष्कार कर लेता है। उसकी वृत्तियाँ पतित होकर भी घृणित नहीं, गर्हित नहीं। उनके द्वारा जो कार्य किये गए हैं उनकी भी उपयोगिता सिद्ध की जा सकती है। उनके द्वारा नीचता की, पशुता की वृद्धि नहीं हुई है अपितु सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों के जीवन में सुधार हुआ है, परिष्कार हुआ है। प्रेमचन्द की दृष्टि कला-सौन्दर्य की सृष्टि के साथ उसके प्रभाव-पक्ष पर भी रहती है अतएव वे अपने कुत्सित पात्र को भी बाह्य रूप में चित्रित करने का दुःस्साहस नहीं कर सके हैं।

प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' के अन्तिम भाग में अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को प्रतिफलित करने का प्रयास किया है। काशी में सत्याग्रह हो रहा है। सकीना की माता पठानिन इसी सत्याग्रह में भाग लेती है और गिरफ्तार हो जाती है। उसके पश्चात् समरकान्त आता है, रेणुका देवी आती है, शान्तिकुमार आते हैं और गिरफ्तार हो जाते हैं। गिरफ्तार हो जाने से पहले वे जनता के सम्मुख अपना भाषण देते हैं। इन भाषणों में प्रेमचन्द की अनुभूतियाँ तथा सिद्धान्त प्रतिध्वनित होते दीखते हैं। उनकी निर्धनों के प्रति सहानुभूति, मानवता के प्रति अटल विश्वास, त्याग, सेवा, बलिदान की भावना, सत्य और अहिंसा पर विश्वास ये सभी बातें इन भाषणों में भरी पड़ी हैं। यह भाग कथानक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होने पर भी व्यक्तित्व की अभिव्यंजना की दृष्टि से महत्त्वशाली हो गया है।

नैना देवी भी सत्याग्रहियों में सम्मिलित हो जाती है। उसका पति मणिराम उसकी हत्या कर देता है। इस बलिदान में मणिराम के पिता धनीराम की आत्मा परिवर्तित हो जाती है और कथा में आकस्मिक मोड़ आ जाता है। किसानों के लगान-सम्बन्धी आन्दोलन में तथा मजदूरों के मकानों के सम्बन्ध में किये गए आन्दोलन में गिरफ्तार होनेवाले सभी प्रधान पात्र सेठ धनीराम के प्रयत्न से मुक्त कर दिये जाते हैं। एक मांगलिक वातावरण में कथा की समाप्ति होती है। कथा के इस अन्त में आदर्श की गन्ध निहित है यद्यपि कथा का पर्याप्त भाग यथार्थ के सहारे संयोजित किया गया है। प्रेमचन्द का यह उपन्यास अपने उत्तरवर्ती उपन्यासकारों की प्रवृत्ति की भूमिका निर्माण करने में उपयोगी स्वीकार किया जा सकता है। लेखक की साहित्यिक यात्रा का यह एक ऐसा पड़ाव है जहाँ से वे इस अन्तिम शिखर पर चढ़ने की तैयारी करेंगे जिस पर चढ़ कर उन्हें और चढ़ना शेष नहीं रहेगा।

●

: २४ :

गबन् : एक समीक्षा

डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द ने हिन्दी-उपन्यास को न केवल विविध विषय दिए हैं, अपितु उन्हें अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से चरम उत्कर्ष भी प्रदान किया है। 'ग़बन' उनके श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यासों में से एक है। इसमें नायक रमानाथ द्वारा ग़बन किये जाने की घटना की नींव पर पूरे उपन्यास का भवन खड़ा किया गया है। यह घटना आकस्मिक नहीं है, इसके लिए उपन्यासकार ने परिस्थितियाँ तैयार की हैं और जालपा की आभूषणप्रियता तथा रमानाथ के मिथ्याप्रदर्शन को ग़बन के लिए कारणरूप माना है। उन्होंने चरित्रों के पूर्ण विकास के लिए ही घटनाओं का संयोजन किया है, फलतः इसमें चरित्र प्रधान हैं, न कि घटना। उपन्यास की पूरी कहानी रमानाथ और जालपा के चारों ओर घूमती है और उन्हीं के गुणावगुणों का विश्लेषण करती है। प्रेमचन्द द्वारा की गई उपन्यास की परिभाषा—मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ—के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि उनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है। कतिपय आलोचक इसे समस्याप्रधान उपन्यास की कोटि में रखते हैं, क्योंकि इसमें आभूषणप्रियता, विधवा-विवाह पुलिस के हथकंडे, रिश्वत आदि की अनेक समस्याएँ विद्यमान हैं। वस्तुतः समस्याप्रधान उपन्यास का चरित्रप्रधान उपन्यास अथवा सामाजिक उपन्यास से कोई विरोध नहीं है। घटनाओं की सामाजिकता किसी न किसी समस्या पर आधारित रहती है और समस्याओं के द्वारा किसी विशिष्ट पात्र की चरित्रगत सूक्ष्म विशेषताओं को मुखर किया जा सकता है। निष्कर्षरूप में प्रेमचन्द का 'ग़बन' उपन्यास चरित्रप्रधान समस्यामूलक सामाजिक उपन्यास है। अब यह उपयुक्त होगा कि उपन्यास के तत्त्वों की दृष्टि से इस कृति की विवेचना कर ली जाए।

कथावस्तु

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक एक मध्यवर्गीय परिवार से सम्बद्ध है। इस परिवार के दो पात्रों— रमानाथ और जालपा—की कथा को आधिकारिक कथा के

रूप में प्रस्तुत किया गया है और रतन, देवीदीन तथा जोहरा की कथाएँ प्रासंगिक कथाएँ हैं। इन उपकथाओं का मुख्य कथा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थात् ये मुख्य कथा के विकास में सहायक सिद्ध हुई हैं। उदाहरणतया मुख्य कथा के उत्तरार्द्ध का विकास अधिकांशतः देवीदीन की कथा पर आधारित है और जोहरा थी कथा के द्वारा ही रमानाथ का कायापलट सम्भव हो सका है। मुख्य कथा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : रमानाथ के प्रयाग छोड़ने तक की कथा पूर्वार्द्ध है और कलकत्ते में रहने से लेकर अन्त तक की कथा उत्तरार्द्ध के अन्तर्गत आती है। इन दोनों के मध्य संयोजक अंश देवीदीन की कथा है। इन दोनों कथाओं में मुख्य व्यक्ति रमानाथ ही है। ग़बन करके किसी व्यक्ति का दूसरे नगर में भाग जाना परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल है और देवीदीन जैसे व्यक्ति का, जिसने अपने दोनों पुत्रों को देश की स्वतन्त्रता के लिए अर्पित और बलिदान कर दिया, विपत्ति में पड़े हुए रमानाथ की सहायता करना भी सर्वथा स्वाभाविक है। यह धारणा ठीक नहीं है कि प्रेमचन्द 'ग़बन' में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की कथाओं को सुसम्बद्ध नहीं कर पाए हैं। वस्तुतः 'ग़बन में कथात्मक एकता का पूर्ण निर्वाह हुआ है। कथा के तन्तु परस्पर सुगुम्फित और सुसंगठित हैं तथा इनमें कारण-कार्य-शृंखला विद्यमान है। उदाहरणतया जालपा का आभूषण-प्रेम और रमानाथ का मिथ्याप्रदर्शन कारण है, ग़बन कार्य और रमानाथ का पुलिस के हाथों की कठपुतली बनना ग़बन का परिणाम है। यदि रमानाथ आरम्भ में ही जालपा को घर की परिस्थितियों से परिचित करा देता तो उसे ग़बन करने की आवश्यकता न पड़ती और यदि रमानाथ को ग़बन के फलस्वरूप जेल जाने का भय न होता तो वह कभी भी पुलिस का मुखबिर नहीं बनता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ग़बन' की कथा में सुसम्बद्धता और स्पष्टता सर्वत्र विद्यमान है।

उपन्यास की सफलता कथानक की रोचकता और घटनाओं की मौलिक नियोजना में निहित रहती है। प्रस्तुत उपन्यास के कथानक में इन विशेषताओं का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उपन्यास के आरम्भ में ही बिसाती और तत्पश्चात् जालपा की माता मानकी द्वारा जालपा से यह कहने पर कि 'चन्द्रहार तेरी ससुराल से आएगा,' पाठक के मन में कौतूहल का बीजारोपण हो जाता है। वह आगे की घटनाओं को जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। कथानक के उत्तरार्द्ध में भी रमानाथ के पुलिस का मुखबिर बन जाने पर जब एक ओर जालपा उसे सत्य बोलने के लिए प्रेरित करती है और दूसरी ओर पुलिस अधिकारी उसे धमकी देते हैं तब पाठक के मन में कौतूहल होता है कि देखें रमानाथ का मन किस पक्ष की ओर झुकता है। निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि 'ग़बन' की कथावस्तु में सुसम्बद्धता, रोचकता, स्पष्टता, मौलिकता, आदि विशेषताएँ विद्यमान हैं।

चरित्र-चित्रण

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की भाँति इस उपन्यास के पात्र भी दोहरे व्यक्तित्व से युक्त हैं। यदि वे एक ओर समाज के किसी विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर उनका निजी व्यक्तित्व भी है। 'गबन' में रमानाथ, जालपा, दयानाथ आदि मध्य वर्ग के प्रतिनिधि पात्र हैं। उनके द्वारा मध्यवर्गी समाज की आभूषणप्रियता मिथ्याप्रदर्शन की भावना, अनमेल विवाह आदि कुप्रवृत्तियों को मुखर किया गया है। इसके अतिरिक्त रमानाथ में पत्नी के प्रति अटूट प्रेम, सरलता, सौजन्य आदि गुण तथा जालपा में दृढ़ता, पति-भक्ति, समयानुकूल कार्य करने की शक्ति आदि गुण भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार रतन तथा वकील उच्च वर्ग के, तथा देवीदीन और बुढ़िया जाति के खटीक होने के कारण निम्नवर्ग के, प्रतीक होते हुए भी अपनी निजी विशेषताओं से युक्त हैं।

प्रेमचन्द ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण मानव-जीवन के अनुरूप किया है। उनके पात्रों में साधारण व्यक्ति की भाँति गुण और अवगुण दोनों विद्यमान हैं। वे आरम्भ से अन्त तक आदर्श के पुतले नहीं हैं, अपितु उनका चरित्र परिस्थितियों के अनुरूप गतिशील है। उदाहरणतया रमानाथ के पिता दयानाथ यद्यपि इतने आदर्श-भक्त हैं कि उन्होंने सम्पूर्ण जीवन रिश्वत नहीं ली, तथापि परिस्थितियों के चक्र में फँसकर उन्होंने भी रमानाथ के हाथों जालपा के आभूषण चोरी करवाए। जालपा आरम्भ में इतनी विलासप्रिय है कि पति रमानाथ के माथे पर चिन्ता की रेखाओं को देखते हुए भी अनदेखा कर देती है, परन्तु वही जालपा बाद में अपने समस्त ऐश्वर्य को विस्मृत कर त्यागमयी, कर्त्तव्यनिष्ठ नारी बन जाती है। रमानाथ में भी गुण और अवगुण दोनों की स्थिति है। वह एक ओर झूठी शान से पत्नी को प्रभावित करना चाहता है, तो दूसरी ओर उसके प्रति असीम प्रेम के फलस्वरूप स्वयं परेशानियों में फँसे होने पर भी उसे इसका पता तक नहीं लगने देता। उसकी सरलता और सौजन्य ने तो एक वेश्या के जीवन को भी बदल दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द ने मानवीय पात्रों की सृष्टि की है। 'गबन' के पात्र सामान्य मानव के समान दुःख में रोते हैं और सुख में हँसते हैं। उनमें सबलताएँ और दुर्बलताएँ दोनों समान रूप से विद्यमान हैं। यही कारण है कि उनके साथ पाठक का तादात्म्य सहज ही हो जाता है।

प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी सफलता यह है कि उन्होंने पात्रों के आन्तरिक भाव का उद्‌घाटन मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। बचपन से चन्द्रहार की साध लिए जालपा अपने विवाह के चढ़ावे के विषय में जानने के लिए कितनी उत्सुक है, इसका प्रेमचन्द ने कितना सुन्दर वर्णन किया है—"इस गोलाकार जमघट के पीछे अन्धेरे में आशा और आकांक्षा की मूर्ति सी जालपा भी खड़ी थी। और सब

गहनों के नाम कान में जाते थे, चन्द्रहार का नाम न आता था । उसकी छाती धक-धक कर रही थी । चन्द्रहार नहीं है क्या ? शायद इसके नीचे हो ।"[1] एक अन्य स्थल पर जालपा रमानाथ के मुखबिर होने का समाचार जानकर उसके प्रति इतनी कठोर हो जाती है कि उससे मिलना भी पसन्द नहीं करती । परन्तु वही जालपा जब रमानाथ के सत्य बोलने के कारण जेल जाने की खबर सुनती है तो उससे मिलने को उसका नारी-हृदय व्याकुल हो उठता है तथा वह स्वयं को फटकारने लगती है ।[2] रमानाथ, जोहरा, रतन, देवीदीन सबका चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है जिसके कारण चित्रण में मौलिकता, स्वाभाविकता, सहृदयता आदि विशेषताओं का अनायास ही समावेश हो गया है ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द ने चरित्र-चित्रण में विश्लेषणात्मक और नाटकीय दोनों शैलियों का प्रयोग किया है । उन्होंने कहीं तो स्वयं पात्र के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला और कहीं पात्र अपने भावों को स्वतः प्रकट करते हैं । उदाहरणार्थ रमानाथ के यह कहने पर कि वैश्याओं से वफ़ा की क्या उम्मीद हो सकती है, जोहरा की उक्ति कितनी सटीक है—"मुआफ़ कीजिएगा, आप मर्दों की तरफ़-दारी कर रहे हैं । हक़ यह है कि वहाँ आप लोग दिल-बहलाव के लिए आते हैं, महज़ ग़म ग़लत करने के लिए, महज़ आनन्द उठाने के लिए । जब आपको वफ़ा की तलाश ही नहीं होती, तो वह मिले क्योंकर ?"[3] प्रेमचन्द ने मुख्यतः पात्रों के आन्तरिक भावों का चित्रण किया है, परन्तु उनके बाह्य व्यक्तित्व की सर्वथा उपेक्षा नहीं की है । आरम्भ में ही जालपा का परिचय 'एक बड़ी बड़ी आँखों वाली बालिका'[4] के रूप में दिया गया है । रतन की आकृति का वर्णन कितना सजीव है—"इसके प्रतिकूल रतन सांवली, सुगठित युवती थी, बड़ी मिलनसार, जिसे गर्व ने छुआ तक न था .....नाक चिपटी थी, मुख गोल, आखें छोटी, फिर भी वह रानी सी लगती थी ।"[5] इस प्रकार की उक्तियों से लेखक की सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति का सम्यक् बोध हो जाता है ।

कथोपकथन

'गबन' में स्थान-स्थान पर कथोपकथन की सुन्दर योजना मिलती है । उपन्यास के आरम्भ में ही बिसाती और मानकी के कथोपकथन कथा-विकास में सहा-

१. गबन (संक्षिप्त), दसवां संस्करण, पृ० ६
२. देखिए 'गबन' (संक्षिप्त), पृ० १९०
३. ग़बन (संक्षिप्त), पृ० १८३-८४
४. वही, पृ० ३
५. वही, पृ० ५४

यक सिद्ध हुए हैं। जालपा को चन्द्रहार उसकी ससुराल से मिलेगा, मानकी के इस कथन की नींव पर ही पूरे उपन्यास का भवन खड़ा हुआ है। कथा-विकास के अतिरिक्त 'ग़बन' के कथोपकथन द्वारा पात्रों के आन्तरिक भावों का उद्घाटन भी सम्भव हो सका है। जिन सूक्ष्म एवं जटिल भावों को लेखक स्वयं नहीं कह सकता, वे कथोपकथन द्वारा सहज ही प्रकट हो जाते हैं। देवीदीन और रमानाथ का वर्त्तालाप इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है

"रमानाथ—मैं घर से भाग आया हूँ दादा।

देवीदीन ने मूँछों में मुस्कराकर कहा—यह तो मैं जानता हूँ। क्या बाप से लड़ाई हो गई ?

'नहीं ?'

'माँ ने कुछ कहा होगा ?'

'यह भी नहीं ?'

'तो फिर घरवाली से ठन गई होगी।...या गहने के लिए जिद करती होगी, नाक में दम कर दिया होगा। क्यों ?'

रमा ने लज्जित होकर कहा—कुछ ऐसी ही बात थी, दादा। वह तो गहनों की बहुत इच्छुक न थी, लेकिन पा जाती थी तो प्रसन्न हो जाती थी और मैं प्रेम की तरंग में आगा-पीछा कुछ न सोचता था।"[१]

'ग़बन' में कथोपकथन द्वारा कहीं कहीं भावी घटनाओं की सूचना भी दी गई है। जालपा के विवाह के अवसर पर सखियों के वार्त्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि जालपा को विवाह के अवसर पर चन्द्रहार नहीं मिला तो इतने बड़े आभूषण का बाद में बनाना कठिन हो जाएगा।[२] एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि प्रेमचन्द ने जहाँ गम्भीर विचारों से युक्त संवाद रखे हैं वहाँ हल्के फुल्के कथोपकथन का भी नियोजन किया है। इस दृष्टि से जालपा और रमानाथ का कथोपकथन उल्लेखनीय है—

"जालपा ने उठ कर पूछा—पोटली में क्या है ?
रमा०—बूझ जाओ तो जानूं।
जालपा—हँसी का गोलगप्पा है। (कहकर हँसने लगी)
रमा०—गलत।
जालपा—नींद की गठरी होगी ?
रमा०—गलत।
जालपा—तो प्रेम की पिटारी होगी।
रमा०—ठीक! आज मैं तुम्हें फूलों की देवी बनाऊँगा।[३]

१. ग़बन (संक्षिप्त), पृ० १०५
२. देखिए 'ग़बन' (संक्षिप्त), पृ० ११
३. ग़बन (संक्षिप्त), पृ० १८

कथोपकथन की सफलता उनके सजीव, सरल, रोचक, स्वाभाविक एवं प्रसंगानुकूल होने में है। 'ग़बन' के कथोपकथन इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। वे पाठक की रुचि को बनाए रखने में समर्थ हैं। अधिकांश कथोपकथन संक्षिप्त हैं, परन्तु कुछ स्थानों पर दीर्घ संवाद भी प्राप्त होते हैं। उदाहरणतया देवीदीन और रमानाथ के देशभक्ति-विषयक वार्त्तालाप[1] तथा मणिभूषण और रतन का वार्त्तालाप[2] अपेक्षाकृत कुछ लम्बे वार्त्तालाप हैं, परन्तु फिर भी ये इतने अखरते नहीं, क्योंकि ऐसे सभी वार्त्तालापों में प्रायः किसी न किसी समस्या का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इन कथोपकथनों को पात्रानुकूल भाषा में अभिव्यक्त किया गया है, जिससे उपन्यास में स्वाभाविकता की रक्षा हो सकी है।

देशकाल

प्रस्तुत उपन्यास में प्रेमचन्द ने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण प्रसंगवश, परन्तु अत्यन्त विशद रूप में किया है। इस उपन्यास की रचना के समय भारत परतन्त्र था। तत्कालीन पुलिस भारतीय क्रान्तिकारियों को झूठे मुकदमों में फँसाकर किस प्रकार दण्ड दिलाती थी, इसका वर्णन उपन्यास के उत्तरार्द्ध में विस्तार से हुआ है। पुलिस जिसे पकड़ना चाहती थी उसे धमकी देकर और झूठी गवाहियाँ दिलाकर जेल में डाल देती थी। कानून भी उसे ही दण्ड देता था, क्योंकि वह (कानून) भी तो ब्रिटिश सरकार द्वारा ही बनाया गया था। पुलिस और तत्कालीन न्याय-व्यवस्था पर इससे तीव्र व्यंग्य और क्या हो सकता था! गांधी जी द्वारा चलाए गए स्वदेशी आन्दोलन की झलक भी इस उपन्यास में मिलती है। इस आन्दोलन से प्रभावित होकर ही जनता ने विदेशी माल का बहिष्कार कर दिया था। उपन्यास के एक पात्र देवीदीन ने तो अपने दो युवक पुत्रों को इस आन्दोलन की भेंट चढ़ा दिया। पुलिस इस आन्दोलन को विफल करने के लिए प्रयत्नशील थी, परन्तु जनता में देशभक्तों के प्रति अनुराग और देश के प्रति जागृति की भावना उत्पन्न हो चुकी थी, जिसके कारण ब्रिटिश सरकार अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाती थी। इस आन्दोलन की आड़ में जो नेता जनता को धोखा दे रहे थे, उनसे भी प्रेमचन्द अपरिचित नहीं थे। ये नेता जनता को तो स्वदेशी माल खरीदने के लिए प्रोत्साहित करते थे और स्वयं इनके घर विलायती चीजों से समृद्ध थे। अपने समय के इस वातावरण को उपन्यासकार ने 'ग़बन' में अत्यन्त स्पष्ट रूप में चित्रित किया है।

'ग़बन' में तद्युगीन समाज का चित्रण भी अत्यन्त व्यापक रूप में किया गया है। मध्यवर्गीय समाज का आभूषणप्रेम, मिथ्याप्रदर्शन, विधवा विवाह, अनमेल

---

१. देखिए 'ग़बन' (संक्षिप्त), पृ० ११०
२. देखिए 'ग़बन' (संक्षिप्त), पृ० १७१

विवाह, रिश्वत आदि अनेक सामाजिक समस्याएँ अत्यन्त मुखर रूप में प्रस्तुत की गई हैं। जालपा, मानकी, रामेश्वरी, जग्गो, रतन, सभी आभूषणों पर जान देती हैं। इससे खीझकर एक पात्र के माध्यम से मानो प्रेमचन्द बोल उठते हैं "गहनों का मरज न जाने इस दरिद्र देश में कैसे फैल गया। जिन लोगों के भोजन का ठिकाना नहीं वे भी गहनों के पीछे जान देते हैं......उन्नत देशों में धन व्यापार में लगता है जिससे लोगों की परवरिश होती है और धन बढ़ता है। यहाँ धन शृंगार में खर्च होता है।"[१] मध्यवर्गीय परिवार में चाहे खाने के लिए पैसा न हो, परन्तु विवाह के अवसर पर ऋण लेकर वह बाहरी साज सज्जा पर अवश्य खर्च करता है। रमानाथ के माध्यम से प्रेमचन्द ने समाज की इस प्रदर्शन-भावना का भण्डाफोड़ किया है। उस समय विधवाओं की बहुत बुरी दशा थी। पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति की कानूनी अधिकारिणी न होने के कारण वे असहाय हो जाती थीं। रतन का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। रतन और वकील के माध्यम से अनमेल विवाह कि समस्या को भी उठाया गया है। जोहरा वेश्याओं की समस्या पर प्रकाश डालती है उपन्यासकार के मतानुसार उचित अवसर मिलने पर ये वेश्याएँ सुधर भी सकती हैं। समाज में व्याप्त इन विभिन्न समस्याओं का चित्रण तत्कालीन देशकाल का सजीव चित्र प्रस्तुत करने में सहायक रहा है।

'गबन' में तत्कालीन धार्मिक स्थिति के भी संकेत हैं। बड़े-बड़े सेठ दिन भर कारखानों में मजदूरों पर अत्याचार करके धन कमाते थे और सन्ध्या के समय कम्बल, रोटी आदि का दान करके पुण्य प्राप्त करने का प्रयास करते थे। देवीदीन के शब्दों में "यदि साल में दो चार हजार दान न कर दें तो पाप का धन पचे कैसे।"[२] उस युग में आर्थिक वैषम्य भी बहुत था। रमेश के माध्यम से प्रेमचन्द जी इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—"यही रोटी दाल, घी दूध तो वह भी खाते हैं। फिर एक को तीस रुपये और दूसरे को तीन सौ क्यों देते हैं?"[३]

'गबन' में देश और काल की आन्तरिक अवस्था के चित्रण के साथ-साथ बाह्य प्रकृति और परिस्थिति का मनोरम वर्णन भी है। उपन्यास का आरम्भ ही प्रकृति के सुहावने चित्रण से होता है—"बरसात का दिन है, सावन का महीना। आकाश में सुनहरी घटाएँ छायी हुई हैं। रह रहकर रिमझिम वर्षा होने लगती है। अभी तीसरा पहर है, पर ऐसा मालूम हो रहा है, शाम हो गई है।......ये फुहारें मानो चिन्ताओं को हृदय से धो डालती हैं......धानी साड़ियों ने प्रकृति की हरियाली से नाता जोड़ा है।"[४]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गबन' में उपन्यासकार ने देशकाल के नियोजन की ओर उचित ध्यान दिया है। अपने युग के वातावरण को स्वाभाविक और सजीव रूप में प्रस्तुत करने में उसे पूर्ण सफलता मिली है।

भाषा-शैली

प्रेमचन्द की भाषा 'गबन' में सरल, स्पष्ट और प्रवाहयुक्त है। उसमें हिन्दी के तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ-साथ अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी के शब्दों को

१. गबन (संक्षिप्त), पृ० ३६
२-३-४. गबन (संक्षिप्त), पृ० १०४, २७, ३

भी यथा प्रसंग प्रयुक्त किया [illegible] यथा लेडी, एजेण्ट आदि अंग्रेजी शब्द तथा [illegible], कौम, खुदनसीब आदि उर्दू-फारसी के शब्द उपन्यास में इतने सहज रूप में आए हैं कि वे भाषा का एक आवश्यक अंग बन गए हैं। प्रेमचन्द की भाषा में भावों को अभिव्यक्त करने की अपूर्व क्षमता है। दार्शनिक विचारों को अभिव्यक्त करने में उनकी भाषा गम्भीर हो जाती है और सामान्य वार्त्तालाप के स्थलों पर सामान्य। भाषा में सजीवता लाने के लिए उन्होंने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है। छोटी-छोटी सुन्दर सूक्तियाँ तो अनेक स्थलों पर मिल जाएँगी। यथा—

(अ) "उत्कंठा की चरम सीमा ही निराशा है।"

(आ) "पूर्व जन्म के संस्कार केवल मन को समझाने की चीज हैं।"

प्रेमचन्द की भाषा में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का समावेश अनायास ही हो गया है। उनकी भाषा की सफलता उसके पात्रानुकूल होने में है। रमानाथ को पकड़ने का जब देवीदीन विरोध करता है तब एक ग्रामीण सिपाही कहता है—"जान परत है तुमहू मिले हौ, नांव काहे नहीं बतावत हो इनका !"[१] समग्र रूप से 'गबन' की भाषा सजीव, स्पष्ट, चित्रात्मक, अलंकारमयी, मुहावरेदार, वैविध्यमयी और पात्रानुकूल है। शैली की दृष्टि से भी इसमें विभिन्न शैलियों को अपनाया गया है। यथा—

(अ) आलंकारिक-शैली—"लहरें उन्मत्त होकर गरजतीं, मुँह से फेन निकालतीं, हाथों उछल रही थीं; चतुर फिकैतों की तरह पैंतरे बदल रही थीं... कहीं कोई झोंपड़ा डगमगाता तेजी से बहा जा रहा था, मानो कोई शराबी दौड़ा जा हो; कहीं कोई वृक्ष डाल-पत्री समेत डूबता-उतराता किसी पाषाण युग के जन्तु की भाँति तैरता चला जाता था।"[२]

(आ) चित्र शैली—"चैत्र की शीतल, सुहावनी, स्फूर्तिमयी सन्ध्या; गंगा का तट, टेसुओं से लहलहाता हुआ ढाक का मैदान, बरगद का छतनार वृक्ष, उसके नीचे बँधी हुई गायें और भैंसें, कद्दू और लौकी की बेलों से लहराती हुई झोंपड़ियाँ; न कहीं गर्द, न गुबार, न शोर न गुल—।"[३]

(इ) व्यंग्यमयी शैली—अपनी सखी के यह कहने पर कि एक चन्द्रहार ही तो नहीं है, बाकी तो सब कुछ है, जालपा उत्तर देती है—"हाँ, देह में एक आँख के न होने से क्या होता है ! और सब अंग तो हैं, आँखें हुईं तो क्या, न हुईं तो क्या ?"[४]

(ई) नाटकीय अथवा कथोपकथन की शैली—

"अम्माँजी, मुझे भी अपना सा हार बनवा दो।

माँ—वह तो बहुत रुपयों में बनेगा बेटी।

जालपा—तुमने अपने लिए बनवाया है, मेरे लिए क्यों नहीं बनवातीं ?

माँ ने मुस्कराकर कहा—तेरी ससुराल से आएगा।"[५]

१-२-३-४-५. गबन (संक्षिप्त), पृ० १३८, २०५, २०३, १०, ५

उद्देश्य

'गबन' की रचना में उपन्यासकार का प्रमुख उद्देश्य तद्युगीन समस्याओं की विवेचना करना रहा है। इस उपन्यास की रचना सन् १९३०-३१ के लगभग हुई थी। उस समय भारत परतन्त्र था और भारतीयों को अंग्रेजों का प्रत्यक्ष विरोध करने की अनुमति नहीं थी। ऐसे समय में लेखकवर्ग अपनी कृतियों के माध्यम से समाज को जागृत कर रहा था। 'ग़बन' में भी ऐसा ही प्रयास किया गया है। इसमें पुलिस के हथकण्डे, रिश्वत, दूषित न्याय व्यवस्था आदि राजनीतिक समस्याओं; आभूषण-प्रेम, मिथ्याप्रदर्शन, विधवा विवाह आदि सामाजिक समस्या तथा धन-वितरण के वैषम्य की आर्थिक समस्याओं का निरूपण हुआ है।

स्वस्थ जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति भी प्रेमचन्द का उद्देश्य है। व्यक्ति को अपनी चादर देखकर पाँव पसारने चाहिएँ, नहीं तो उसकी रमानाथ जैसी दुर्दशा होगी; पति-पत्नी में परस्पर निष्कपट व्यवहार होना चाहिए; अनमेल विवाह से पति-पत्नी में से कोई भी सुखी नहीं हो सकता; रिश्वत का धन सब बुराइयों की जड़ है—जीवन-दर्शन को व्यक्त करनेवाले इस प्रकार के अनेक संकेत 'ग़बन' में स्थान स्थान पर मिलते हैं। प्रेमचन्द जी, सेवा और परोपकार से पूर्ण, ग्रामीण किसान के जीवन में सच्चा सुख अनुभव करते हैं, इसीलिए उपन्यास के अन्त में रमानाथ और जालपा किसान का जीवन व्यतीत करते हैं। श्रम के महत्त्व का भी 'ग़बन' में प्रतिपादन हुआ है। रतन कहती है—"जो अपना पेट भी न पाल सके, उसे जीते रहने का दूसरों का बोझ बनने का कोई हक नहीं है।"[१]

प्रेमचन्द के समय में राष्ट्रीयता की भावना समाज में व्याप्त हो चुकी थी। प्रस्तुत उपन्यास में उसकी ओर संकेत करना भी उपन्यासकार का उद्देश्य रहा है। नारी-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचार भी 'ग़बन' में अभिव्यक्त हुए हैं। इन्द्रभूषण, रमेश बाबू सभी नारी की स्वतन्त्रता के समर्थक हैं। इस प्रकार 'ग़बन' की रचना में युगीन समस्याओं तथा जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द के मुख्य उद्देश्य रहे हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'ग़बन' औपन्यासिक तत्त्वों के सफल संयोजन की दृष्टि से सफल रचना है। इसका कथानक रोचक, सुसम्बद्ध और कौतूहल उत्पन्न करने में समर्थ है। उसमें कथात्मक एकता का अविच्छिन्न निर्वाह हुआ है। पात्रों का चरित्र-चित्रण अत्यन्त सजीव, स्वाभाविक और मानव-जीवन के अनुरूप हुआ है। कथोपकथन छोटे छोटे और सरस हैं। वे चरित्र-चित्रण और कथा विकास के सहायक सिद्ध हुए हैं। देश और काल का वर्णन तो इतना यथार्थ है कि तद्युगीन समाज का चित्र साकार हो उठता है। उपन्यास की सरल, स्पष्ट और मुहावरों से समृद्ध भाषा-शैली प्रत्येक प्रकार के भाव को वाणी देने में सक्षम रही है। युगीन (किन्तु आज में समाज में भी न्यूनाधिक रूप में मिलनेवाली) समस्याओं की पृष्ठभूमि में स्वस्थ जीवन-दर्शन के प्रतिपादन के कारण इस उपन्यास का स्थायी महत्त्व है। भाव और शिल्प की दृष्टि से इसमें उपन्यासकार की परिष्कृत अभिरुचि के दर्शन होते हैं।

———